प्राङ्मौर्य-बिहार

डा० देवसहाय त्रिवेद

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना



परिषद्-प्रकाशनों पर सम्मतियाँ

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

"यह पुस्तक भारतीय वाङ्मय के एक प्रकाण्ड विद्वान् (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी) की आलोचनाकृति है, जो गहन ऐतिहासिक गवेषणा और तथ्योद्‌घाटन से परिपुष्ट है। ××× इसमें हिन्दी के आदिकाल के विषय में बहुत-कुछ जानकारी मिलती है, जो उपादेय है। केवल विषय-सामग्री की दृष्टि से भी यह पुस्तिका हिन्दी-साहित्य के निर्माण में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ती है।"

मूल्य ३।) —डॉ० नगेन्द्र,

आॅल इण्डिया रेडियो, दिल्ली।

विश्वधर्मदर्शन

"प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वधर्मदर्शन की तुलनात्मक झाँकी है, जिसमें मुख्यतया भारतीय धर्मदर्शन के साथ विश्व के महत्त्वपूर्ण धर्मदर्शनों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। ×× धर्म और दर्शन के इतने व्यापक क्षेत्रकी एक ही स्थान पर सामग्री प्रस्तुत करनेवाली हिन्दी में तो यह अपने ढंग की सर्वप्रथम पुस्तक है ही, अँग्रेजी में भी अभी तक इस प्रकार की पुस्तक का अभाव बना हुआ है।

मूल्य १३॥) —'कल्पना',

हैदराबाद (दक्षिण)

यूरोपीय दर्शन

"स्वनामधन्य स्वर्गीय पाण्डेय रामावतारजी का 'यूरोपीय दर्शन' उनके काल तक की दृष्टि से अपने-आप में एक विशिष्ट मौलिक प्रयास रहा है, और उसी दृष्टि से उसका महत्त्व आज भी अक्षुण्ण है। उसे प्रकाशित कर परिषद् ने वास्तव में प्रशंसनीय कार्य किया है।"

मूल्य ३।) —'विक्रम', उज्जैन

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना—३

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन
पटना-३

प्रथम संस्करण वि० सं० २०११; सन् १९५४

मूल्य ६) : सजिल्द ७)

मुद्रक
हिन्दुस्तानी प्रेस,
पटना

मैंने डाक्टर देवसहाय त्रिवेद लिखित 'प्राङ्मौर्यबिहार' का प्रूफ पढा। भारतवर्ष का इतिहास खृष्टपूर्व सप्तम शती से, मगध-साम्राज्य के उत्थान से, आरम्भ होता है। इसके भी पूर्वकाल पर किसी प्रकार का ऐतिहासिक अनुसंधान और प्रकाश का विशेष महत्त्व है, जो हमें मगध-साम्राज्य से प्रायः सम्बद्ध शक्ति और संस्कृति को समझने में सहायक सिद्ध होगा। डाक्टर त्रिवेद की पुस्तक गहन अध्ययन का परिणाम है। यह हमारे उक्त प्राक्काल के ज्ञान-कोष में अभिवृद्धि करेगी।

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

२०-२-५४ राज्यपाल, उत्तरप्रदेश

वक्तव्य

"हम कौन थे !
क्या हो गए हैं !!
और क्या होंगे अभी !!!"

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने जो उपर्युक्त तीन समस्याएँ हमारे सामने रखी हैं, उनपर भारतेन्दु-युग से लेकर अबतक अनेकानेक इतिहास तथा साहित्य के ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं और होते जा रहे हैं। वस्तुतः अतीत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों अनवरत घूमनेवाले काल-चक्र के सापेक्ष रूप मात्र हैं। केवल विश्लेषण की दृष्टि से हम इन्हें पृथक् संज्ञाएँ देते हैं। कोई भी ऐसा वर्तमान विन्दु नहीं है जो एक ओर अनवरत प्रवहमाण अतीत की अविच्छिन्न धारा से जुड़ा हुआ नहीं है तथा जो दूसरी ओर अज्ञात भविष्य के अनन्त जलधि की लहरियों को चूमता नहीं है। तात्पर्य यह कि यदि हम किसी भी राष्ट्र या साहित्य के वर्तमान का रूप अपने हृदय-पटल पर अंकित करना चाहते हैं तो हमें अपने अतीत इतिहास का ज्ञान होना अनिवार्य है, और साथ-ही-साथ, अतीत और वर्तमान के समन्वय से जिस भविष्य का निर्माण होनेवाला है, उसकी कल्पना करने की क्षमता भी हममें होनी चाहिए।

विश्व की सतह पर कुछ ऐसे भी राष्ट्र उद्भूत हुए जो अपने समय में बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुए। उदाहरणतः असीरिया और बैबिलोनिया के राष्ट्र। किन्तु, ये राष्ट्र जाह्नवी की सततगामिनी धारा में क्षणभर के लिए उठनेवाले बुद्बुद के समान उठे और विलीन हो गये। इसका मुख्य कारण यह था कि इन राष्ट्रों की इमारत की नींव किसी गौरवान्वित अतीत के इतिहास की आधार-शिला पर नहीं थी। कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है कि—"यदि तुम किसी राष्ट्र का विनाश करना चाहते हो तो पहले तुम उसके इतिहास का विनाश करो।" भारतवर्ष, प्रागैतिहासिक सुदूर अतीत से चलकर, आज ऐतिहासिक क्रान्ति और उथल-पुथल के बीच भी, यदि अपना स्थान विश्व में बनाये रख सका है, तो इसका मुख्य कारण हमारी समझ में यह है कि उसके पास अपने अतीत साहित्य और इतिहास की ऐसी निधि है जो आज के तथाकथित अत्युन्नत पाश्चात्य देशों को उपलब्ध नहीं है।

वर्तमान युग में, विशेषतः सन् १८५७ के व्यापक राष्ट्रीय विप्लव के पश्चात्, भारतीयों में जो चेतना आई तो उन्होंने अपनी इस अतीतयुगीन निधि को भी, जिसे वे आत्मविस्मृति के द्वारा खो चुके थे, समझने-बूझने और सँभालने की चेष्टा आरम्भ की। अनेक विद्वानों ने प्राचीन साहित्य और प्राचीन इतिहास का न केवल गवेषणात्मक अध्ययन

आरम्भ किया, अपितु विश्व की विशाल इतिहास-परम्परा की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए उनकी तुलनात्मक विवेचना भी करनी शुरू कर दी।

डॉ॰ देवसहाय त्रिवेद का प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्राङ्मौर्य बिहार' इसी प्रकार की गवेषणा तथा विवेचना का प्रतीक है। विद्वान् लेखक ने हमारे इतिहास के ऐसे अध्याय को अपने अध्ययन का विषय चुना है, जो बहुत अंशों में धूमिल और अस्पष्ट है। मौर्यों के पश्चात्-कालीन इतिहास की सामग्री जिस प्रामाणिक रूप और जिस प्रचुर परिमाण में मिलती है, उस रूप और उस परिमाण में मौर्यों के पूर्वकालीन इतिहास की सामग्री दुष्प्राप है। अनेकानेक पुराण-ग्रन्थों में एतद्विषयक सामग्री बिखरी मिलती है अवश्य; किन्तु 'पुराण' मुख्यतः काव्य-ग्रन्थ हैं, न कि आधुनिक सीमित तिथिगत दृष्टिवाले इतिहास ग्रन्थ। अतः किसी भी अनुशील न-कर्त्ता को उस विपुल सामग्री का समुद्रमंथन करके उसमें से तथ्य और इतिहास के अद्भुतफलों को ढूँढ निकालना और उन्हें आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि-क्षितिज में यथास्थान सजाना अत्यन्त बीहड़ अध्यवसाय का कार्य है। डॉ॰ देवसहाय त्रिवेद ने इस प्रकार के अध्यवसाय का ज्वलन्त परिचय दिया है।

सायणाचार्य ने ऋग्वेद का भाष्य आरंभ करने के पहले जो उपक्रमणिका लिखी है, उसमें उन्होंने एक जगह बताया है कि "इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्"--अर्थात वेदों के अर्थ की व्याख्या तभी हो सकती है जब इतिहास और पुराण, दोनों का सहारा लिया जाय। सायणाचार्य की उक्ति से यह भी आशय निकलता है कि पुराण और इतिहास में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है; बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इतना ही नहीं, शायद दोनों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में डॉ॰ देवसहाय त्रिवेद ने सायणाचार्य की इस प्राचीन तथा दूरदर्शितापूर्ण उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि साहित्यिक अनुशीलन-जगत् में इस ग्रन्थ का समादर होगा।

धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

परिषद्-मंत्री

विषय-सूची

परिशिष्ट

प्रस्तावना

नत्वा नत्वा गुरोः पादौ स्मारं स्मारं च भारतीम् ।
विहार-वर्णनं कुर्मः साधो नत्वा पितुर्भृशम् ॥१॥
संदर्शिताः सुपन्थानः पूर्वैतिह्यविशारदैः ।
अयोरंध्रे तडिद्विद्धे तन्त्रीवास्तु सुखं गतिः ॥२॥
प्राचीनस्य विहारस्य महिमा केन न श्रुतः ।
द्वीपान्तरेषु लोकेषु सद्भिरद्यापि गीयते ॥३॥
इतिहासस्य सर्वस्वं धर्मो मुद्राभिलेखनम् ॥
आमनोर्नन्दपर्यन्तं त्रिवेदेनात्र कीर्त्तितम् ॥४॥
यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातनाः
यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
उन्मूलिता चात्र मति - विचक्षणा
नन्दन्तु नित्यं विमलाः सुहृज्जनाः ॥५॥

प्राचीन बिहार के इतिहास के अनेक पृष्ठ अभी तक घोर तिमिराच्छन्न हैं। जिस देश या जाति का इतिहास जितना ही प्राचीन होता है, उसका इतिहास भी उतना ही अंधकार में रहता है। जिस प्रकार पास की चीजें स्पष्ट दिखती हैं और दूर की धुँधली, ठीक वही दशा इतिहास की भी है। प्राचीन इतिहास की गुत्थियों को सुलझा देना, कोई सरल काम नहीं है। प्राचीन मगध या आधुनिक बिहार का इतिहास प्रायः दो सहस्र वर्षों तक सारे भारतवर्ष का इतिहास रहा है। बिहार ही भारतवर्ष का हृदय[1] था और यह उक्ति अब भी सार्थक है; क्योंकि यहीं साम्राज्यवाद, गणराज्य, वैराज्य, धर्मराज्य और एकराज्य का प्रादुर्भाव हुआ। यहीं संसार के प्रसिद्ध धर्म, यथा-- व्रात्य, वैदिक, जैन, बौद्ध, वीर सिक्ख धर्म, दरियापंथ तथा लश्करीपंथ का अभ्युदय हुआ। आजकल भी यहाँ के विभिन्न खनिज तथा विविध उद्योगों ने इसे भारतवर्ष की नाक बना दिया है। यहाँ अनेक मठ, मन्दिर और विहारों के अवशेष भरे पड़े हैं। यहीं भारतीय इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन की प्रचुर सामग्री है, जो संभवतः अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकती है। विक्रम-पूर्व प्रथम शती में सातवाहनों की मगध-विजय के पूर्व मगध की तूती सारे भारतवर्ष में बोलती[2] थी। महापद्मनन्द के काल से उत्तरापथ के सभी राष्ट्र मगध का

---

१. सर जान हुल्टन लिखित 'विहार दी हार्ट आफ इण्डिया', लांगमन एण्ड को०, १६४६, भूमिका।

२. राखालदास बनर्जी-लिखित 'एज आफ इम्पिरियल गुप्त,' १६३३, पृ० ५। आन्ध्रवंश की स्थापना की विभिन्न तिथियाँ इस प्रकार हैं---हेमचन्द्र रायचौधरी विक्रम-संवत् २६ ; राम गोपाल भंडारकर विक्रमपूर्व १६ ; रैपसन वि० पू० १४३ ; विंसेंट आर्थर स्मिथ वि० पू० १८३ तथा वेंकटराव वि० पू० २१४। देखें जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भाग २७, पृ० २४३।

लोहा मानते थे तथा इसकी राजधानी पाटलिपुत्र सारे भारतवर्ष का प्रमुख नगर समझा जाता था। लोग पेशावर से भी अपने पाण्डित्य की परीक्षा देने के लिए यहाँ आते थे और उत्तीर्ण होकर विश्वविख्यात होते थे।

मगध की धाक सर्वत्र फैली हुई थी। विजेता सिकन्दर की सेना भी मगध का नाम ही सुनकर थर्राने लगी और सुदूर से ही भाग खड़ी हुई थी। कहा जाता है कि मगध के एक राजा ने सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस की कन्या का पाणिपीडन किया और दहेज के रूप में एशिया की सुरम्य भूमि को भी हथिया लिया। यद्यपि आन्ध्रों के समय मगध और पाटलिपुत्र का प्रताप तथा प्रकाश मन्द हो गया था, तथापि गुप्तों के समय वह पुनः जाज्वल्यमान हो गया। समुद्रगुप्त ने शाही शाहानुशाही शक मुरण्ड नरेशों को करद बनाया। इसने सारे भारतवर्ष में एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। दूर-दूर के राजा उपायन के रूप में अपनी कन्या लेकर पहुँचते थे। इसका साम्राज्य वंक्षु (Oxus) नदी तक पश्चिम में फैला था। प्रियदर्शी राजा ने सारे संसार में धर्मराज्य फैलाना चाहा।

प्राङ् मौर्य काल

काशी, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों में जबसे प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन का प्रयास किया गया, तबसे अनेक विद्वानों के अथक परिश्रम से इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है। फिर भी आजकल इतिहास का साधारण विद्यार्थी समझता है कि भारतवर्ष का इतिहास शैशुनाग अजातशत्रु के काल से अथवा भगवान् बुद्ध के काल से प्रारंभ होता है। इसके पूर्व का इतिहास गप्प और बकवास हैं।

वैदिक साहित्य प्रधानतः यज्ञस्तुति और दर्शन-तत्त्वों का प्रतिपादन करता है। यद्यपि इसमें हम राजनीतिक इतिहास या लौकिक घटनाओं की आशा नहीं करते, तथापि यह यत्रतत्र प्रसंगवश अनेक पौराणिक कथाओं का उल्लेख और इतिहास का पूर्ण समर्थन करता है। अतः हमें बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता है कि अनेक प्राङ् महाभारत-वंश, जिनका पुराणों में वर्णन है, शैशुनाग, मौर्य और आन्ध्रवंशी राजाओं के समान ही ऐतिहासिक हैं। जिस प्रकार शैशुनाग, मौर्य और आन्ध्रों का वर्णन पुराणों में मिथ्या नहीं माना जाता, उसी प्रकार प्राङ् महाभारत वंशों का वर्णन मिथ्या[1] नहीं हो सकता। इस काल का इतिहास यदि हम तात्कालिक स्रोतों के आधार पर तैयार करें तो हम इतिहासकार के पद से च्युत न समझे जायेंगे। पार्जिटर ने इस क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया है। नारायण शास्त्री की भी देन कुछ कम नहीं कही जा सकती। अभी हाल में रामचन्द्र दीक्षितार ने पुराण-कोष, केवल पाँच पुराणों के आधार पर तैयार किया था, जिसके केवल दो खण्ड ही अभी तक मद्रास-विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो सके हैं।

बिहार की एकता

बिहार प्रान्त की कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। सुदूर अतीत में काशी से पूर्व और गंगा से दक्षिण आसमुद्र भूमि करुष देश के नाम से प्रसिद्ध थी। गंगा के उत्तर में नाभानेदिष्ट ने वैशाली साम्राज्य की स्थापना की और उसके कुछ काल बाद विदेह राज्य या

---

१. क्या हम प्राग भारत इतिहास की रचना कर सकते हैं? डाक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर का अभिभाषण, कलकत्ता इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९३९, पृष्ठ १९।

मिथिला की स्थापना हुई। वैशाली साम्राज्य के विनाश होने पर वह मिथला का एक अंग मात्र रह गया। कालान्तर में वैशाली के लोगों ने एक गणराज्य स्थापित किया और उनके पूर्व ही मल्लों ने भी अपना गणराज्य स्थापित कर लिया था।

गंगा के दक्षिण भाग पर अनेक शतियों के बाद पश्चिमोत्तर से आनववंशी महामनस् ने आक्रमण किया तथा मालिनी को अपनी राजधानी बनाया। बाद में इसका राज्य अंग के नाम से और राजधानी चम्पा के नाम से ख्यात हुई। कुछ शती के बाद चेदी प्रदेश के चन्द्रवंशी राजा उपरिचर वसु ने चम्पा प्रदेश के सारे भाग को अधिकृत किया और बार्हद्रथ वंश की स्थापना हुई। जरासन्ध के प्रताप की आँच मथुरा से समुद्रपर्यन्त धधकती थी। इसने सैकड़ों राजाओं को करद बनाया था, जिनका उद्धार श्रीकृष्ण ने किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर बिहार में क्रमशः वैशाली साम्राज्य, विदेहराज्य, मल्लराष्ट्र और लिच्छवी गणराज्य का दबदबा रहा। इसी प्रकार दक्षिण बिहार में भी क्रमशः करुष, अंग और मगध का सूर्य चमकता रहा। अन्त में मगध ने आधुनिक बिहार, बंगाल और उड़ीसा को भी एकच्छत्र किया। प्राचीन भारतीय सभी राजा अपनी प्रभुता स्वीकार कराने के लिए दिग्विजय यात्रा करते थे और अपनेको धर्मविजयी[1] घोषित करने में प्रतिष्ठा समझते थे। इसी प्रकार सारे भारतवर्ष के राजा यथासमय अपना पराक्रम दिखाने निकलते थे, जिससे सेना सतत जागरूक रहे। बिम्बिसार ने ही सारे बिहार को एकसूत्र में बाँधा और अजातशत्रु ने इस एकता को दृढ किया। उस समय बंगाल का नाम भी नहीं था। स्यात् महापद्मनन्द ही प्रथम असुर विजयी था, जिसने अपने समय के सभी राजाओं को समूल नष्ट किया और सारे भारतवर्ष में एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। उस काल से मगध का छत्र ही चिरकाल तक सारे भारतवर्ष का छत्र रहा तथा मगध के राजा और प्रजा का अनुकरण[2] करने में लोग अपनी प्रतिष्ठा समझते थे।

रामायण काल में शोणनदी राजगृह के पास बहती थी। एक भारतीय मुद्रा से ज्ञात होता है कि राजगृह गंगा और शोण के संगम[3] पर था। संभवतः जलाभाव के ही कारण राजगृह को छोड़कर शैशुनागों ने पाटलिपुत्र को राजधानी के लिए चुना।

ग्रन्थ-विश्लेषण

मोटे तौर पर हम इस ग्रन्थ को तीन खंडों में बाँट सकते हैं।

प्रथम खंड में प्राचीन बिहार की भौगोलिक व्यवस्था का दिग्दर्शन है और साथ ही इसके मानवतत्त्व, भूतत्त्व और धर्म का वर्णन है। इन बातों को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है कि भारत के आदिवासियों का धर्म किसी प्रकार भी आर्य-धर्म के विपरीत नहीं है। दूसरे अध्याय में वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन और परम्पराओं का मूल्यांकन है, जिनके

---

१. वल्लभ अपनी टीका (रघुवंश ४-४३) में कहता है कि धर्मविजयी, लोभविजयी और असुर-विजयी तीन प्रकार के विजेता होते हैं। धर्मविजयी राजा से प्रभुता स्वीकार कराकर उसे ही राज्य दे देता है। लोभविजयी उससे धन हड़पता है और असुरविजयी उसका सर्वस्व हड़प लेता है तथा राजा की हत्या करके उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लेता है।

२. राखालदास बनर्जी पृ० ५।

३. अथक परिश्रम करने पर भी न जान सका कि यह मुद्रा कहाँ प्रकाशित है।

आधार पर इस ग्रन्थ का आयोजन हुआ। तीसरा अध्याय महत्त्वपूर्ण है जहाँ आर्य और व्रात्य-सभ्यता का विश्लेषण है। आर्य भारत में कहीं बाहर से नहीं आये। आर्यों का भारत पर आक्रमण की कल्पना किसी उर्वर मस्तिष्क की उपज है। आर्य या मनुष्य का प्रथम उद्गम मुलतान (मूलस्थान) में सिन्धु नदी के तट पर हुआ, जहाँ से वे सारे संसार में फैले। इन्हीं आर्यों का प्रथम दल पूर्व दिशा की ओर आया और इस प्राची में उसी ने व्रात्य-सभ्यता को जन्म दिया। कालान्तर में विदेघ माथव की अध्यक्षता में आर्यों का दूसरा दल पहुँचा और वैदिक धर्म का अभ्युदय हुआ। आर्यों ने व्रात्यों को अपने में मिलाने के लिए व्रात्यस्तोम की रचना की। यह स्तोम एक प्रकार से शुद्धि की योजना थी, जिसके अनुसार आर्यधर्म में आबालवृद्धवनिता सभी विधार्थियों को दीक्षित कर लिया जाता था। आधुनिक युग में इस अध्याय का विशेष महत्त्व हो सकता है।

द्वितीयखण्ड में बिहार के अनेक वंशों का सविस्तर वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में प्राङ्मौर्य स्रोतों में इन वंशों का उल्लेख ढूँढ़ निकाला गया है, जिससे कोई इनकी प्राचीनता पर संदेह न करे। करुष और कर्कखण्ड (झारखण्ड) के इतिहास से स्पष्ट है कि यहाँ के आदिवासी सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं जो अपने भ्रष्ट विनयाचार और विहार के कारण पतित हो गये। अपनी परम्परा के अनुसार इनकी उत्पत्ति अजनगर या अयोध्या से हुई, जहाँ से करुष की उत्पत्ति कही जाती है। खरवार, ओरॉव और मुण्ड इन्हीं करुष क्षत्रियों की संतान हैं। स्वर्गीय शरच्चन्द्र राय ने इन दो अध्यायों का संशोधन अच्छी तरह किया था और उन्होंने संतोष प्रकट किया था। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही कर्कखण्ड और मगधराज में गाढ़ मैत्री थी और लोग आपस में सदा एक दूसरे की सहायता के लिए तत्पर रहते थे। कर्कखण्ड या छोटानागपुर का पुरातत्त्व अध्ययन महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि पुरातत्त्वविभाग ने इस विषय पर ध्यान कम ही दिया है। यहाँ की सभ्यता मोहन-जो-दड़ो से मिलती-जुलती है। अन्तर केवल मात्रा का है।

सप्तम अध्याय में पुराणों के आधार पर वैशाली के महाप्रतापी राजाओं का ऐतिहासिक वर्णन है। सर्वत्र अतिशयोक्तियों को छाँटकर अलग कर दिया गया है। पुराण-कथित उक्त राजवर्ष को प्राङ्महाभारत राजाओं के सम्बन्ध में प्रधानता नहीं दी गई है; क्योंकि इन उक्त राजवर्षों को देखकर इतिहासकार की बुद्धि चकरा जाती है। अतः प्रतिराज मध्यमान का अवलम्ब लेकर तथा समकालीनता का आधार लेकर इन्हें ऐतिहासिक स्थान देने का प्रयत्न है। काशीप्रसाद जायसवाल का 'हिन्दू पालिटी' लिच्छवी गणराज्य पर विशेष प्रकाश डालता है। आधुनिक भारतीय सर्वतंत्रस्वतंत्र जनतंत्र के लिए लिच्छवियों की गणतंत्र समता, बन्धुता, स्वतंत्रता, सत्यप्रियता, निष्ठा तथा भगवान् बुद्ध का लिच्छवियों को उपदेश आदर्श माना जा सकता है। लिच्छवी और वृजि शब्दों की नूतन व्याख्या की गई है और गाँधीवाद का मूल खनित्र की दैनिक प्रार्थना में झलकती है। मल्लराष्ट्र अपनी प्रतिभा पराक्रम के सामने किसी को अपना सानी नहीं समझता था। मल्लों ने भी राज्यवाद को गणराज्य में परिवर्तन कर दिया। विदेहराज्य का वर्णन वैदिक, पौराणिक और जातकों के आधार पर है। महाभारत युद्ध के बाद जिन २८ राजाओं ने मिथिला में राज्य किया, वे अभी तक विस्मृति-सागर में ही हैं। मिथिला की विद्वत्परम्परा तथा स्त्री-शिक्षा का उच्च आदर्श ख्यात हैं।

बारहवें अध्याय में कीकट प्रदेश का वर्णन है। लोगों में स्मृति की धारणा को निर्मूल करने का यत्न किया गया है कि वैदिक-परम्परा के अनुसार मगधदेश कलुषित न था। प्राची ही सभी विशिष्ट सभ्यताओं, संस्कृतियों, धर्मों और परम्पराओं का मूल है। केवल बौद्ध और जैन, अवैदिक धर्मों के उत्थान के कारण, इन प्रदेशों में तीर्थयात्रा के विना यात्रा निषिद्ध को गई थी। मगध-साम्राज्य का वर्णन सविस्तार है। यह साम्राज्य महाभारत युद्ध से भी पूर्व आरंभ होता है और बृहद्रथ ने अपने नाम से वंश का नाम चलाया और राज्य आरंभ किया। महाभारत युद्ध के बाद भी बृहद्रथ-वंश के राजाओं ने १००१ वर्ष राज्य किया, यद्यपि प्रधान, जायसवाल तथा पार्जिटर के अनुसार इस वंश के कुल ३२ राजाओं ने क्रमशः ६३८, ६६३ और ६४० ही वर्ष राज्य किया। त्रिवेद के मत की पुष्टि पुनर्निर्माण सिद्धान्त से अच्छी तरह होती है। अभी तक प्रद्योतवंश को शैशुनागवंश का एक पुच्छला ही माना जाता था और इस वंश को उज्जयिनी का वंशज मानते थे। लेखक ने साहस किया है और दिखलाया है कि ये प्रद्योतवंशी राजा मगध के सिवा अन्यत्र के हो ही नहीं सकते। शैशुनाग वंश के इतिहास पर जायसवालजी ने बहुत प्रकाश डाला है और तथाकथित यक्षमूर्तियों को राजमूर्तियाँ सिद्ध करने का श्रेय उन्हीं को है। प्रकृत ग्रन्थ में सभी मतमतान्तरों का पूर्ण विश्लेषण किया गया है। नन्दपरीक्षिताभ्यन्तर काल में इस लेखक ने नया मार्ग खोज निकाला है और प्रचलित सभी मतमतान्तरों का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है कि परीक्षित के जन्म और नन्द के अभिषेक का अन्तर काल १५०१ वर्ष के सिवा अन्य हो ही नहीं सकता। ज्योतिगणना तथा पाठविश्लेषण भी हमें इसी निर्णय पर पहुँचाते हैं। यह अभ्यन्तर काल का सिद्धान्त भी प्रद्योतों का मगध में ही होना सिद्ध करता है। नन्दवंश ने तो सारे भारतवर्ष को रौंद डाला और इसी वंश के अन्तिम अल्पबल राजाओं को क्षत्रिय मौर्यों ने ब्राह्मण चाणक्य की सहायता से पुनः भूँज डाला।

तृतीयखण्ड में बिहार के धार्मिक, सांस्कृतिक स्थान, साहित्य और विभिन्न धार्मिक पराम्पराओं का विश्लेषण है। उन्नीसवें अध्याय में यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि अधिकांश वैदिक साहित्य की जन्मभूमि बिहार ही है न कि पञ्चनदभूमि, कुरुक्षेत्र या प्रयाग। यह सिद्धान्त ऊटपटांग भले ही प्रतीत हो; किन्तु अन्य नीरक्षीर विवेकी पण्डित भी इस विषय के गूढाध्ययनसे इसी तत्त्व पर पहुँचेंगे। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम लाहौर में डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप की अध्यक्षता में ओरियंटलकालिज में वि० सं० २००१ में प्रतिपादित किया गया था। बाद के अध्ययन से इसकी पूरी पुष्टि ही हुई है। यंत्र-तंत्र वैदिककाल से कम प्राचीन नहीं, यद्यपि तंत्रग्रन्थ वैदिक ग्रन्थ की अपेक्षा अति अर्वाचीन हैं। बिहार के तंत्रपीठों का संक्षिप्त ही वर्णन दिया गया है। इक्कीसवें अध्याय में स्पष्ट है कि किस प्रकार वैदिकों के कठिन ज्ञान और यज्ञ प्रधान धर्म के विद्रोहस्वरूप कर्ममार्ग का अवलम्बन वैदिक-विरोधी पंथों ने बतलाया। जैनियों ने तो अहिंसा और न्याय को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इसका दिग्दर्शन बाइसवें अध्याय में है। यद्यपि भगवान् बुद्ध का काल विवादास्पद है, तथापि केवल काम चलाने के लिए सिंहल द्वीपमान्य ५४३ खृष्ट पूर्व कलि-संवत् २५५८ ही बुद्ध का निर्वाणकाल मान लिया गया है। तत्कालीन अनेक नास्तिक धर्म-परम्पराओं का उल्लेख अन्तिम अध्याय में है।

परिशिष्ट

इस ग्रन्थ में पांच परिशिष्ट हैं। यह सर्वविदित है कि आधुनिक वैदिक संहिताओं और पुराणों का नूतनरूप परम्परा के अनुसार द्वैपायन वेदव्यास ने महाभारत युद्ध-काल के बाद दिया ; अतः वैदिक संहिता में यदि युगसिद्धान्त का पूर्ण विवेचन नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। युगसिद्धान्त की परम्परा प्राचीन और वैदिक है और ज्योतिःशास्त्र की भित्ति पर है। महाभारत का युद्ध भारतवर्ष के ही नहीं, किन्तु संसार के इतिहास में अपना महत्त्व रखता है। इस युद्ध का काल यद्यपि खृष्टपूर्व ३१३७ वर्ष या ३६ वर्ष कलिपूर्व है, तथापि इस ग्रन्थ में युद्ध को खृष्टपूर्व १८६७ या कलिसंवत् १२४४ ही माना गया है; अन्यथा इतिहास रचना में अनेक व्यतिक्रम उपस्थित हो सकते थे। प्राप्त पौराणिक वंश में अयोध्या की सूर्यवंश-परम्परा अतिदीर्घ है। अतः इन राजाओं का मध्यमान प्रतिराज १८ वर्ष मान कर उनके समकालिक राजाओं की सूची प्रस्तुत है, जिससे अन्य राजाओं का ऐतिहासिक क्रम ठीक बैठ सके। यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य वंशों में या सूर्यवंश में ही उपलब्ध राजाओं की संख्या यथातथ्य है। उनकी संख्या इनकी अपेक्षा बहुत विशाल होगी ; किन्तु हमें तो केवल इनके प्रमुख राजाओं के नाम और वे भी किसी दार्शनिक भाव को लक्ष्य करके मिलते हैं। मगध राजवंश की तालिका से (परिशिष्ट-घ) हमें सहसा इन राजाओं के काल का ज्ञान हो जाता है तथा प्राचीनमुद्रा हमें उस अतीतकाल के सामाजिक और आर्थिक अध्ययन में विशेष सहायता दे सकती है। अभी इन मुद्राओं का ठीक-ठीक विश्लेषण संभव नहीं जब तक ब्राह्मीलिपी और मोहनजोदड़ो लिपि की अभ्यन्तर लिपि का रहस्य हम खोज न निकालें। पुराणमुद्राओं का यह अध्ययन केवल रेखामात्र कहा जा सकता है।

कृतज्ञता

इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन में मुझे भारतवर्ष के विभिन्न भागों के धुरंधर विद्वानों का सहयोग, शुभकामना और आशीर्वाद मिले हैं। स्थानाभाव से नामों की केवल सूची देना उचित प्रतीत नहीं होता। इसका श्रेय सर्वमंगलकर्त्ता बुद्धिदाता गुरु साक्षात् परब्रह्म को ही है, जिनकी अनुकम्पा से इसकी रचना और मुद्रण हो सका।

इस ग्रंथ में मैंने विभिन्न स्थलों पर महारथी और धुरंधर-इतिहासकार और पुरातत्त्व-वेत्ताओं के सर्वमान्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल भी अपना अभिमत प्रकट किया है। विभिन्न प्रवाह से ऐतिहासिक सामग्री के संकलन का यह अवश्यम्भावी फल है। हो सकता है, मैं भ्रम से अंधकार में भटक रहा हूँ। किन्तु मेरा विश्वास है कि—'संपत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' मैं तो फिर भी विद्वज्जनों से केवल प्रार्थना करूँगा—तमसो मा ज्योतिर्गमय।

शिवरात्रि,
वैक्रमाब्द-२०१०

—देवसहाय त्रिवेद

प्राङ्मौर्य बिहार

प्रथम अध्याय

भौगोलिक व्यवस्था

आधुनिक बिहार की कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है। इसकी सीमा समयानुसार बदलती रही है। प्राचीन काल में इसके अनेक राजनीतिक खंड थे। यथा—करूष, मगध, कर्कखण्ड, अंग, विदेह, वैशाली और मल्ल। भौगोलिक दृष्टि से इसके तीन भाग स्पष्ट हैं—उत्तर बिहार की निम्न आर्द्र भूमि, दक्षिण बिहार की शुष्क भूमि तथा उससे भी दक्षिण की उपत्यका। इन भूमियों के निवासियों की बनावट, भाषा और प्रकृति में भी भेद है। आधुनिक बिहार के उत्तर में नेपाल, दक्षिण में उड़ीसा, पूर्व में बंग तथा पश्चिम में उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश हैं।

बिहार प्रान्त का नाम पटना जिले के 'बिहार' नगर के कारण पड़ा। पाल राजाओं के काल में उदन्तपुरी,[1] जहाँ आजकल बिहारशरीफ है, मगध की प्रमुख नगरी थी। मुसलमान लेखकों ने असंख्य बौद्ध-विहारों के कारण इस 'उदन्तपुरी' को बिहार[2] लिखना आरंभ किया। इस नगर के पतन के बाद मुस्लिम आक्रमणकारियों ने पूर्व देश के प्रत्येक पराजित नगर को बिहार में ही सम्मिलित करना आरंभ किया। बिहार प्रान्त का नाम सर्वप्रथम 'तबाकत-ए-नासिरी'[3] में मिलता है, जो प्रायः १३२० वि० सं० के लगभग लिखा गया।

कालान्तर में मुस्लिम लेखकों ने इस प्रदेश की उर्वरता और सुखद जलवायु के कारण इसे निरन्तर वसन्त का प्रदेश समझकर बिहार [बहार (फारसी) = वसन्त] समझा। महाभारत[4]

---

१. तिब्बती भाषा में ओडन्त, ओटन्त और उड्डयन्त रूप पाये जाते हैं। चीनी में इसका रूप ओतन्त होता है, जिसका अर्थ उच्च शिखरवाला नगर होता है। दूसरा रूप है उद्दण्डपुरी —जहाँ का दण्ड (राज दण्ड) उठा रहता है अर्थात् राजनगर।

इस सुझाव के लिए मैं डा० सुविमलचन्द्र सरकार का अनुगृहीत हूँ।

२. बख्त-सूयिदर अत खजान आयद। रस्त-चून-बुतपरस्त सू यि बहार॥ (ब्राउन २·२४)।

(भाग्य फिसलते-फिसलते तुम्हारे देहली पर आता है जिस प्रकार मूर्तिपूजक बहार जाता है।)

वि० सं० १२३७ में उत्पन्न गंज के—वामी के भाई का लिखा शेर (पद्य)। ब्राउनकृत फारस का साहित्यिक इतिहास, भाग-२, पृष्ठ-४७।

३. मौलाना मिनहाज-ए-सिराज का एशिया के 'मुस्लिमवंश का इतिहास, हिजरी १६४ से ६५८ हिजरी तक, रेवर्टी का अनुवाद पृ०-५२०।

४. महाभारत २-२१-२

में गिरिव्रज के वैहार, विपुल, वराह, वृषभ एवं ऋषिगिरि, पाँच कूटों का वर्णन है। मत्स्य[१] सूक्त में बेहार एक प्रदेश का नाम माना गया है जहाँ भद्रकाली की १८ भुजाओं की मूर्त्ति[२] बनायी जानी चाहिए।

उत्तर बिहार की भूमि प्रायः नदियों की लाई हुई मिट्टी से बनी है। यह नदियों का प्रदेश है, जहाँ असंख्य सरोवर भी हैं। वैदिककाल से इस भूमि की यही प्रवृत्ति रही है। शतपथ ब्राह्मण[३] में सदा बहनेवाली 'सदानीरा' नदी का वर्णन है। गंगा और गण्डक के महासंगम[५] का वर्णन वाराहपुराण[४] में है। कौशिकी की दलदल का वर्णन वाराह पुराण करता है। प्राचीन भारत में वैशाली[६] एक बन्दरगाह था, जहाँ से लोग सुदूर तक व्यापार के लिए जाते थे। वे वंगोपसागर के मार्ग से सिंहल द्वीप[७] भी पहुँचते, वहाँ बस जाते और फिर शासन करते थे। लिच्छवियों की नाविक शक्ति से ही भयभीत होकर मगधवासियों ने पाटलिपुत्र में भी देखा-देखी बन्दरगाह बनाया।

दक्षिण बिहार

शोण नद को छोड़कर दक्षिण बिहार की बाकी नदियों में पानी कम रहता है। शोण की धारा प्रायः बदलती रहती है। संभवतः पटने से पूर्व-दक्षिण की ओर बहनेवाली 'पुनपुन' की धारा ही पहले शोण की धारा थी। रामायण इसे मागधी नाम देती है। यह राजगिरि के पाँच शैलों के चारों ओर सुन्दर माला[८] की तरह चक्कर काटती थी। नन्दलालदे[९] के विचार से यह पहले राजगिर के पास बहती थी और आधुनिक सरस्वती ही इसकी प्राचीन धारा थी। बाद में यह फल्गु[१०] की धारा से मिलकर बहने लगी। 'अमरकोष' में इसे 'हिरण्यवाह' कहा गया है। दक्षिण बिहार की नदियाँ प्रायः अन्तःसलिला हैं जो बालुका के नीचे बहती हैं। इस मगध में गायें और महुआ के पेड़ बहुत हैं। यहाँ के गृह बहुत सुन्दर होते हैं। यहाँ जल की बहुतायत है तथा यह प्रदेश[११] नीरोग है।

---

१. बेहारे चैव श्रीहट्टे कोसले शवकर्णिके। अष्टादश भुजाकार्या माहेन्द्रे च हिमालये॥ पटल ५०।

२. गोपीनाथ राव, मद्रास, का हिन्दू मूर्तिशास्त्र, भाग १, पृ०-३५७।

३. शतपथ ब्रा० १'४'१'१४।

४. वाराह पुराण, अध्याय १४४।

५. वही ,, १४०।

६. रामायण १-४५-६।

७ तुलना करें सिंहल के बड्डु से, इसका धातु रूप तथा बहुवचन भी बडि है। इसका संबंध पालि वज्जि(=वहिष्कृत) से संभव दीखता है। बुद्धिस्टिक स्टडीज, विमलचरण लाहा सम्पादित, पृ० ७१८।

८. रामायण १-३२-९ पञ्चानां शैल पुण्यानां मध्ये मालेव राजते।

९. दे का भौगोलिक कोष, पृ०-६६।

१०. अग्निपुराण, अध्याय २१९।

११. महाभारत २-२१-३१-२—तुलना करें—
देशोऽयं गोधनाकीर्णं मधुमन्तं शुभद्रुमम्॥

छोटानागपुर

छोटानागपुर की भूमि बहुत पथरीली है। यहाँ की जमीन को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँटकर खेत बनाये जाते हैं। ये खेत सूप के समान मालूम होते हैं; भिक्षुओं के पेवन्ददार भूल के समान ये मालूम होते हैं। यहाँ कोयला, लोहा, ताम्बा और अभ्रक की अनेक खानें हैं। संभवतः इसी कारण कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] में खनिज व्यवसायों पर विशेष ध्यान देने को कहा गया है, क्योंकि मगध में पूर्व काल से ही इन खनिजों का व्यवहार होता था। ललितविस्तर[2] में मगध का भव्य वर्णन है।

बाण कहता[3] है —

वहाँ भगवान् पितामह के पुत्र ने महानद हिरण्यवाह को देखा जिसे लोग शोण के नाम से पुकारते हैं। यह आकाश के नीचे ही वरुण के हार के समान, चन्द्रालोक के अमृत बरसानेवाले सोने के समान, विन्ध्यपर्वत के चन्द्रमणि निष्यन्द के समान, दंडकवन के कपूर के वृक्षों के समूह से बहनेवाला, अपने सौन्दर्य से सभी दिशाओं को सुवासित करनेवाला, स्फटिक पत्थरों की सुन्दर शय्या से युक्त आकाश की शोभा को बढ़ानेवाला, स्वच्छ कार्तिक मास के निर्मल जल से परिपूर्ण विशाल नद अपनी शोभा से गंगा की शोभा को भी मात कर रहा था। इसके तट पर सुन्दर मयूर के-के शब्द कर रहे थे, इसकी बालुका पर फूलों की पंखड़ियाँ और गुलाबों के वृक्षों की लताएँ शोभती थीं। इन फूलों के सुवायु से मत्त होकर भौंरें किलोल करते थे और इसके किनारे पर गुंजार हो रहा था। इसके तट पर बालुका के शिवलिंग तथा मंदिर बने थे, जहाँ भक्ति से पाँचों देवताओं की मुद्रा सहित पूजा की जाती थी और यहाँ निरन्तर गीत गाये जाते थे।

छोटानागपुर का नाम[4] छुटिया नागपुर के नाम से पड़ा। यह राँची के पास ही एक छोटा-सा गाँव है, जहाँ छोटानागपुर के नागवंशी राजा रहते थे। पहले इस गाँव का

---

१. अर्थशास्त्र २।२; एंसियंट इण्डिया में मिनरोलाजी एंड माइनींग, जर्नल बिहार-रिसर्च-सोसाइटी, भाग ८८; पृ० २६६-८४, राय लिखित।

२. ललितविस्तर, अध्याय १७ पृ० २४८।

३. हर्षचरित प्रथम उच्छ्वासः, पृ० १६ (परब संस्करण) अपश्यच्चाम्बरतलस्थितैव हारमिव वरुणस्य, अमृतनिर्झरमिव चन्द्राचलस्यशशिमणिनिष्यन्दमिव विन्ध्यस्य, कर्पूरद्रुमद्रवप्रवाहमिव दंडकारण्यस्य लावण्यरसप्रस्रवणमिव दिशां स्फाटिकशिलापट्टशयनमिवाम्बरश्रियः स्वच्छशिशिरसुरसवारिपूर्णं भगवतः पितामहस्यापत्यं हिरण्यवाहनामानं महानदं यं जनाः शोण इति कथयन्ति। मधुरमयूरविरुतयः कुसुमपांशुपटलसिकतिलतरुतलाः परिभ्रमत्तमधुपवेणीवीणारणितरमणीया रमयन्ति मां मन्दीकृतमंदाकिनीद्युतेरस्य महानदस्योपकंठभूमयः। पुलिन पृष्ठप्रतिष्ठितसैकतशिवलिंगा च भक्तया परमया पञ्चब्रह्मपुरःसरां सम्यङ्मुद्राबन्धविहितपरिकरां ध्रुवागीतिगर्भामवनिपवनगगनदहनतपनतुहिनकिरणयजमानमयीमूर्तीरष्टावपि ध्यायन्ती सुचिरमष्टपुष्पिकामदात्।

४. राँची जिला गजेटियर, पृ० २४४।

नाम छुटिया या चुटिया था। शरच्चन्द्र राय के विचार[1] में छोटानागपुर नाम अति अर्वाचीन है और यह नाम अँगरेज-शासकों ने मध्यप्रदेश के नागपुर से बिल्कुल अलग रखने के लिए दिया। काशीप्रसादजायसवाल के मत[2] में आंध्रवंश की एक शाखा 'छुट्ट राजवंश' थी। छुट्ट शब्द संस्कृत छुरट् से बना है, जिसका अर्थ ठूँठ या छोटा होता है। यह आजकल के छुटिया नागपुर में पाया जाता है।

यहाँ की पर्वतश्रेणियों के नाम अनेक हैं—इन पहाड़ियों में कैरमाली (=कैमूर), मौली (=रोहतास), स्खलतिका[3] (=बराबर पहाड़), गोद्रथगिरि (=बथानी का पहाड़), गुरुपाद गिरि (=गुरपा); इन्द्रशिला (=गिरियक), अन्तर्गिरि (=खड़गपुर), कोलाचल और मुकुल पर्वत प्रधान हैं। सबसे उच्च शिखर का नाम पार्श्वनाथ है जहाँ तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ था।

मानवाध्ययन

मनुष्यों की प्रधान चार शाखाएँ मानी जाती हैं—प्राग्द्रविड, द्रविड, मंगोल और आर्य—इन चारों श्रेणियों में कुछ-न-कुछ नमूने बिहार में पाये जाते हैं। प्राग्द्रविड और द्रविड छोटानागपुर एवं संथाल परगना की उपत्यकाओं में पाये जाते हैं। मंगोल सुदूर उत्तर नेपाल की तराई में पाये जाते हैं। आर्य जाति सर्वत्र फैली है और इसने सबके ऊपर अपना प्रभाव डाला है।

प्राग्द्रविडों के ये चिह्न माने गये हैं—काला चमड़ा, लम्बा सिर, काली गोल आँखें, घने घुँघराले केश, चौड़ी मोटी नाक, लम्बी दाढ़ी, मोटी जिह्वा, संकीर्ण ललाट, शरीर का सुदृढ़ गठन और नाटा कद। द्रविडों की बनावट भी इससे मिलती-जुलती है; किन्तु ये कुछ ताम्रवर्ण के होते हैं तथा इनका रंग श्यामल होता है।

मंगो[redacted] की ये विशेषताएँ हैं—सिर लम्बा, रंग पीलापन लिये हुए श्यामल, चेहरे पर कम बाल, कद छोटा, नाक पतली किन्तु लम्बी, मुख चौड़ा और आँखों की पलकें टेढ़ी।

आर्यों का आकार लम्बा, रंग गोरा, मुख लम्बा और गोल तथा नाक लम्बी होती है। मिथिला के ब्राह्मणों की परंपरा अति प्राचीन है। उन्होंने चतुर्वर्ण के समान मैथिल ब्राह्मणों को भी चार शाखाओं में विभक्त किया। यथा—श्रोत्रिय, योग्य, पञ्चबद्ध और जयवार। अनेक आक्रमणों के होने पर भी इन्होंने अपनी परंपरा स्थिर रखी है। इसी प्रकार उत्तर के प्राचीन काल के वज्जि, लिच्छवी, गहपति, वैदेहक और भूमिहारों की परंपरा भी अपने मूल ढाँचे को लिये चली आ रही है।

भाषा

भाषाओं की भी चार प्रमुख शाखाएँ हैं,—भारतयूरोपीय, ऑष्ट्रिक-एशियाई; द्रविड तथा तिब्बत-चीनी। भारतयुरोपीय भाषाओं की निम्न लिखित शाखाएँ बिहार में बोली जाती

---

१. ज० वि० रि० सो० १८।२२ ; २६।१८९-२२३ ।

२. हिस्ट्री आफ इंडिया, लाहौर, पृ० १६५-७ ।

३. फ्लीट, गुप्त लेख ३-३२ ।

हैं—बिहारी, हिंदी, बंगला। ऑस्ट्रिक—एशियायी भाषा की प्रतिनिधि मुंडा भाषा है तथा द्रविड़ भाषा की प्रतिनिधि ओरांव और माल्टो है।

भारतीय-आर्य, मुण्डा और द्रविड़ भाषाओं को क्रमशः प्रतिशत ६२,७, और एक लोग बोलते हैं। अधिकांश जनता बिहारी बोलती है जिसकी तीन बोलियाँ प्रसिद्ध हैं—भोजपुरी, मगही और मैथिली।

मुण्डा भाषा में समस्त पद अधिक हैं। इन्हीं समस्त पदों से पूरे वाक्य का भी बोध हो जाता है। इसमें प्रकृति, ग्रामवास और जंगली जीवन विषयक शब्दों का भंडार प्रचुर है; किन्तु भावुकता तथा मिश्र व्यंजनों का अभाव है।

मुण्डा और आर्य भाषाएँ प्रायः एक ही क्षेत्र में बोली जाती हैं; तो भी उनमें बहुत भेद है। यह बात हमें इंगलैण्ड और वेल्स की भाषा पर विचार करने से समझ में आ सकती[1] है। अँगरेजीभाषा कृपाण के बल पर आगे बढ़ती गई; किन्तु तब भी वेल्स को अँगरेजलोग भाषा की दृष्टि से न पराजित कर सके। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि दोनों के बीच केवल एक नैतिक सीमा का भेद है; तथापि वेल्सवालों की बोली इंगलैंड वालों की समझ से परे हो जाती है।

मुण्डा और द्रविड़ भाषाओं की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों के विभिन्न विचार हैं। ग्रियर्सन[2] कहता है कि सम्भवतः मुण्ड और द्रविड़ भाषाओं का मूल एक ही है। प्रसिद्ध मानव शास्त्रवेत्ता शरच्चन्द्र राय[3] के मत में मुण्ड भाषा का संस्कृत से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। संज्ञा और क्रिया के मुख्य शब्द, जिनका व्यावहारिक जीवन से प्रतिदिन का सम्बन्ध है, या तो शुद्ध संस्कृत के हैं अथवा अपभ्रंश हैं। मुण्डा भाषा का व्याकरण भी प्राचीन संस्कृत से बहुत मेल खाता है। भारतवर्ष की भाषाओं में से केवल संस्कृत और मुण्डारी में ही संज्ञा, सर्वनाम और क्रियाओं के द्विवचन का प्रयोग पाया जाता है।

द्रविड़ भाषा के संबंध में नारायण शास्त्री[4] कहते हैं कि यह सोचना भारी भूल है कि द्रविड या द्रविड़ भाषा—तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड व तुल्लू—स्वतंत्र शाखा या स्वतंत्र भाषाएँ हैं और इनका आर्य-जाति और आर्य-भाषा से सम्बन्ध नहीं है। उनके विचार में आर्य तथा द्रविड़ भाषाओं का चोली-दामन का सम्बन्ध है। मेरे विचार में राय और शास्त्री के विचार माननीय हैं।

---

१. न्यू वर्ल्ड आफ टु डे, भाग १ पृष्ठ ४२ श्री गदाधरप्रसाद अम्बष्ठ-द्वारा 'साहित्य', पटना, भाग ३ (२) पृष्ठ ३१ में उद्धृत।

२. जार्ज एलेकजेंडर ग्रियर्सन का लिंग्विटिक सर्वे आफ इण्डिया, मुण्डा और द्रविड भाषाएँ, भाग ४।२ कलकता, १६०६।

३. जर्नल-बिहार-उड़ीसा-रिसर्च सोसाइटी, १६२६, पृष्ठ ३७६-६३।

४. एज आफ शंकर—टी० एस० नारायण शास्त्री, थाम्पसन एण्ड को०, मद्रास १६१६, पृ० ८२।

धर्म

यहाँ की अधिकांश जनता हिंदू है। वर्ण-व्यवस्था, पितृपूजन, गोसेवा तथा ब्राह्मण-पूजा—ये सब-कुछ बातें हिंदू-धर्म की भित्ति कही जा सकती हैं। प्रत्येक हिंदू जन्मान्तरवाद में विश्वास करता है तथा अपने दैनिक कर्म में किसी देव या देवी की पूजा करता है।

मुण्डों के धर्म की विशेषता है—सिंगबोंगा की उपासना तथा पितृपूजन। सिंगबोंगा[1] सूर्य देव हैं। वे अदृश्य सर्व शक्तिमान् देव हैं, जिन्होंने सभी बोंगों को पैदा किया। वे निर्विकार एवं सर्व कल्याणकारी हैं। वे सब की स्थिति और संहार करनेवाले हैं। सिंगबोंगा की पूजा-विधि कोई विशेष नहीं है; किन्तु उन्हें प्रतिदिन प्रातः नमस्कार करना चाहिए और आपत्काल में सिंगबोंगा को श्वेत बकरा या कुक्कुट का बलिदान देना चाहिए।

यद्यपि बौद्धों और जैनों का प्रादुर्भाव इसी बिहार प्रदेश में हुआ, तथापि उनका यहाँ से मूलोच्छेद हो गया है। बौद्धों की कुछ प्रथा निम्न जातियों में पाई जाती हैं। बौद्ध और जैन मंदिरों के भग्नावशेष तीर्थ स्थानों में पाये जाते हैं, जहाँ आधुनिक समुद्धारक उनकी रक्षा का यत्न कर रहे हैं। बिहार में यत्र-तत्र कुछ मुसलमान और ईसाई भी पाये जाते हैं।

---

१. तुलना करें—बोंग = भग (= भर्ग = सूर्य)।

द्वितीय अध्याय

स्रोत

प्राङ्मौर्यकालिक इतिहास के लिए हमारे पास शिशुनाग वंश के तीन लघुमूर्ति लेखों के सिवा और कोई अभिलेख नहीं है। पौराणिक सिक्कों के सिवा और कोई सिक्का भी उपलब्ध नहीं है, जिसे हम निश्चयपूर्वक प्राङ्मौर्यकाल का कह सकें। अतः हमारे प्रमाण प्रमुखतः साहित्यिक और भारतीय हैं। कोई भी विदेशी लेखक हमारा सहायक नहीं होता। मौर्यकाल के कुछ ही पूर्व हमें बाह्य (यूनानी) प्रमाण कुछ अंश तक प्राप्त होते हैं। अतः इस काल संबंधी स्रोतों को हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं—वैदिक साहित्य, काव्य-पुराण, बौद्ध-साहित्य, जैन-ग्रन्थ तथा आदिवंश-परम्परा।

वैदिक साहित्य

प्रार्जिटर[1] के अनुसार वैदिक साहित्य में ऐतिहासिक बुद्धि का प्रायः अभाव है और इसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु, वैदिक साहित्य के प्रमाण अति विश्वस्त[2] और श्रद्धेय हैं। इनमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषत् सन्निहित हैं। वैदिक साहित्य अधिकांशतः प्राग्-बौद्ध भी है।

काव्य-पुराण

इन काव्य-पुराणों का कोई निश्चित समय नहीं बतलाया जा सकता। यूनानी लेखक इनके लेखकों के समय का निर्णय करने में हमारे सहायक नहीं होते; क्योंकि उन्हें भारत का अन्तर्ज्ञान नहीं था। उन्होंने प्रायः यहाँ के धर्म, परिस्थिति, जलवायु और रीतियों का ही अध्ययन और वर्णन[3] किया है।

जिस समय सिकन्दर भारतवर्ष में आया, उस समय युनानी लेखकों के अनुसार सतीदहन प्रचलित प्रथा थी। किन्तु रामायण में सती-दाह का कहीं भी उल्लेख नहीं है। महाकाव्य तात्कालिक सभ्यता, रीति और सम्प्रदाय का प्रतीक माना जाता है। रामायण में भक्ति-सम्प्रदाय का भी

---

१. पार्जिटर ऐंसियंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्स, भूमिका।

२. सीतानाथ प्रधान का क्रानोलाजी आफ ऐंसियंट इण्डिया,
कलकत्ता (१९२७) भूमिका ११-१२।

३. ग्रीफिथ—अनूदित (सन् १८७०) लण्डन, वाल्मीकि रामायण, भूमिका।

उल्लेख नहीं, जैसा कालान्तर के महाभारत में पाया जाता है। सिंहल द्वीप को 'ताम्रोबेन पले सिमुन्दर या सालिने' नहीं कहा गया है जो नाम[1] विक्रम संवत् के कुछ शती पूर्व पाये जाते हैं। इस द्वीप का नाम सिंहल भी नहीं पाया जाता, जिसे विजय सिंह ने कलि संवत् २५५८ में अधिकृत किया और अपने नाम से इसे सिंहल द्वीप घोषित किया। रामायण में सर्वत्र अति प्राचीन नाम लंका पाया जाता है।

प्राचीन काल में भारतीय यवन शब्द का प्रयोग भारत के पश्चिम बसनेवाली जातियों के लिए करते थे। संभवतः सिकन्दर के बाद ही यवन शब्द विशेषत: यूनानी के लिए प्रयुक्त होने लगा। रामायण में तथागत[2] का उल्लेख होने से कुछ लोग इसे कालान्तर का बतला सकते हैं; किन्तु उपर्युक्त श्लोक पश्चिमोत्तर और वंग संस्करणों में नहीं पाया जाता। अतः इसके रचना-काल में बंदा नहीं लग सकता। राजतरंगिणी[3] के दामोदर द्वितीय को कुछ ब्राह्मणों ने शाप दिया। रामायण के श्रवण से इस शाप का निराकरण होना बतलाया गया है। दामोदर ने कलि संवत् १६६८ से क० सं० १६५३ तक राज्य किया। क० सं० ३३५२ कंग-सेंग-हुई ने मूल भारतीय स्रोत से अनाम राजा का जातक चीनी में रूपान्तरित करवाया।

दश विषया सत्ता (दशरत = दशरथ) का निदान भी चीन में क० सं० ३५७३ में केकय ने रूपांतरित किया। इस जातक में वर्णन है कि किस प्रकार वानरराज ने स्त्री खोजने में राजा की सहायता की। निदान में रामायण[4] की संक्षिप्त कथा भी है; किन्तु वनवास का काल १४ वर्ष के बदले १२ वर्ष मिलता है। महाकाव्य की शैली उत्तम है, जिसके कारण इसे आदि काव्य कहा गया है। अतः हम आंतरिक प्रमाणों के आधार पर कह सकते हैं कि यह महाकाव्य अति प्राचीन है। सभी प्रकार से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस रामायण का मूल क० सं० ३३५२ से बाद का नहीं हो सकता।

महाभारत

आधुनिक महाभारत के विषय में हापकिंस का[5] विचार है कि जब इसकी रचना हुई, तब तक बौद्धों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और बौद्ध-धर्म पतन की ओर जा रहा था;

---

१. मिक्रिडल पृष्ठ ६२, संभवतः पलेसमुन्दर पाली सीमांत का यूनानी रूप है। टालमी के पूर्व ही यह शब्द लुप्तप्राय हो चुका था। इस द्वीप का नाम बहुत बदल चुका है। यूनानी इसे सर्व प्रथम अंटिक थोनस (प्लीनी ६।२१) कहते थे। सिकन्दर के समय इसे पलेसमुन्दन कहते थे। टालमी इसे ताम्रोबेन कहता है। बाद में इसे संरेनडियस, सिरलेडिव, सेरेनडीव, जैलेन, और सैलेन (सिलोन) कहते थे।

—जर्नल बिहार० उ० रिसर्च सोसायटी, १८।२२२।

२. रामायण २-१०१—१४।

३. राजतरंगिणी १-५४।
जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, भाग १८ पृ० ५९।

४. चीनी में रामायण, रघुवीर व यममत संपादित, लाहौर, १९३८।

५. दी ग्रेट एपिक्स आफ इंडिया, पृ० ३९१।

क्योंकि महाभारत में बौद्ध एडूकों का उपहास किया गया है जिन्होंने देव-मंदिरों को नीचा दिखाना चाहा था। इसके अनेक संस्करण होते गये हैं। पहले यह जय[1] नाम से ख्यात था, और इसमें पांडवों की विजय का इतिहास था। वैशम्पायन[2] ने कुरु-पांडु युद्ध-कथा जनमेजय को तक्ष-शिला में सुनाई। तब यह भारत नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब सूत लोमहर्षण ने इसे नैमिषारण्य की महती सभा में सुनाया, तब यह 'शतसाहस्रीसंहिता'. के नाम से विज्ञापित हुआ जो उपाधि इसे गुप्तकाल में प्राप्त हो चुकी थी। भारतों का इसमें चरित्र वर्णन और गाथा है, अतः इसे महाभारत[3] कहते हैं। इस महाभारत का प्रमुख अंश बौद्ध साम्राज्य के पूर्व का माना जा सकता है। किसी भी दशा में इस महाभारत को, यदि इसके क्षेपकों को निकाल दें, गुप्तकाल के बाद का नहीं मान सकते।

पुराण

आधुनिक लेखकों ने पौराणिक वंशावली को व्यर्थ ही हेय दृष्टि से देखना चाहा है। इनके घोर अध्ययन से बहुमूल्य ऐतिहासिक परंपरा प्राप्त हो सकती है। पुराण[4] हमें प्राचीन भारतेतिहास बतलाने का प्रयास करते हैं। वे ऋग्वेद काल में स्थापित प्राचीनतम राज्यों और वंशों का वर्णन करते हैं।

पुराणों में यथास्थान राजाओं और ऋषियों के पराक्रम का वर्णन होता है, युद्ध का उल्लेख और वर्णन है और बहुमूल्य समकालिकता[5] का आभास मिलता है। वंशावली में पुराण यह नहीं कहते कि एक वंश से दूसरे वंश का क्या संबंध है। पुराण केवल यही बतलाते हैं कि अमुक के बाद अमुक हुआ। यह निश्चय है कि अनेक स्थानों में एक अनुगामी उसी जाति का था, न कि उस वंश का।[6]

पौराणिक वंशावली किसी उर्वर मस्तिष्क का आविष्कार नहीं हो सकती। कभी-कभी अधिकारारूढ शासकों को गौरव देने के लिए उस वंश को प्राचीनतम दिखलाने के जोश में कुछ कवि कल्पना से काम ले सकते हैं; किन्तु इसकी कांक्षा राजकवियों या चारणों से ही की जा सकती है न कि पौराणिकों से, जो सत्य के सेवक थे और जिन्हें भूतपूर्व राजाओं से या उनके वंशजों से या साधारण जनता से एक कौड़ी भी पाने की आशा न थी। एक राजकवि अगर कोई क्षेपक जोड़ दे, तो उसे सारे देश के कवि या पौराणिक स्वीकार करने को उद्यत नहीं हो सकते थे। पंडितों का ध्येय पाठों को ठीक-ठीक रखना था और इस प्रकार की वंशावली कोरी कल्पना के आधार पर खड़ी नहीं की जा सकती। पौराणिक साहित्य को अक्षुण्ण रखने का भार सूतों

---

१. महाभारत १-६२-२२।
२. महाभारत १८-५-३२—३३।
३. महाभारत १-५१-५२।
४. स्मिथ का अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (चतुर्थ संस्करण) पृ० १२।
५. सीतानाथ प्रधान की प्राचीन भारतीय वंशावली की भूमिका ११।
६. क्या हम प्राग्-भारत-युद्ध-इतिहास का निर्माण कर सकते हैं? डाक्टर आशुतोष सदाशिव अल्तेकर लिखित, कलकत्ता, इण्डियन हिस्ट्री काँग्रेस का सभापति भाषण पृ० ४।

पर था और यह कहा जा सकता है कि पुराण अनुराग हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि पहले भी प्राचीन राजवंश का पूर्ण अध्ययन होता था, विश्लेषण होता और उसके इतिहास की रक्षा की जाती थी। पुराण होने पर भी ये सदा नूतन[१] हैं।

विभिन्न पुराणों को मिलाना और अन्य स्रोतों को ध्यान में रखते हुए उनका संशोधन करना आवश्यक है। अल्पज्ञ पाठ लेखक, लिपि परिवर्त्तन और विशेषण का संज्ञा तथा संज्ञा का विशेषण समझ लेना पाठभ्रष्टता के कारण हैं।

निस्सन्देह आधुनिक पुराणों का रूप अति अर्वाचीन है और २० वीं शती में भी क्षेपक[२] जोड़े गये हैं; किन्तु हमें पुराणों का तथ्य ग्रहण करना चाहिए और जो कुछ भी उसका उपयोग हो सकता है, उससे लाभ उठाना चाहिए। सचमुच प्राङ्मौर्य काल के लिए हमें अधिकांश में पुराणों के ही ऊपर निर्भर होना पड़ता है और अभी तक लोगों ने उनका गाढ़ अध्ययन इसलिए नहीं किया; क्योंकि इसमें अन्न और भूसे को अलग करने में विशेष कठिनाई है। पुराणों की सत्य कथा के सम्बन्ध में न तो हमें अंधविश्वासी होना चाहिए और न उन्हें कोरी कल्पना ही मान लेनी चाहिए। हमें राग-द्वेष-रहित होकर उनका अध्ययन करना चाहिए और तर्क-सम्मत मध्य मार्ग से चलकर उनकी सत्यता पर पहुँचना चाहिए।

स्मिथ[3] के विचार में अतीत के इतिहासकार को अधिकांश में उस देश की साहित्य निहित परंपरा के ऊपर ही निर्भर होना होगा और साथ ही मानना पड़ेगा कि हमारी अनुसंधान-कला तात्कालिक प्रमाणों द्वारा निर्धारित इतिहास की अपेक्षा घटिया है।

बौद्ध साहित्य

अधिकांश बौद्ध ग्रन्थ यथा—'सुत्त विनय जातक' प्राक् शुङ्ग काल के माने जाते हैं। कहा जाता है बौद्ध ग्रंथ सर्वप्रथम राजा उदयी (क० सं० २६१७–३३) के राज-काल में लिखे गये। ये हमें बिम्बसार के राज्यासीन होने के पूर्व काल का यथेष्ट संवाद देते हैं। प्राचीन कथाओं का बौद्ध रूप भी हमें इस साहित्य में मिलता है और ब्राह्मण ग्रंथों के शून्य प्रकाश या घोर तिमिर में हमें यथेष्ट सामग्री [४] पहुँचाते हैं।

ब्राह्मण, भिक्खु और यति प्रायः समान प्राग्-बुद्ध और प्राग्-महावीर परंपरा के आधार पर लिखते थे। अतः हम इनमें किसी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें केवल इनकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए। ये ब्राह्मण परंपराओं के संशोधन में हमारी सहायता कर सकते हैं। जातकों में इस प्रकार की बौद्धिक कल्पना नहीं पाई जाती—जैसी पुराणों में, और यही जातकों का विशेष गुण[५] है।

---

१. निरुक्त ३-१८।

२. तुलना करें—पुराणानां समुद्धर्त्ता क्षेमराजो भविष्यति—भविष्यपुराण।

३. स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, १९१४, भूमिका पृ० ४।

४. हेमचन्द्र रायचौधरी लिखित पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंसियंट इण्डिया पृ० ६।

५. इतिहास, पुराण और जातक—सुनीतिकुमार चटर्जी लिखित, वुलनर वौल्यूम, १९४०, लाहौर, पृ० ३४, ३६।

जैन ग्रन्थ

आधुनिक जैन ग्रंथ, संभवतः, विक्रम-संवत् के पञ्चम या षष्ठ शती में लिखे गये ; किन्तु प्राचीन परंपरा के अनुसार इनका प्रथम संस्करण चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु के काल में हो चुका था। भारत का धार्मिक साहित्य पिता या पुत्र तथा गुरु-शिष्य-परंपरा के अनुसार चला आ रहा है जिससे लिपिकार इसे पाठ-भ्रष्ट न कर सकें। अपितु लिखित पाठ के ऊपर अन्ध-विश्वास पाप माना जाता है। आधुनिक जैन ग्रंथों की अर्वाचीनता और मगध से सुदूर नगर वल्लभी में उनकी रचना होने से ये उतने प्रामाणिक नहीं हो सकते, यद्यपि बौद्ध ग्रन्थों के समान इनमें भी प्रचुर इतिहास-सामग्री मगध के विषय में पाई जाती है।

वंश-परंपरा

वंशपरंपरा का मूल्य[1] अंकित करने में हमें पता लगाना चाहिए कि इस परंपरा का एक रूप है या अनेक। प्रथम श्रवण के बाद कथाओं में कुछ संशोधन हुआ है या नहीं तथा इस वंश के लोग इसे सत्य मानते हैं या नहीं। इन परंपराओं के श्रावकों की क्या योग्यता है ? क्या श्रावक स्वयं उस भाषा को ठीक-ठीक समझ सकते हैं तथा पुनः श्रावण में कुछ नमक - मिर्च तो नहीं लगाते हैं या राग-द्वेष रहित होकर जैसा सुना था, ठीक वैसा ही सुना रहे हैं ? इन परंपराओं में ये गुण हों तो यथार्थ में उनका मूल्य बहुत है, अन्यथा उनका तिरस्कार करना चाहिए। सत्यतः छोटानागपुर के इतिहास-संकलन में किसी लिखित ग्रन्थ के अभाव में इनका मूल्य स्तुत्य है।

आधुनिक शोध

पार्जिटरने कलियुग वंश का पुराण पाठ तथा प्राचीन भारतीय परंपरा तैयार कर भारतीय इतिहास के लिए स्तुत्य कार्य किया। सीतानाथ प्रधान ने ऋग्वेद के दिवोदास से चन्द्रगुप्त मौर्य तक की प्राचीन भारतीय वंशावली उपस्थित करने का यत्न किया। काशीप्रसाद जायसवाल ने भी प्राङ्मौर्य काल पर बहुत प्रकाश डाला है।

---

१. हजारीबाग जिला गजेटियर (१९१७) पृ० ४३।

तृतीय अध्याय

आर्य तथा व्रात्य

आर्यों का मूल स्थान विद्वानों के लिए विवाद का विषय है। अभी तक यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि कब और कहाँ से आर्य भारत में आये। इस लेखक ने भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीच्युट के अनाल्स में यह दिखलाने का यत्न किया है कि आर्य भारत में कहीं बाहर से नहीं आये[१]। पंजाब से ही वे सर्वत्र फैले, यहीं से बाहर भी गये जिसका प्रधान कारण है अनवरत वर्द्धमान जनसंख्या के लिए स्थान की खोज।

पौराणिक परंपरा से पता चलता है कि मनु वैवस्वत के षष्ठ पुत्र करुष को प्राची देश[२] मिला और उसने कलिपूर्व १४०० के लगभग[३] अपना राज्य स्थापित किया। करुष[४] राज समुद्र तक फैला था। इससे सिद्ध है कि दक्षिण बिहार की भूमि उत्तर बिहार से प्राचीन है और बिहार का प्रथम राज्य यहीं स्थापित हुआ।

शतपथ ब्राह्मण के[५] अनुसार मिथिला की भूमि दल-दल से भरी थी (स्त्रावितरम्)। मिथिला का प्रथम राजा नेमि मनु की तीसरी पीढ़ी में है और विदेह माधव या राजा मिथि नेमि के बाद गद्दी पर बैठता है। राजा मिथि ने ही विदेह को सर्वप्रथम यज्ञाग्नि से पवित्र किया और वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया।

जब आर्य पुनः प्राची देश में जाने लगे, तब उन्होंने वहाँ व्रात्यों को बसा हुआ पाया जो संभवतः आर्यों के (कारुष ?) प्रथम आगत दल के सदस्य थे। ये वैदिक आर्यों के कुछ शती पूर्व ही प्राची को चले गये थे। ऐतरेय[६] ब्राह्मण में वंग, व (म)गध और चेरपादों ने वैदिक यज्ञ क्रिया की अवहेलना की, अतः उन्हें कौआ या वायस कहा गया है। क्या यह व्रात्यों का द्योतक है ?

---

१. अनाल्स भ० ओ० रि० इ०, पूना, भाग २०, पृ० ४९—६८।

२. रामायण १—७१।

३. देखें— वैशाली वंश।

४. ये कारूप सम्भवतः कस्साइट्स हैं, जिन्होंने क० सं० १०२६ के लगभग वावेरु (बैबिलोन) पर आक्रमण किया तथा क० सं० १३२२ में गण्डास की अध्यक्षता में वावेरु को अधिकृत कर लिया। यहीं आर्य वंश की स्थापना हुई और जिसने ६ पीढ़ी तक राज्य किया। कैम्ब्रिज एंसियंट हिस्ट्री देखें—भाग १, पृ० ३१२, ६५६।

५. शतपथ ब्राह्मण, १·४·१-१०।

६. ऐ० ब्रा० २-१-१।

व्रात्य

ऋग्वेद [1] के अनेक मंत्रों में व्रात्य शब्द पाया जाता है; किन्तु अथर्ववेद[2] में व्रात्य[3] शब्द सेना के लिए प्रयुक्त है। यजुर्वेदसंहिता [4] में नरमेध की बलि सूची में व्रात्य भी सन्निहित है। अथर्ववेद [5] में तो व्रात्य को भ्रमणशील पुण्यात्मा यति का आदर्श माना गया है।

चूलिकोपनिषद् व्रात्य को ब्रह्म[6] का एक अवतार गिनती है। पञ्चविंश ब्राह्मण में व्रात्य को ब्राह्मणोचित संस्कार-रहित बतलाया गया है। अन्यत्र यह शब्द असंस्कृत व्यक्ति के पुत्र[7] के लिए तथा उस व्यक्ति के लिए व्यवहृत हुआ है, जिसका यथोचित समय पर यज्ञोपवीत संस्कार[8] न हुआ हो। महाभारत[9] में व्रात्यों को महापातकियों में गिना गया है। यथा—आग लगानेवाले, विष देनेवाले, कोढ़ी, भ्रूणहत्यारे, व्यभिचारी तथा पियक्कड़। व्रात्य शब्द की व्युत्पत्ति हम व्रत (पवित्र प्रतिज्ञा के लिए संस्कृत) या व्रात (घुमक्कड़) से कर सकते हैं; क्योंकि ये खानाबदोश की तरह गिरोहों में घूमा करते थे।

व्रात्य और यज्ञ

मालूम होता है कि व्रात्य यज्ञ नहीं करते थे। ये केवल राजाओं के आनन्दोत्सवों में मग्न रहते थे। तथा वे सभा या समिति के सदस्यों के रूप में या सैनिकों के रूप में या पियक्कड़ों के समुदाय[10] में खूब भाग लेते थे।

ताण्ड्य ब्राह्मण कहता है कि जब देव स्वर्ग चले गये तब कुछ देवता पृथ्वी पर ही व्रात्य के रूप में विचरने लगे। अपने साथियों का साथ देने के लिए ये उस स्थान पर पहुँचे जहाँ से अन्य देवता स्वर्ग की सीढ़ी पर चढ़े थे। किन्तु यथोचित मंत्र न जानने के कारण वे असमंजस में पड़ गये। देवताओं ने अपने भाग्यहीन बंधुओं पर दया की और मरुतों को कहा कि इन्हें सच्छन्द उचित मंत्र बतला दें। इसपर इन अभागों ने मरुतों से समुचित मंत्र षोडश अनुष्टुप् छन्द के साथ प्राप्त किया और तब वे स्वर्ग पहुँचे। यहाँ मन्त्र इस प्रकार बाँटे गये हैं। हीन (नीच) और गरगिर (विषपान करनेवाले) के लिए चार;

---

1. ऋ० वे० १·१६३-८; ९·१४·२।
2. अ० वे० २-६·२।
3. मराठी में व्रात्य शब्द का अर्थ होता है—दुष्ट, झगड़ालू, शरारती। देवदत्त राम कृष्ण भंडारकर का सम असपेक्ट आफ इण्डियन कलचर, मद्रास, १९४०, पृ० ४६ देखें।
4. वाजसनेय संहिता ३०-८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-४-५-१।
5. अथ० वे० १५ वाँ कांड।
6. तुलना करें 'व्रात्य वा इद मग्र मासीत्'। पैप्पलाद शाखा अथर्ववेद १५-१।
7. बौधायन श्रौत सूत्र १-८-१६; मनु १०·२०।
8. मनु १०·३९।
9. म० भारत ५·३५·४१।
10. अथर्ववेद १५—९।

निन्दित के लिए छः ; कनिष्ठ (सबसे छोटे जो बचपन से ही दूसरों के साथ रहने के कारण भ्रष्ट हो गये थे) के लिए दो तथा ज्येष्ठ के लिए चार मन्त्र[1] है।

गृहस्थ व्रात्य को यज्ञ करने के लिए एक उष्णीष (पगड़ी), एक प्रतोद (चाबुक), एक ज्याह्रोड् (गुलेल या धनुष), एक रथ या चाँदी का सिक्का या जेवर तथा ३३ गौ एकत्र करनी चाहिए। इसके अनुयायी को भी ठीक इसी प्रकार यज्ञ के लिए सामग्री एकत्र करनी चाहिए तथा अनुष्ठान करना चाहिए।

जो व्रात्य यज्ञ करना चाहें उन्हें अपने वंश में सबसे विद्वान् या पूतात्मा को अपना गृहपति चुनना चाहिए तथा गृहपति जब यज्ञ-बलि का भाग खा ले तब दूसरे भी इसका भक्षण करें। इस यज्ञ को भी करने के लिए कम-से-कम ३३ व्रात्यों का होना आवश्यक[2] है। इस प्रकार[3] जो व्रात्य अपना सर्वस्व (धन इत्यादि) अन्य भाइयों को दे दे, वे आर्य बन जाते थे। इन यज्ञों को करने के बाद व्रात्यों को द्विजों के सभी अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त हो सकत थीं तथा ये वेद पढ़ सकते थे, यज्ञ भी कर सकते थे तथा जो ब्राह्मण इन्हें वेद पढ़ाते थे, उन्हें ये दक्षिणा दे सकते थे। ब्राह्मण उनके लिए यज्ञ पूजा-पाठ कर सकते थे, उनसे दान ले सकते थे तथा बिना प्रायश्चित्[4] किये उनके साथ भोजन भी कर सकते थे। एकसठ दिन तक होनेवाले सत्र[5] को सबसे पहले देवव्रात्य ने किया और बुध इसका स्थपति (पुरोहित) बना। यह एक समुदाय संस्कार था और उस वंश परिवार या सारी जाति का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक स्थपति की नितान्त आवश्यकता थी।

क्या ये अनार्य थे ?

इसका ठीक पता नहीं चलता कि अनार्य को आर्य बनने के लिए तथा उन्हें अपने आर्यत्व में मिलाने के लिए वैदिक आर्यों ने क्या योग्यता निर्धारित की थी। किसी प्रकार से भी यह दिखले का शरीरमान न था। भाषा भी इसका आधार नहीं कही जा सकती; क्योंकि ये व्रात्य असंस्कृत होने पर भी संस्कृतों की भाषा बोलते थे।

किन्तु आर्य शब्द[6] से हम इज्याध्ययन दान का तात्पर्य जोड़ सकते हैं। केवल ब्राह्मणों को ही यज्ञ के पौरोहित्य, वेदाध्ययन तथा दान लेने का अधिकार है। ब्रह्मचर्यावस्था में वेद-

---

१. ताण्ड्य ब्राह्मण १७।

२. लाट्यायन श्रौत सूत्र ८-६।

३. ताण्ड्य ब्राह्मण १७।

४. लाट्यायन श्रौत सूत्र ८-६-२९—३०।

५. पञ्चविंश ब्राह्मण २४-१८।

६. वेद में आर्य शब्द का प्रयोग निम्नलिखित अर्थ में हुआ है—श्रेष्ठ, कृषक, स्वामी, संस्कृत, अतिथि इत्यादि। वैदिक साहित्य में आर्य का अर्थ जाति या राष्ट्र से नहीं है। अतः यह यूरोपीय शब्द आर्यन (Aryan) का पर्याय नहीं कहा जा सकता। स्वामी शंकरानन्द का ऋग्वेदिक कल्चर आफ प्रेहिस्टरिक आर्यन्स, रामकृष्ण वेदान्त मठ, पृ० २-३।

अध्ययन, गार्हस्थ्य में दान तथा वाणप्रस्थ में यज्ञ का विधान है। ये तीनों कर्म केवल द्विजातियों के लिए ही विहित है। अतः आर्य शब्द का वर्णाश्रम धर्म से गाढ़ा सम्बन्ध दिखाई देता है।

सायणाचार्य व्रात्य शब्द का अर्थ 'पतित' करते हैं और उनके अनुसार व्रात्यस्तोम का अर्थ होता है—पतितों का उद्धार करने के लिए मंत्र। मालूम होता है कि यद्यपि ये व्रात्य मूल आर्यों की प्रथम शाखा से निकलते थे, तथापि अपने पूर्व आर्य बंधुओं से दूर रहने के कारण ये अनार्य प्रायः हो गये थे—वे इज्या, अध्ययन तथा दान की प्रक्रिया भूल गये थे। इन्होंने अपनी एक नवीन संस्कृति स्थापित कर ली थी। अतः भागवत[1] इन्हें अनार्य समझते हैं। आर्यों से केवल दूर रहने के कारण इन्हें शुद्ध शब्दों के ठीक उच्चारण में कठिनाई होती थी। यह सत्य है कि इनका वेष आर्यों से भिन्न था। किन्तु एकव्रात्य अन्य आर्य देवों की तरह सुरा-पान करता था तथा भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव और ईशान ये सारे इस एकव्रात्य के विभिन्न स्वरूप थे जिन्हें व्रात्य महान् आदर की दृष्टि से देखते थे। पौराणिक साहित्य में उल्लेख मिलता है कि वैदिक देवमंडल में रुद्र को सरलता तथा शांति से स्थान न मिला। दक्ष प्रजापति की ज्येष्ठ कन्या से महादेव का विवाह यह निर्विवाद सिद्ध करता है कि किसी प्रकार रुद्र को वैदिकपरंपरा में मिलाया जाय। यज्ञ में न तो रुद्र को और न उनकी भार्या को ही निमंत्रण दिया जाता है।

व्रात्यों का सभी धन ब्रह्मबन्धु या मगध के ब्राह्मणों को केवल इसीलिए देने का विधान किया गया कि व्रात्य चिरकाल से मगध में रहते थे। आजकल भी हम पाते हैं पंजाब के खत्री चाहें जहाँ भी रहें, सारस्वत ब्राह्मणों की पूजा करते हैं और असारस्वत ब्राह्मणों को एक कौड़ी भी दानस्वरूप नहीं देते।

व्रात्य श्रेणी

किन्तु वैदिक आर्य चाहे जिस प्रकार हों, अपनी संख्या बढ़ाने पर तुले हुए थे। जिनके आचार-विचार इनसे एकदम भिन्न थे, ये उन्हें भी अपने में मिला लेते थे। इन्होंने व्रात्यों को शुद्ध करने के लिए स्तोमों का आविष्कार किया। इन्होंने व्रात्यों को चार श्रेणियों में बाँटा।

(क) हीन[3] या नीच जो न तो वेद पढ़ते थे, न कृषि करते थे और न वाणिज्य करते थे। जो खानाबदोश का जीवन बिताते थे। ये जन्म से तथा वंश-परम्परा से वैदिक आर्यों से अलग रहते थे।

(ख) गरगिर[4] या विषपान करनेवाले जो बालपन से ही प्रायः विजातियों के संग रहने से वर्णच्युत हो गये थे। ये ब्राह्मणों के भक्षण योग्य वस्तु को स्वयं खा जाते थे और अपशब्द न कहे जाने पर भी निन्दा करते थे कि लोग हमें गाली देते हैं। ये अदंड्य को भी सोंटे से मारते थे[5] और संस्कार-विहीन होने पर भी संस्कृतों की भाषा बोलते थे।

---

१. जर्नल बम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १६ पृ० २५६-६४।

२. अथर्ववेद १५।

३. पंचविंश ब्राह्मण १७.१-२।

४. वहीं १७,१,६।

५. तुलना करें—तसलवा तोर कि मोर। यह भोजपुर की एक कहावत है। ये बलात् भी दूसरों का धन हड़प लेते थे।

(ग) निन्दित[1] या मनुष्य हत्या के दोषी जो अपने पापों के कारण जाति-च्युत हो गये थे तथा जो क्रूर थे।

(घ) समनीच मेध्र[2]—वैदिक इन्डेक्स के लेखकों के मत में समनीच मेध्र वे व्रात्य थे, जो नपुंसक होने के कारण चांडालों के साथ जाकर रहते थे; किन्तु यह व्याख्या युक्ति-युक्त नहीं जँचती। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने इन व्रात्यों को भी आर्य धर्म में मिलाने के लिए स्तोम निर्माण किया जो स्त्री-प्रसंग से वंचित हो चुके थे तथा जो बहुत वृद्ध हो चुके थे जिससे व्रात्यों का सारा परिवार बाल-वृद्ध रुग्ण सभी वैदिक धर्म में मिल जायँ।

व्रात्यस्तोम का तात्पर्य

यद्यपि पंचविंश ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि स्तोम का तात्पर्य है समृद्धि की प्राप्ति, किन्तु लाट्यायन श्रौतसूत्र[3] कहता है कि इस संस्कार से व्रात्य द्विज हो जाते थे। जब यह स्तोम पंचविंश ब्राह्मण में लिखा गया, संभव है, उस समय यह संस्कार साधारणतः लुप्तप्राय नहीं हो चुका था, अन्यथा इसमें देवलोक में जाने की कहानी नहीं मढ़ी जाती। किस प्रकार देवों ने इस संस्कार का आविष्कार और स्वागत किया, इसकी कल्पना लुप्तप्राय तथा शंकास्पद संस्कारों को पुनर्जीवन देने के लिए की गई। जब सूत्रकारों ने इसपर कलम चलाना आरंभ किया तब यह स्तोम मृतप्राय हो चुका था। क्योंकि—लाट्यायन[4] और अन्य सूत्रकारों की समझ में नहीं आता कि सचमुच व्रात्यधन का क्या अर्थ है?

जब सूत्रकारों ने व्रात्यस्तोम के विषय में लिखना प्रारंभ किया, प्रतीत होता है कि तब प्रथम दो स्तोम अव्यवहृत हो चुके थे। अतः उन्हें विभिन्न स्तोमों का अंतर ठीक से समझ में नहीं आता। वे गड़बड़झाला कर डालते हैं। कात्यायन[5] स्तोम का तात्पर्य ठीक से बतलाता है। वह कहता है कि प्रथम स्तोम व्रात्यगण के विशेष कर हैं और चारों दशाओं में एक गृहपति का होना आवश्यक है। सभी स्तोमों का साधारण प्रभाव यह होता है कि इन संस्कारों के बाद वे व्रात्य नहीं रह जाते और आर्य संघ में मिलने के योग्य हो जाते हैं। व्रात्य स्तोम से सारे व्रात्य समुदाय का आर्यों में परिवर्त्तन कर लिया जाता था न कि किसी व्यक्ति विशेष अनार्य का। दूसरों को अपने धर्म में प्रविष्ट कराना तथा आर्य बना लेना राजनीतिक चाल थी और इसकी घोर आवश्यकता थी। धार्मिक और सामाजिक मतभेद बेकार थे। ये आर्यों के लिए अपनी सभ्यता के प्रसार में रुकावट नहीं डाल सकते थे।

व्रात्य सभ्यता

व्रात्यों के नेता या गृहपति के सिर पर एक उष्णीष रहता था, जिससे धूप[6] न लगे। वह एक सोंटा या चाबुक (प्रतोद) लेकर चलता था तथा विना वाण का एक ज्याह्रोड़ रखता था जिसे हिंदी में गुलेल कहते हैं। मगध में बच्चे अब भी इसका प्रयोग करते हैं। गुलेल के

१. पंचविंश ब्राह्मण १७-२-२
२. ,, ,, १७-४-१
३. लाट्यायन श्रौ० सू० ८-६-२९
४. ,, ,, ,, ८-६,
५. कात्यायन श्रौत सूत्र २२-१-४—२८
६. पञ्चविंश ब्राह्मण १७-१-१४

लिए वे मिट्टी की गोली बनाकर सुखा लेते हैं और उसे बड़ी तेजी से चलाते हैं। ये गोलियाँ बाण का काम देती हैं। बौधायन[1] के अनुसार व्रात्य को एक धनुष और चर्म-निषंग में तीन बाण दिये जाते थे। व्रात्य के पास एक साधारण गाड़ी होती थी, जिसे विपथ कहते थे। यह गाड़ी बाँस की बनी होती थी। घोड़े[2] या खच्चर इसे खींचते थे। उनके पास एक दुपट्टा भी रहता था जिसपर काली-काली धारियों वाली पाढ़ होती थी। उनके साथ में दो छाग का चर्म होता था—एक काला तथा एक श्वेत। इनके श्रेष्ठ या नेता लोग पगड़ी बाँधते थे तथा चाँदी के गहने पहनते थे। निम्न श्रेणी[3] के लोग भेड़ का चमड़ा पहन कर निर्वाह करते थे। ये चमड़े बीच की लम्बाई में सिले रहते थे। कपड़ों के धागे लाल रंग में रंगे जाते थे। व्रात्यलोग चमड़े के जूते भी पहनते थे। गृहपति के जूते रंग-विरंगे या काले रंग के और नोकदार होते थे। समश्रवस् का पुत्र कुशीतक एक बार इनका गृहपति बना था। खर्गल के पुत्र लुषाकपि[4] ने इन्हें शाप[5] दिया और वे पतित हो गये।

व्रात्यों की तीन श्रेणियाँ होती थीं—शिक्षित, उच्चवंश में उत्पन्न तथा धनी, क्योंकि लाट्यायन[6] कहता है कि जो शिक्षा, जन्म या धन में श्रेष्ठ हो, उसे तैंतीसों व्रात्य अपना गृहपति स्वीकार करें। तैंतीस व्रात्यों में से प्रत्येक के लिए हवन के अलग-अलग अग्निकुंड होने चाहिए। शासक व्रात्य राजन्यों का बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा था। किन्तु, शेष जनता अंधविश्वास और अज्ञान में पगी थी, यद्यपि दरिद्र न थी।

जब कभी व्रात्य को ब्रह्मविद् या एक व्रात्य भी कह कर स्तुति करते हैं, तब हम पाते हैं कि प्रशंसा करता हुआ मागध और छैलछबीली पुँश्चली (वेश्या) सर्वदा उसके पीछे चलती है। वेश्या आर्यों की सभ्यता का अंग नहीं हो सकती; क्योंकि आर्य सर्वदा उच्च भाव से रहते थे तथा विषय-वासनाओं से वे दूर थे। महाभारत[7] में भी मगध वेश्याओं का प्रदेश कहा गया है। अंग का सूत राजा कर्ण श्यामा मागधी वेश्याओं को, जो नृत्य, संगीत, वाद्य में निपुण थीं; अपने प्रति की गई सेवाओं के लिए भेंट देता है। अतः अथर्ववेद और महाभारत के आधार पर हम कह सकते हैं कि पुँश्चली वैदिक आर्य सभ्यता का अंग न थी। पुँश्चली नारियों की प्रथा व्रात्यों की सभ्यता में जन्मी थी। अतः हम कह सकते हैं कि व्रात्यों की सभ्यता अत्यन्त उच्च कोटि की थी।

---

1. बौधायन श्रौत सूत्र १८-२४।
2. ताण्ड्य ब्राह्मण।
3. पञ्चविंश ब्राह्मण १८-१-१५।
4. वृषाकपि (ऋग्वेद १०-८६-1; ३.१८) इन्द्र का पुत्र है। संभव है लुषाकपि और वृषाकपि एक ही हो जिसने व्रात्यों को यज्ञहीन होने के कारण शाप दिया।
5. पञ्चविंश ब्राह्मण १७-४-३।
6. लाट्यायन श्रौत सूत्र ८.६।
7. महाभारत कर्ण पर्व ३८.१८।

व्रात्य धर्म

धार्मिक विश्वास के संबंध में व्रात्यों को स्वच्छन्द विचारक कह सकते हैं; किन्तु व्रात्य अनेक प्रकार के भूत, डाइन, जादूगर और राक्षसों में विश्वास करते थे। सूत[१] और मागध इनका पौरोहित्य करते थे। जिस देश में सूत रहते थे, उस देश में सूत और जिस देश में मागध रहते थे, वहाँ मागध पुरोहित होते थे। इन पुरोहितों का काम केवल निश्चित मंत्र और जादू-टोने के शब्दों का उच्चारण करना होता था। झाड़-फूँक करना तथा सत्य और कल्पित पापों को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त क्रिया करवाना, ये भी उनके काम थे। राजा और सरदार आध्यात्मिक विषयों एवं सृष्टि की उत्पत्ति आदि पर विचार करने के लिए विवाद सभाएँ करवाते थे तथा इन विचारों को गूढ कहकर जन साधारण को उनके सम्पर्क में आने नहीं देते थे।

व्रात्य या व्रातीन गण प्रिय थे और पतंजलि[२] के अनुसार वे अनेक श्रेणियों में विभक्त थे। ये घोर परिश्रमी थे और अक्सर खानाबदोश का जीवन बिताते थे। राजन्यों के उच्च दार्शनिक सिद्धान्तों का रहस्यमय रहना स्वाभाविक था; क्योंकि सारी शेष जनता कूपमंडूक होने के कारण इस उच्चज्ञान का लाभ उठाने में असमर्थ थी। नरेन्द्रनाथ घोष[३] का मत है कि मगध देश में मलेरिया और मृत्यु का जहाँ विशेष प्रकोप था, वहाँ केवल व्रात्य देवता ही मान्य थे। ये यथा समय सृष्टिकर्त्ता, प्रतिपालक और संहारक होते थे या प्रजापति, विष्णु एवं रुद्र-ईशान-महादेव[४] के नाम से अभिहित किये जाते थे।

---

१. वायु पुराण (६२.१२८-९) में पृथु वैण्य की कथा है कि सूत और मागधों की उत्पत्ति प्रथम अभिषिक्त सम्राट् के उपलक्ष्य में प्रजापति के यज्ञ से हुई। पृथु द्वारा संस्थापित राजवंशों की ऐतिहासिक परंपरा को ठीक रखना और उनकी स्तुति करना ही इनका कार्य-भार था। ये देव, ऋषि और महात्माओं का इतिहास भी वर्णन करते थे। (वायु १-३१)। अतः सूत उसी प्रकार पुराणों के संरक्षक कहे जा सकते हैं जिस प्रकार ब्राह्मण वेदों के। सूत अनेक कार्य करते थे। यथा—सिपाही, रथचालक, शरीर-चिकित्सक इत्यादि (वायु ६२-१४०)। सूत ग्रामणी के समान का एक राजपुरुष था जो एकाहसूत्र में (पञ्चविंश ब्रा० १६-१-४) आठ वीरों की तरह राजा की रक्षा करता था तथा राजसूय में ११ रत्नियों में से एक था (शतपथ ब्रा० ५-३ १ ५: अथर्ववेद ३-५-७)। सूत को राजकृत् कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता में सूत को अहन्त्य कहा गया है (४-५-२)। इससे सिद्ध होता है कि सूत ब्राह्मण होते थे। कृष्ण के भाई बलदेव को लोमहर्षण की हत्या करने पर ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ा था। जब वह ऋषियों को पुराण सुना रहा था तब बलराम के आने पर सभी ऋषि उठ खड़े हुए; किन्तु लोमहर्षण ने व्यासगद्दी न छोड़ी। इसपर क्रुद्ध होकर बलराम ने वहीं उसका अंत कर दिया। सूत महामति और मागध प्राज्ञ होता था। राजाओं के बीच यूरोप के समान सूत संवाद न ढोता था। यह काम दूत का था, सूत का नहीं।

२. महाभाष्य ५-२-२१।

३. इण्डो आर्यन लिटरेचर एण्ड कल्चर, कलकत्ता, १९३४ पृ० ६४।

४. अथर्ववेद १५.६.१।

औपनिषदिक विवादों के अनुसार त्रितय के सदस्यों का व्यक्तित्व नष्ट हो गया और वेदान्त के आत्म ब्रह्म में वे लीन हो गये। वे प्रजापति को ब्रह्मा के नाम से पुकारने लगे। पुराणों में भी उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के नाम से पुकारा गया है और आजकल भी हिंदुओं के यहाँ प्रचलित है। व्रात्यों के शिर पर ललाम या त्रिपुण्ड शोभता था।

व्रात्य काण्ड का विश्लेषण

इस काण्ड[1] को हम दो प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं—एक से सात तक और आठ से अठारह सूक्त तक। प्रथम भाग क्रमबद्ध और पूर्ण है तथा व्रात्य का वर्णन आदि देव की तरह अनेक उत्पादक अंगों सहित करता है। दूसरा भाग व्रात्य-परम्परा का संकलन मात्र है। संख्या आठ और नौ के छन्दों में राजाओं की उत्पत्ति का वर्णन है। १० से १३ तक के मंत्र व्रात्य का पृथ्वीभ्रमण वर्णन करते हैं। १५-१७ में व्रात्य के श्वासोच्छ्वास का तथा जगत् प्रतिपालक का वर्णन है तथा १८ वाँ पर्याय व्रात्यों को विश्व शक्ति के रूप में उपस्थित करता है।

व्रात्य रचना की शैली ठीक वही थी जो अथर्ववेद के व्रात्य कांड में पाई जाती है।

ये मंत्र वैदिक छन्दों से मेल नहीं खाते; किन्तु इनमें स्पष्टतः छन्द परम्परा की गति पाई जा सकती है तथा इनमें शब्दों का विन्यास अनुपात से है।

प्रथम सूक्त सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का वर्णन करता है। उसमें व्रात्य को आदि देव कहा गया है। पृथ्वी की पूतात्मा को ही व्रात्य सभी वस्तुओं का आदि एवं मूल कारण समझते थे। प्रथम देवता को ज्येष्ठ ब्राह्मण[2] कहा गया है। यह भी कहा गया है कि महात्माओं के विचरण तथा कार्यों से ही शक्ति का संचार होता है। अतः सनातन और श्रेष्ठ व्रात्य को ही सभी वस्तुओं का मूल कारण बताया गया है।

इसके गतिशील होने से ही भूमंडल की समस्त मृतप्राय शक्तियाँ जाग उठती हैं। ब्राह्मणों के तप एवं यज्ञ की तरह व्रात्यों के भी सुवर्ण देव माने गये हैं और ये ही पृथ्वी के मूल कारण हैं। व्रात्य परम्परा केवल सामवेद और अथर्व से वेद में ही सुरक्षित है अन्यथा व्रात्य-परम्परा के विभिन्न अंशों को ब्राह्मण साहित्य से आमूल निकालकर फेंक देने का यत्न किया गया है। अप्रजनित सुवर्ण[3] ही सांख्य का अदृश्य प्रधान है जो दृश्य जगत् का कारण है। प्रथम पर्याय में व्रात्य सम्बन्धी सभी उल्लेख नपुंसक लिंग में हैं और इसके बाद दिव्य शक्तियों की परम्परा का वर्णन है, जिसका अन्त एक व्रात्य में होता है।

दो से सात तक के सूक्तों में विश्वव्यापी मनुष्य के रूप में एक व्रात्य के भ्रमण और क्रियाओं का वर्णन है जो संसार में व्रात्य के प्रच्छन्न रूप में घूमता है। विश्व का कारण संसार में भ्रमण करनेवाली वायु है। ये सूक्त एक प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—वर्षा, अन्न तथा भूमि की उर्वरता का भी वर्णन करते हैं। चौदहवें सूक्त में दिव्य शक्तियाँ विश्व व्रात्य की भ्रमण-शक्ति से उत्पन्न होती है।

द्वितीय सूक्त व्रात्य का परिभ्रमण वर्णन करता है। वह चारों दिशाओं में विचरता है। इसके मार्ग, देव, साम और अनुयायी विभिन्न दिशाओं में विभिन्न हैं। विश्व व्रात्य एवं

---

1. हावर का डेर व्रात्य देखें तथा भारतीय अनुशीलन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९९० वै० सं० पृ० १३—२२ देखें।
2. अथर्ववेद १०.७-१७।
3. अथर्ववेद १९.१.१।

सांसारिक व्रात्य के साथी और सामग्री सब जगह है जो धर्मकृत्यों के लिए बिचरते हैं। यही पूत प्रदक्षिणा है। छठे सूक्त में सारा जगत् विश्व व्रात्य के संग घूमता है और महत्ता की धारा में मिल जाता है (महिमा सद्रु:)। वही संसार के चारों ओर विस्तीर्ण महा समुद्र हो जाता है। व्रात्य विश्व के कोने-कोने में वायु के समान व्याप्त है। जहाँ कहीं व्रात्य जाता है, प्रकृति की शक्तियाँ जाग खड़ी होती हैं और इसके पीछे चलने लगती हैं। दूसरे सूक्त से प्रकट है कि व्रात्यों की विश्व की आध्यात्मिक कल्पना अपनी थी। इसमें विभिन्न जगत् थे और प्रत्येक का वन्द्य देव भी अलग था और ये सभी सनातन व्रात्य के अधीन थे।

तृतीय सूक्त में विश्व व्रात्य एक वर्ष तक सीधा खड़ा रहता है। उनकी आसन्दी (बैठने का आसन) महाव्रत का चिह्न है। व्रात्य संसार का उद्गाता है और विश्व को अपने साम एवं ओम् के उच्चारण से व्याप्त करता है। सभी देव एवं प्रजा उसके अनुयायी हैं तथा उसकी मनः कल्पना उसकी दूती होती है। अनादि व्रात्य से रज उत्पन्न होता है और राजन्य उससे प्रकट होता है। यह राजन्य सबन्धु वैश्यों का एवं अन्नों का स्वामी तथा अन्य का उपभोक्ता[1] हो जाता है। नवम सूक्त में सभा, समिति, सेना, सुरा इत्यादि, जो इन ब्राह्मणों के महा समुदय हैं, तथा पियक्कड़ों के झुंड इस व्रात्य के पीछे-पीछे चलते हैं।

दसवें और तेरहवें सूक्त में सांसारिक व्रात्य विद्वानों तथा राजन्यों एवं साधारण व्यक्ति के घर अतिथि के रूप में जाता है। यह भ्रमणशील अतिथि संभवतः वैखानस है जो बाद में यति, योगी और सिद्ध कहलाने लगा। यह व्रात्य एक व्रात्य[2] का पृथ्वी पर प्रतिनिधि था। यदि व्रात्य किसी के घर एक रात ठहरता था तो गृहस्थ पृथ्वी के सभी पुण्यों को पा लेता था, दूसरे दिन ठहरता तो अन्तरिक्ष के पुण्यों को, तृतीय दिन ठहरता तो स्वर्ग के पुण्यों को, चौथे दिन ठहरता तो पूतातिपूत पुण्य को और यदि पाँचवें दिन ठहरता तो अविजित पूत अयनों (घरों) को प्राप्त कर लेता था। कुछ लोग व्रात्य के नाम[3] पर भी जीते थे जैसा कि आजकल अनेक साधु, नाम के साधु बनकर, साधुओं को बदनाम करते हैं। किन्तु गृहस्थ को आदेश है कि व्रात्यब्रुव (जो सचमुच व्रात्य न हो, किन्तु अपनेको व्रात्य कहकर पुजवावे उसे व्रात्य ब्रुव कहते हैं) भी उसके घर अतिथि के रूप में पहुँच जाय तो उसे सत्य व्रात्य की सेवा का ही पुण्य मिलेगा। बारहवें सूक्त में अतिथि पहले के ठाट और अनुयायियों के साथ नहीं आता। अब वह विद्वान् व्रात्य हो गया है जिसके ज्ञान ने व्रात्य के कर्म-कांड का स्थान ले लिया है। यह व्रात्य प्राचीन भारत का भ्रमणशील योगी या संन्यासी है।

चतुर्दश सूक्त लघु होने पर भी रहस्यवाद या गूढार्थ का कोष है। संसार की शक्तियाँ तथा विभिन्न दिव्य जीवों के द्वादश गण उठकर व्रात्य के पीछे-पीछे बारहों दिशाओं में चलते हैं। ये द्वादश गण विभिन्न भक्ष्य तैयार करते हैं तथा संस्कृत सांसारिक व्रात्य उन्हें उनके साथ बाँटकर खाता है। इस सूक्त को समझने के लिए प्राचीन काल के लोगों के अनुसार अन्न का गुण जानना आवश्यक है। व्रात्य अध्ययन का यह एक मुख्य विषय था। अध्ययन के विषय थे कि अन्न किस प्रकार शरीर में व्याप्त हो जाता है और कैसे मनःशक्ति का पोषण करता है; भक्ष्य

---

१. अ० वे० १५.८.१–२।
२. ,, ,, १५.८.३।
३. ,, ,, १५.१३.११।

वस्तुओं में सत्यतः कौन वस्तु भक्षणीय है और कौन-सी शक्ति इसे पचाती है। यह प्रकृति और चेतन की समस्या का आरम्भ मात्र था। इससे अन्न और उसके उपभोक्ता का प्रश्न उठता है तथा प्रधान या पुरुष के अद्वैतवाद का भी। अतः इस चतुर्दश सूक्त को व्रात्य कांड का गूढ़ तत्त्व कह सकते हैं। इसका आध्यात्मिक निरूपण महान् है। व्रात्य के आध्यात्मिक अस्तित्व और उत्पादक शक्तियों से विश्व का प्रत्येक कोना व्याप्त हो जाता है। विश्व एक नियमित सजीव देह है जिसका स्वामी है—अनादि व्रात्य। विद्वान् व्रात्य इस जगत् में उसका सहकारी है।

अनादि व्रात्य २१ प्रकार से श्वास लेता है; अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सांसारिक व्रात्य भी किसी-किसी प्रकार का प्राणायाम करता होगा तथा जिस प्रकार पूर्ण वर्ष भर सीधा खड़ा रहता था। उसी प्रकार व्रात्य भी कुछ-न-कुछ योग क्रियाएँ करता होगा। हमें यहीं पर हठयोग का बीज मिलता है। योग की प्रक्रिया एवं त्रिगुणों [1] का मूल भी हमें व्रात्य-परंपरा में ही मिलेगा।

अतः यह सिद्ध है कि व्रात्य कांड एकव्रात्य का केवल राजनीतिक हथकंडा नहीं है; किन्तु वैदिक आर्यों के लाभ के लिए वेदान्तिक सिद्धान्तों का भी प्रचार करता है।

वैदिक और व्रात्य धर्म

भारतीय आर्य साहित्य और संस्कृति अनेक साहित्यों और संस्कृतियों के मेलजोल से उत्पन्न हुई है। मूलतः इसके कुछ तत्त्व अनार्य, प्राच्य एवं व्रात्य है। उपनिषद् और पुराणों पर व्रात्यों का काफी प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार त्रयी के ऊपर वैदिक आर्यों की गहरी छाप है। दोनों संस्कृतियों का संघटन सर्वप्रथम मगध में ही हुआ। अथर्ववेद का अधिकांश संभवतः व्रात्य देश में ही पुरोहितों के गुटका के रूप में रचा गया, जिसका प्रयोग आर्य ब्राह्मण आर्य धर्म परिणत व्रात्य यजमानों के लिए करते थे। संभवतः अथर्ववेद को वेद की सूची में नहीं गिनने का यही मुख्य कारण मालूम होता है। उपनिषदों का दृढ सिद्धान्त है कि वैदिक स्वर्ग की इच्छा तथा परिपूर्त्ति औपनिषदिक ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में बाधक है; क्योंकि सांसारिक सुखों के लेश मात्र भोग से ही अधिक भोग की कामना होती है तथा पूर्त्ति न होने से ग्लानि होती है। अतः ब्रह्मविद् का उपदेश है कि पूर्णत्याग सच्चे सुख का मार्ग है, न कि वैदिक स्वर्ग के लिए निरन्तर अभिलाषा और हाय-हाय करना।

अनुमान किया जाता है कि औपनिषदिक सिद्धान्तों का प्रसार व्रात्य राजन्यों के बीच वैदिक आर्यों से स्वतंत्र रूप में हुआ। ब्राह्मण साहित्य में भी वेदान्त के मूलतत्त्वों का एकाधिकार क्षत्रियों [2] को दिया गया है। यह क्षत्रिय आर्यवासियों के लिए उपयुक्त न होगा; क्योंकि आर्य जाति की प्रारंभिक अवस्था में ब्राह्मण और क्षत्रिय विभिन्न जातियाँ नहीं थीं। यह वचन केवल प्राची के व्रात्य राजन्यों के लिए ही उपयुक्त हो सकेगा जिनकी एक विभिन्न शाखा थी तथा जो अपने सूत पुरोहितों को भी आदर के स्थान पर दूर रखते थे। सत्यतः जहाँ तक विचार, सिद्धान्त एवं विश्वास का क्षेत्र है, वहाँ तक आर्य ही औपनिषदिक तत्त्वों में परिवर्तित हो गये तथा इस नये आर्य धर्म के प्रचार का दंभ भरने लगे। वेद ज्ञान पूर्ण ब्राह्मण भी हाथों में समिधा लेकर इन राजन्यों के पास जाते थे; क्योंकि इन्हीं राजन्यों के पास इन गूढ सिद्धान्तों का ज्ञानकोष था।

---

१. अ० वे० १०. ८. ४३।
२. गीता ६. २.।

चतुर्थ अध्याय

प्राङ्मौर्यवंश

पाणिनि [1] के गणपाठ में करुषों का वर्णन भर्ग, केकय एवं काश्मीरों के साथ आता है। पाणिनि सामान्यतः प्राङ् मौर्य काल का माना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण [2] में चेरों का वर्णन वंग और मगधों के साथ आता है। पुण्ड्रों का वर्णन [3] आन्ध्र, शबर और पुलिंदों के साथ किया गया है। ये विश्वामित्र के पचास ज्येष्ठ पुत्र शुनःशेप के पोष्यपुत्र न मानने के कारण चांडाल कहे गये हैं। इन पुण्ड्रों का देश आधुनिक बिहार-बंगाल था, ऐसा मत[4] कीथ और मैक्डोनल का है। संभवतः यह प्रदेश आजकल का छोटानागपुर, कर्क खण्ड या झारखंड है, जहाँ मुण्डों का आधिपत्य है।

वैशाली शब्द वैदिक साहित्य में नहीं मिलता; किन्तु अथर्ववेद [5] में एक तक्षक वैशालेय का उल्लेख है जो विराज का पुत्र और संभवतः विशाल का वंशज है। पंचविंश ब्राह्मण [6] में ये सर्पसत्र में पुरोहित का कार्य करते हैं। नाभानेदिष्ट, जो पुराणों में वैशाली के राजवंश में है, ऋग्वेद १०-६२ सूक्त का ऋषि है। यह नाभानेदिष्ट संभवतः अवेस्ता [7] का नबंजोदिष्ट है।

शतपथ ब्राह्मण [8] में विदेघ माथव की कथा पाई जाती है। वैदिक साहित्य [9] में विदेह का राजा जनक ब्रह्म विद्या का संरक्षक माना जाता है। यजुर्वेद [10] में विदेह की गायों का उल्लेख है। भाष्यकार इसे गौ का विशेषण मानता है और उन्होंने इसका अर्थ किया है दिव्य देह-धारी गौ। स्थान विशेष का नाम स्पष्ट नहीं है।

---

१. पाणिनि ४.१.१७८। यह एक आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत साहित्य का सबसे महान् पण्डित एक पाठान था जिसने अष्टाध्यायी की रचना की।

२. ऐतरेय २.१.१।

३. ऐतरेय ब्राह्मण ७.१८ सांख्यायन श्रौत सूत्र १५.२६।

४. वैदिक इन्डेक्स भाग १ पृ० ५३६।

५. अथर्ववेद ८.१०.२९।

६. पं० ब्रा० २५.१५.३।

७. वैदिक इंडेक्स १.४४२।

८. शतपथ ब्रा० १.४.१.१० इत्यादि

९. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.८.२; ४.२.६; ६.३०।
शतपथ ब्राह्मण १९.३.१.२; ६.२.१; ३.१।
तैत्तिरीय ब्राह्मण २.१०९.९।

१०. तैत्तिरीय संहिता २.१.४.५; काठक संहिता १४.१।

अथर्व वेद में अंग[1] का नाम केवल एक बार आता है। गोपथ[2] ब्राह्मण में अंग शब्द 'अंग मगधाः' समस्त पद में व्यवहृत है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में अंग वैरोचन अभिषिक्त राजाओं की सूची में है।

मगध[4] का उल्लेख भी सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही मिलता है। यह ऋग्वेद[5] के दो स्थलों में आता है तथा नन्दों का उल्लेख पाणिनि के लक्ष्यों में दो स्थानों पर हुआ है।

यद्यपि प्रद्योत और शिशुनागवंश का उल्लेख किसी भी प्राङ्मौर्य साहित्य में नहीं मिलता तो भी पौराणिक, बौद्ध और जैन स्रोतों के आधार पर हम इस काल का इतिहास तैयार करने का यत्न कर सकते हैं। विभिन्न वंशों का इतिहास-वर्णन वैदिक साहित्य का विषय नहीं है। ये उल्लेख प्रायः आकस्मिक ही हैं। इस काल के लिए पुराणेतिहास का आश्रय लिये बिना निर्वाह नहीं है।

---

१. अथर्ववेद ५.२२.१४।

२. गोपथ ब्रा० २.६।

३. ऐतरेय ब्रा० ८.२२।

४. अथर्ववेद ५.२२.१४।

५. ऋग्वेद १.३६.१८; १०.४६.६।

६. पाणिनि २.४.२१; ६.२.१४।

पंचम अध्याय

करुष

करुष मनुवैवस्वत का षष्ठ पुत्र[1] था और उसे प्राची देश का राज्य मिला था। मालूम होता है कि एक समय काशी से पूर्व और गंगा से दक्षिण समुद्र[2] तक सारा भूखंड करुष राज्य में सन्निहित था। अनेक पीढ़ियों के बाद तितिक्षु के नायकत्व में पश्चिम से आनवों की एक शाखा आई और लगभग कलिपूर्व १३४२ में अपना राज्य बसा कर उन्होंने अंग को अपनी राजधानी बनाया।

करुष की संतति को कारुष कहते हैं। ये दाक्षिणात्यों से उत्तरापथ की रक्षा करते थे तथा ब्राह्मणों एवं ब्राह्मणधर्म के पक्के समर्थक थे। ये कट्टर लड़ाके[3] थे। महाभारत युद्धकाल में इनकी अनेक शाखाएँ थीं, जिन्हें आस-पास की अन्य जातियाँ अपना समकक्ष नहीं समझती थी।

इनका प्रदेश दुर्गम था और वह विन्ध्य पर्वतमाला पर स्थित था। यह चेदी, काशी एवं वत्स से मिला हुआ था। अत: हम कह सकते हैं कि यह पहाड़ी प्रदेश वत्स एवं काशी चेदी और मगध के मध्य था। इसमें बघेलखंड और बुन्देलखंड का पहाड़ी भाग रहा होगा। इसके पूर्व दक्षिण में मुंड प्रदेश था तथा पश्चिम में यह केन नदी तक फैला हुआ था।

रामायण से आभास मिलता है कि कारुष पहले आधुनिक शाहाबाद जिले में रहते थे और वहीं से दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम के पहाड़ों पर भगा दिये गये; क्योंकि यहाँ महाभारत काल में तथा उसके बाद वे इन्हीं प्रदेशों में पाये जाते हैं। उन दिनों यह घोर वन था जिसमें अनेक जंगली पशु-पक्षी रहते थे। यहाँ के वासी सुखी थे; क्योंकि इस प्रदेश में धन-धान्य का प्राचुर्य था। बक्सर में वामन भगवान का अवतार होने से यह स्थान इतना पूत हो चुका था कि स्वयं देवों के राजा इन्द्र भी ब्राह्मण (वृत्र) हत्या के पाप से मुक्त[4] होने के लिए यहाँ आये थे। रामचंद्र अपनी मिथिला-यात्रा में बक्सर के पास सिद्धाश्रम में ठहरे थे। यह अनेक वैदिक[5] ऋषियों का वास-स्थान था।

---

१. वायु ८६.२.३; ब्रह्माण्ड ३.६१.२.३; ब्रह्म ७.२५.४२ ; हरिवंश ११.६५८; मत्स्य १२.२४; पद्म ५.८.१२६; शिव ७.६०.३१; अग्नि २७२.१७; मार्कंण्डेय १०३.१; लिंग १.६६.५१; विष्णु ४.१.४; गरुड १.१३८.४।

२. महाभारत २-५२-१२६।

३. भागवत ६.२.१३।

४. रामायण १.२४.१३.२४।

५. शाहाबाद जिला गजेटियर (बक्सर)।

जिस समय अयोध्या में राजा दशरथ राज्य करते थे, उस समय करुष देश में राजा सुन्द की नारी ताटका करुषों की अधिनायिका थी। वह अपने प्रदेश में आश्रमों का विस्तार नहीं होने देना चाहती थी। उसका पुत्र मारीच रावण का मित्र था। कौशिक ऋषि ने रामभद्र की सहायता से उसे अपने राज्य से हटा कर दक्षिण की ओर मार भगाया। बार-बार यत्न करने पर भी वह अपना राज्य फिर न पा सका; अतः उसने अपने मित्र रावण की शरण ली। ताटका का भी अंत हो गया और उसके वंशजों को विश्वामित्र ने तारकायन गोत्र[1] में मिला लिया।

कुरुवंशी वसु के समय करुष चेदी राज्य के अन्तर्गत था। किन्तु यह प्रदेश शीघ्र ही प्रायः क० सं० १०६४ में पुनः स्वतंत्र हो गया। कारुष वंश के वृद्ध शर्मा[2] ने वसुदेव की पंच वीर[3] माता के नाम से ख्यात कन्याओं में से एक पृथुकीर्ति का पाणि-पीडन किया। इसका पुत्र दन्तवक्र करुष देश का महाप्रतापी राजा हुआ। यह द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित[4] था।

मगध सम्राट् जरासंध प्रायः क० सं० १२११ में अपने सामयिक राजाओं को पराजित करके दन्तवक्र को भी शिष्य के समान रखता था। किन्तु जरासंध की मृत्यु के बाद ही दन्तवक्र पुनः स्वाधीन हो गया। जब सहदेव ने दिग्विजय की तब करुषराज को उनका करद बनना पड़ा। महाभारत युद्ध में पाण्डवों ने सर्वत्र सहायता के लिए निमंत्रण भेजे तब कारुषों ने धृष्टकेतु के नेतृत्व में युधिष्ठिर का साथ दिया। इन्होंने बड़ी वीरता से लड़ाई की; किन्तु ये १४००० वीर चेदी[5] और काशी के लोगों के साथ रण में भीष्म के हाथों मारे गये।

बौद्धकालिक अवशेषों का [सासाराम = सहस्राराम के चंदनपीर के पास पियदसी अभिलेख छोड़कर] प्रायेण आधुनिक शाहाबाद जिले में अभाव होने के कारण मालूम होता है कि जिस समय बौद्धधर्म का तारा जगमगा रहा था, उस समय भी इस प्रदेश में बौद्धों की जड़ जम न सकी। हुवेनसंग (विक्रम शती ६) जब भारत-भ्रमण के लिए आया था तब वह मोहोसोलो (मसाढ़, आरा से तीन कोस पश्चिम) गया था और कहता है कि यहाँ के सभी वासी ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे तथा बौद्धों का आदर[6] नहीं करते थे।

आधुनिक शाहाबाद जिले के प्रधान नगर को प्राचीन काल में आराम नगर कहते थे, जो नाम एक जैन अभिलेख[7] में पाया जाता है। आराम नगर का अर्थ होता है मठ-नगरी और यह नाम संभवतः बौद्धों ने इस नगर को दिया था। होई के अनुसार इस नगर का प्राचीन

---

१. सुविमलचन्द्र सरकार का एजुकेशनल आइडियाज एण्ड इंस्टीच्यूशन इन ऐंसियंट इण्डिया, १६२८, पृ० ६४ देखें। रामायण १-३०-३-२१ व २५।

२. महाभारत २०-१४-१०।

३. ब्रह्मपुराण १४-१६-अन्य थीं—पृथा, श्रुतदेवी, श्रुतश्रवा तथा राजाधिदेवी।

४. महाभारत १-२०१-१६।

५. महाभारत ६-१०६-१८।

६. बील २-६६-६५।

७. आरकियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया भाग ३ पृ० ७०।

नाम आराद था और गौतम बुद्ध का गुरु आरादकलाम जो सांख्य का महान पंडित था, इसी नगर[1] का रहनेवाला था।

पाणिनि[2] भर्ग, यौधेय, केकय, काश्मीर इत्यादि के साथ कारुषों का वर्णन करता है और कहता है कि ये वीर थे। चन्द्रगुप्त मौर्य का महामंत्री चाणक्य अर्थशास्त्र[3] में करुष के हाथियों को सर्वोत्तम बतलाता है। बाण अपने हर्षचरित में करुषाधिपति राजा दध्र के विषय में कहता है कि यह दध्र अपने ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाना चाहता था; किन्तु इसी बीच इसके पुत्र ने इसकी शय्या के नीचे छिपकर पिता का वध कर[4] दिया।

शाहाबाद और पलामू जिले में अनेक खरवार जाति के लोग पाये जाते हैं। इनकी परम्परा कहती है कि ये पहले रोहतासगढ के सूर्यवंशी राजा थे। ये मुंड एवं चेरों से बहुत मिलते-जुलते हैं। रोहतासगढ से प्राप्त त्रयोदश शती के एक अभिलेख में राजा प्रतापधवल अपनेको खयरवाल[5] कहता है। पुराणों में करुष को मनु का पुत्र कहा गया है तथा इसी के कारण देश का भी नाम करुष पड़ा। कालान्तर में इन्हें करुवार (करुष की संतान) कहने लगे, जो पीछे 'खरवार' के नाम से ख्यात हुए।

ऐतरेयारण्यक[6] में चेरों का उल्लेख अत्यन्त आदर से वंग और वगधो (मगधों) के साथ किया गया है। ये वैदिक यज्ञों का उल्लंघन करते थे। चेरपादा का अर्थ माननीय चेर होता है। इससे सिद्ध है कि प्राचीन काल में शाहाबादियों को लोग कितने आदर की दृष्टि से देखते थे।

बक्सर की खुदाई से जो प्रागैतिहासिक सामग्री[7] प्राप्त हुई है, उससे सिद्ध होता है कि इस प्रदेश में एतिहासिक सामग्री की कमी नहीं है। किन्तु आधुनिक इतिहासकारों का ध्यान इस ओर बहुत कम गया है, जिससे इसकी समुचित खुदाई तथा मूल स्रोतों के अध्ययन का महत्त्व अभी प्रकट नहीं हुआ है।

---

१. जर्नल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, भाग ६६ पृ० ७७।
२. पाणिनि ४-१-१७८ का गणपाठ।
३. अर्थशास्त्र २-२।
४. हर्षचरित पृ० १६१ (परब संस्करण)।
५. एपिग्राफिका इंडिका भाग ४ पृ० ३११ टिप्पणी ११।
६. ऐतरेय आरण्यक २-१-१।
७. पाठक संस्मारक ग्रंथ, १९३४ पूना, पृ० २४८-६२। अनन्त प्रसाद बनर्जी शास्त्री का लेख—'गंगा की घाटी में प्रागैतिहासिक सभ्यता के अवशेष'।

षष्ठ अध्याय

कर्कखण्ड (झारखण्ड)

बुकानन के मत में काशी से लेकर वीरभूम तक सारे पहाड़ी प्रदेश को झारखण्ड[1] कहते थे। दक्षिण में वैतरणी नदी इसकी सीमा थी। इस प्रदेश का प्राचीन नाम क्या था, इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं। किन्तु प्राचीन साहित्य में उड्र के साथ[2] पुण्ड्र, पौण्ड्र, पौण्ड्रक या पौण्डरीक ये नाम भी पाये जाते[3] हैं। ऐतरेय[4] ब्राह्मण में पुण्ड्रों का उल्लेख है। पौराणिक[5] परम्परा के अनुसार अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्म पाँचों भाइयों को बलि की रानी सुदेष्णा से दीर्घतमस् ने उत्पन्न किया।

पार्जिटर[6] का मत है कि पुण्ड्र और पौण्ड्र दो विभिन्न प्रदेश हैं। इसके मत में मालदा, दीनाजपुर राजशाही, गंगा और ब्रह्मपुत्र का मध्यभाग जिसे पुण्ड्रवर्द्धन कहते हैं; यही प्राचीन पुण्ड्र देश था। पुण्ड्र देश की सीमा काशी, अंग, वंग और सुह्म थी। यह आजकल का छोटानागपुर प्रदेश है। किन्तु मेरे मत में यह विचार युक्त नहीं। आधुनिक छोटानागपुर प्रदेश ही प्राचीन काल में पुण्ड्र नाम से ख्यात था। जब इसके अधिवासी अन्य भागों में जाकर बसे, तब इस भाग को पुण्ड्रवर्द्धन या पौण्ड्र कहने लगे। छोटानागपुर के ही लोगों ने पौण्ड्रवर्द्धन को बसाया।

यहाँ के आदिवासियों को भी ज्ञात[7] नहीं है कि नागवंशी राजाओं के पहले इस प्रदेश का क्या नाम था? नागवंशी राजाओं के ही नाम पर इसका नाम नागपुर पड़ा। मुसलमान इतिहासकार इसे झारखंड या कोकरा[8] नाम से पुकारते हैं। इस प्रदेश में झार वृक्षों की बहुतायत है। संभवतः इसीसे इसको झारखंड कहते हैं।

---

१. दे० पृ० ८१।

२. प्रिआर्यन एण्ड प्रिड्राविडियन इन इंडिया, सिलवनलेवी जीन प्रिजलुस्की तथा जुल्स ब्लाक लिखित और प्रबोधचन्द्रबागची द्वारा अनूदित, कलकत्ता, १९२९ पृ० ८२ देखें।

३. महाभारत २,५१; ६-६; विष्णुपुराण ४-२४-१८; बृहत्संहिता ५-७४।

४. ऐतरेय ब्रा० ७-१८।

५. मत्स्यपुराण ४७वाँ अध्याय।

६. मार्कण्डेय पुराण अनूदित पृ० ३२६।

७. दी मुण्डाज एण्ड देयर कंट्री, शरतचन्द्रराय-लिखित, १९१२ पृ० १६६।

८. आइने अकबरी, ब्लाकमैन-संपादित, १८७३ भाग १ पृ० ४०१ व ४७६; तथा तुजके जहाँगीरी पृ० १५४। बिहार के हाकिम इब्राहिम खाँ ने इसे हिजरी १०२५ विक्रम सं० १६७२ में बिहार में मिला लिया।

प्राचीन काल में इस क्षेत्र को कर्मखंड के कहते थे। महाभारत में इसका उल्लेख कर्ण की दिग्विजय में वंग, मगध और मिथिला के साथ[१] आया है। अन्य पाठ है अर्कखण्ड। सुखठंकर के मत में यह अंश कश्मीरी, बंगाली और दक्षिणी संस्करणों में नहीं मिलता, अतः यह प्रक्षिप्त[२] है। इसे अर्कखण्ड या कर्क खण्ड इसलिए कहते हैं कि कर्क रेखा या अर्क (सूर्य) छोटानागपुर के राँची[३] होकर जाता है।

आजकल इस प्रदेश में मुण्ड, संथाल, ओरांव, माल्टो, हो, खरिया, भूमिज, कोर, असुर और अनेक प्राग्-द्रविड़ जातियाँ रहती हैं।

इस कर्कखण्ड का लिखित इतिहास नहीं मिलता। मुण्ड लोग इस क्षेत्र में कहाँ से आये यह विवादास्पद[४] बात है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये लेमुरिया से जो पहले भारत को अफ्रिका से मिलाता था तथा अब समुद्र-मग्न है, भारत में आये। कुछ लोगों का विचार है कि ये पूर्वोत्तर से भारत आये। कुछ कहते हैं कि पूर्वी तिब्बत या पश्चिम चीन से हिमालय पार करके ये भारत पहुँचे। दूसरों का मत है कि ये भारत के ही आदिवासी हैं जैसा मुंड लोग भी विश्वास करते हैं; किंतु इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास आधुनिक ज्ञानकोष में स्यात् ही कोई सामग्री हो।

पुरातत्त्वविदों[५] का मत है कि छोटानागपुर और मलय प्रायद्वीप के अनेक प्रस्तर अस्त्र-शस्त्र आपस में इतने मिलते-जुलते हैं कि वे एक ही जाति के मालूम होते हैं। इनके रीति-रिवाज भी बहुत मिलते हैं। भाषाविदों ने भी इन लोगों की भाषाओं में समता ढूँढ़ निकाली है। संभवतः मुण्डारी भाषा बोलनेवाली सभी जातियाँ प्रायः भारत में ही रहती[६] थीं और यहींसे वे अन्य देशों में गईं। जहाँ उनके अवशेष मिलते हैं। संभवतः नाग-सभ्यता अर्द्धवृत्त में भारत में तथा बाहर भी फैली[७] हुई थी। मोहनजोदाड़ो में भी नाग-चिह्न पाये गये हैं। अर्जुन ने एक नाग कन्या से विवाह किया था तथा रामभद्र के पुत्र कुश ने नाग-कन्या कुमुद्वती[८] से विवाह किया था। इन नागों ने नागपुर, नागेरकोली, नागपट्टन व नागापर्वत नामों में अपना नाम जीवित रखा है। महावंश और प्राचीन दक्षिण भारत के अभिलेखों में भी नागों का उल्लेख है।

मुंड-सभ्यता में उत्पत्ति-परंपरा

आदि में पृथ्वी जलमग्न थी। सिंगबोंगा ने (=भग=सूर्य) जल से कच्छप, केकड़ा और जोंक पैदा किये। जोंक समुद्र की गहराई से मिट्टी लाया, जिससे सिंगबोंगा ने इस सुन्दर भूमि को बनाया। फिर अनेक प्रकार की औषधि, लता और वृक्ष उत्पन्न हुए। तब नाना पक्षी-पशु

---

१. महाभारत ३-२५५-७।

२. २६ सितम्बर १९४० के एक व्यक्तिगत पत्र में उन्होंने यह मत प्रकट किया था।

३. तुलना करें—कराँची।

४. शरतचन्द्र राय का मुण्ड तथा उनका देश पृ० १६।

५. ग्रियर्सन का लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग ४ पृ० १।

६. शरतचन्द्र राय पृ० २३।

७. वेंकटेश्वर का इण्डियन कल्चर थ्रू द एजेज. महीसुर विश्वविद्यालय, लांगमैन एण्ड कंपनी १९२८।

८. रघुवंश १७-६।

जन्मे। फिर हर नामक पक्षी ने (जो जीवन में एक ही अंडा देता है) या हंस में एक अंडा दिया जिससे एक लड़का और लड़की पैदा हुई। ये ही प्रथम मनुष्य थे। इस जोड़े को लिंग का ज्ञान न था। अतः बोंगा ने इन्हें इलि (इड़ा = जल) या शराब तैयार करने को सिखलाया। अतः तातहर (= शिव) तथा तातबूरी प्रेम मग्न-होकर संतानोत्पत्ति करने लगे। इनके तीन पुत्र हुए, मुंड, नंक तथा रोर या तेनहा। यह उत्पत्ति सर्वप्रथम ऐसे स्थान में हुई जिसे अजगढ़, अजयगढ़, अजबगढ़, आजमगढ़ या आदमगढ़ कहते हैं। इसी स्थान से मुंड सर्वत्र फैले। सन्थाली परम्परा के अनुसार संथाल, हो, मुण्ड, भूमिज आदि जातियाँ खरवारों से उत्पन्न हुई और ये खरवार अपनेको सूर्यवंशी क्षत्रिय बतलाते हैं। स्यात् अयोध्या से ही मुण्ड का प्रदेश में आये।

यहाँ के आदिवासियों को कोल भी कहते हैं। पाणिनि[1] के अनुसार कोल शब्द कुल से बना है, जिसका अर्थ होता है एकत्र करना या भाई-बंधु। ये आदिवासी अपनेको मुण्ड कहकर पुकारते हैं। मुण्ड का अर्थ श्रेष्ठ होता है। गाँव का मुखिया भी मुण्ड कहलाता है, जिस प्रकार बैशाली में सभी अपनेको राजा कहते थे। संस्कृत में मुण्ड शब्द का अर्थ होता है—जिसका शिर मुण्डित हो। महाभारत[2] में पश्चिमोतर प्रदेश की जातियों के लिए भी मुण्ड शब्द प्रयुक्त हुआ है। आर्य शिर पर चूड़ा (चोटी) रखते थे और चूड़ा-रहित जातियों को घृणा की दृष्टि से देखते[3] थे। पाणिनि[4] के समय भी ये शब्द प्रचलित थे।

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व

यद्यपि इस प्रदेश में पुरातत्त्व विभाग की ओर से खोज नहीं के बराबर हुई है, तथापि प्राप्त सामग्री से सिद्ध होता है कि यहाँ मनुष्य अनादि काल से रहते[5] आये हैं और उनकी भौतिक सभ्यता का यहाँ पूर्ण विकास हुआ था। प्राचीन प्रस्तर-युग[6] की सामग्री बहुत ही कम है। जब हम प्रस्तरयुग की सभ्यता से ताम्र युग की सभ्यता में पहुँचते हैं, तब उनके विकास और सभ्यता की उत्तरोत्तर वृद्धि के चिह्न मिलने लगते हैं। असुरकाल[7] की ईंटों की लम्बाई १७ इंच, चौड़ाई १० इंच और मोटाई ३ इंच है। ताम्र के सिवा कुछ लौह वस्तुऐं भी पाई गई हैं। असुरों ने ही इस क्षेत्र में लोहे का प्रचार किया। ये अपने मुर्दों को बड़ी सावधानी से गाड़ते थे तथा मृत के लिए भोजन, जल और दीप का भी प्रबंध करते थे, जिससे परलोक का का मार्ग प्रकाशमय रहे। इससे प्रकट है कि ये असुर जन्मान्तर में भी विश्वास करते थे।

ये प्रागैतिहासिक असुर संभवत: उसी सभ्यता के थे जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा तक फैली हुई थी। दोनों सभ्यता एक ही कोटि की है।

---

१. कुल संस्थानेबन्धुषुच। धातु पाठ (८६७) भ्वादि।
२. महाभारत ३-५१; ७-११९।
३. प्रि-आर्यन एण्ड प्रि-ड्राविडियन इन इंडिया, पृ० ८७।
४. पाणिनि २-१-७२ का गणपाठ कम्बोज मुण्ड यवन मुण्ड।
५. शरच्चन्द्र राय का छोटानागपुर का पुरातत्त्व और मानवविग्दर्शन, राँची जिला स्कूल शताब्दी संस्करण, १९३९, पृ० ४२-५०।
६. ज० वि० ओ० रि० सो० १९१६ पृ० ६१-७७ 'राँची के प्रागैतिहासिक प्रस्तर अस्त्र।' शरच्चन्द्र राय लिखित।
७. ज० वि० ओ० रि० सो० १९२६ पृ० १४७-५२—प्राचीन व आधुनिक असुर

किन्तु एक तो संसार की विभिन्न प्रगतिशील जातियों के सम्पर्क के कारण उन्नत होती गई तथा दूसरी अशिक्षित-समुदाय में सीमित रहने के कारण पनप न सकी।

योगीमारा गुम्फाभिलेख

यह अभिलेख सरगुजा राज में है। यहाँ की दीवारों की चित्रकारी भारत में सबसे प्राचीन है। इसपर निम्नलिखित पाठ[1] पाया जाता है।

सुतनुका (नाम) देवदशय तं काममिथ—वलुणासेयँ देयदिन नाम लुप दखे।

यहाँ के मठ में सुतनुका नाम की देवदासी थी। वरुणासेव (वरुण का सेवक) इसके प्रेमजाल में पड़ गया। देवदीन नामक न्यायकर्त्ता ने उसे विनय के नियमों का भंग करने के कारण दण्ड दिया।

संभवतः उदाहरण स्वरूप सुतनुका को दण्ड-स्वरूप गुफा में बन्द करके उसके ऊपर अभिलेख लिखा गया, जिससे लोग शिक्षा लें। यह अभिलेख ब्राह्मी लिपि का प्रथम नमूना है। इसकी भाषा रूपकों की या प्रियदर्शी-लेख की मागधी नहीं; किन्तु व्याकरण-बद्ध मागधी है।

दस्यु और असुर

दस्यु शब्द का अर्थ[2] चोर और शत्रु होता है। दस्यु का अर्थ पहाड़ी भी होता है। भारतीय साहित्य[3] में असुरों को देवों का बड़ा भाई कहा गया है। वेवर[4] का मत है कि देव और असुर भारतीय जन-समुदय की दो प्रधान शाखाएँ थीं। देव-यज्ञ करनेवाले गौरांग थे, तथा असुर अदेव जंगली थे। कुछ लोगों का मत है कि देवों के द्वारा दस्यु ही भारत की जंगली जातियों के लोग थे, जिन्हें ब्राह्मणों[5] का शत्रु (ब्रह्मद्विष), घोर चक्षस (भयानक आँखवाला), क्रव्याद, (कच्चा मांस खानेवाला), अवर्तन् (संस्कार-हीन), कृष्णात्वक् (काला चमड़ेवाला), शिशिप्र (भद्दी नाकवाला) एवं मृध्नवाच (अशुद्ध बोलनेवाला) कहा गया है। कुछ लोग असुरों को पारसियों का पूर्वज मानते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण[6] में दस्युओं की उत्पत्ति विश्वामित्र के शप्तलघु पुत्रों से बताई गई है। मनु[7] कहता है कि संस्कारहीन होने से च्युत जातियाँ दस्यु हो गईं। पुराणों के अनुसार[8] ऋषियों ने राजावेण के पापों से व्याकुल होकर उसे शाप दिया। राज चलाने के लिए उसके शरीर का मंथन किया। दक्षिण अंग से नाटा, कौए-सा काला, छोटा पैर, चपटी नाक, लाल आँख और घुँघराले बालवाला निषाद उत्पन्न हुआ। बायें हाथ से कोल-भील हुए। नहुष के पुत्र

१. ज० बि० उ० रि० सो० १९१३ पृ० २७३-९१। अनन्त प्रसाद बनर्जीशास्त्री का लेख।

२. दस्यु श्चौरे रिपौ पुंसि—मेदिनी।

३. विष्णु पुराण १-५-२८-३२ ; महाभारत १२-८४; अमरकोष १-१-१२।

४. वेवर वैदिक इण्डेक्स १-१८ ; २-३४३।

५. ऋग्वेद ७-१०४-२; १-१३०-८; ५-४५,६; ५-३२-८।

६. ऐ० ब्रा० ७-१८।

७. मनुसंहिता १०-४-५।

८. कलकत्ता रिव्यू, भाग ६६ पृ० ३११, भागवत ४'१४।

ययाति[1] ने अपने राज्य को पाँच भागों में बाँट दिया। तुर्वसु की दशवीं पीढ़ी में पाण्ड्य, केरल, कोल और चोल चारों भाइयों ने भारत को आपस में बाँट लिया। उत्तरभारत कोल को मिला। विल्फर्ड के मत में प्राचीन जगत् भारत को इसी कोलार या कुली नाम से जानता था। किन्तु यह सिद्धान्त प्लूतार्क के भ्रमपाठ पर निर्धारित था जो अब अशुद्ध[2] माना गया है। ये विभिन्न मतभेद एक दूसरे का निराकरण करने के लिए यथेष्ट हैं।

पुनर्निर्माण

पौराणिक मतैक्य के अभाव में हमें जातीय परंपरा के आधार पर ही पुण्ड्रदेश के इतिहास का निर्माण करना होगा। ये मुण्ड एकासी बड़ी एवं तिरासी पिंडी से अपनी उत्पत्ति बतलाते हैं। ये अपने को करुष की संतान बतलाते हैं। एकासी बड़ी संभवतः शाहाबाद के पीरो थाना में एकासी नामक ग्राम है और तिरासी नाम का भी उसी जिले में एक दूसरा गाँव है। रामायण में करुषों को दक्षिण की ओर भगाये जाने का उल्लेख है। राजा बली को वामनावतार में पाताल भेजा जाता है। बली मुण्डों की एक शाखा है। इससे सिद्ध है कि ये आधुनिक शाहाबाद जिले के जंगली प्रदेश में गये और विन्ध्य पर्वतमाला से अरावली पर्वत तक फैल गये। बाहर से आने का कहीं भी उल्लेख या संकेत न होने के कारण इन्हें विदेशी मानना भूल होगा। ये भारत के ही आदिवासी हैं जहाँ से संसार के अन्यभागों में इन्होंने प्रसार किया।

शरच्चन्द्र राय के मत[3] में इनका आदि स्थान आजमगढ़ है। यह तभी मान्य हो सकता है जब हम मुण्डों के बहुत आदिकाल का ध्यान करें। क्योंकि सूर्यवंश के वैवस्वत मनु ने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई और वहीं से अपने पुत्र करुष को पूर्व देश का राजा बना कर भेजा। आजमगढ़ अयोध्या से अधिक दूर नहीं है।

मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है कि कोलों ने द्वितीय मनु स्वारोचिष के समय चैलवंश के सुरथ को पराजित किया। सुरथ ने एक देवी की सहायता से इन कोलों को हरा कर पुनः राज्य प्राप्त किया। शबरों का अंतिम राजा त्रेतायुग में हुआ। रघु और नागों ने मिलकर शबरों का राज्य हड़प लिया। इनके हाथ से राज्य भृगुओं के हाथ चला गया। भृगुओं ने ही पितृ परंपरा चलाई, क्योंकि इनके पहले मातृपरंपरा चलती थी।

महाभारत-युद्ध द्वापर के अंत में माना जाता है। संजय[4] भीष्म की युद्ध-सेना का वर्णन करते हुए कहता है कि इसके वाम अंग में करुषों के साथ मुण्ड, विकुंज और कुण्डिवर्ष है। सात्यकि[5] मुण्डों की तुलना दानवों से करता है और शेखी बघारता है कि मैं इनका संहार कर दूँगा, जिस प्रकार इन्द्र ने दानवों का वध किया।

पाण्डवों ने मुण्डों के मित्र जरासंध का वध किया था। अतः पाण्डवों के शत्रु कौरवों का साथ देना मुण्डों के लिए स्वाभाविक था। प्राचीन मुण्डारी संगीत में भी इस युद्ध का संकेत है।

---

१. गुस्तव अयर्ट का भारतवर्ष के मूलवासी।
२. हरिवंश ३०-३२।
३. मुण्ड और उनका देश, पृ० ६२।
४. महाभारत, भीष्म पर्व ५६-८।
५. महाभारत, भीष्म पर्व ७०-११६-३३।

नागवंश

वि० सं० १८५१ में छोटानागपुर के राजा ने एक नागवंशावली तैयार करने की आज्ञा दी। इसका निर्माण वि० सं० १८७२ में हुआ तथा वि० सं० १६३३ में यह प्रकाशित हुई। जनमेजय के सर्प-यज्ञ से एक पुण्डरीक नाग भाग गया। मनुष्य-शरीर धारण करके इसने काशी की एक ब्राह्मण कन्या पार्वती का पाणिग्रहण किया। फिर वह भेद खुलने के भय से तीर्थ-यात्रा के लिए जगन्नाथ पुरी चला गया।

लौटतीवार झारखण्ड में पार्वती बार-बार दो जिह्वा का अर्थ पूछने लगी। पुण्डरीक ने भेद तो बता दिया; किन्तु आत्मग्लानि के भय से कथासमाप्ति के बाद अपने नवजात शिशु को छोड़कर वह सर्वदा के लिए कुण्ड में डूब गया। पार्वती भी सती हो गई। यही बालक फणिमुकुट नागवंश का प्रथम राजा था।

अंग और मगध के बीच चम्पा नदी थी; जहाँ चाम्पेय राजा का आधिपत्य था। अंग और मगध के राजा परस्पर युद्ध करते थे। एक बार अंगराज ने मगधराज को खूब परास्त किया। मगध का राजा बढ़ी नदी में कूद पड़ा और नागराज की सहायता[1] से उनसे अंगराज का वध करके अपना राज्य वापस पाया तथा अंग को मगध में मिला लिया। तब से दोनों राजाओं में गाढी मैत्री हो गई। ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह मगधराज कौन था, जिसने अंग को मगध में मिलाया? हो सकता है कि वह बिम्बिसार हो।

---

१. विधुरपंडित जातक (५४५) भाग ६-२७१।

सप्तम अध्याय

वैशाली साम्राज्य

भारतीय सभ्यता के विकास के समय से ही वैशाली एक महान शक्तिशाली राज्य था। किन्तु हम इसकी प्राचीन सीमा ठीक-ठीक बतलाने में असमर्थ हैं। तथापि इतना कह सकते[1] हैं कि पश्चिम में गंडक, पूर्व में बुढी गंडक, दक्षिण में गंगा और उत्तर म हिमाचल इसकी सीमा थी। अतः वैशाली में आजकल का चम्पारण, मुजफ्फरपुर और दरभंगे के भी कुछ भाग सम्मिलित थे। किन्तु बुढी गंडक अपना बहाव बड़ी तेजी से बदलती है। संभवतः इसके पूर्व और उत्तर में विदेह तथा दक्षिण में मगध राज्य रहा है।

परिचय

आधुनिक बसाढ ही वैशाली है, जो मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर परगने में है। इस प्राचीन नगर में खंडहरों का एक बड़ा ढेर है और एक विशाल अनूत्कीर्ण स्तंभ है, जिसके ऊपर एक सिंह की मूर्त्ति है।

वैशाली तीन भागों में विभाजित थी। प्रथम भाग में ७००० घर में जिनके मध्य में सुनहले गुम्बज थे, द्वितीय में १४,००० घर चाँदी के गुम्बजवाले तथा तृतीय में २१००० घर ताम्बे के गुम्बजवाले थे, जिनमें अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल उच्च, मध्यम और नीच श्रेणी के लोग रहते थे। तिब्बती ग्रंथों[2] म वैशाली को पृथ्वी का स्वर्ग बताया गया है। यहाँ के गृह, उपवन, बाग अत्यन्त रमणीक थे। पक्षी मधुर गान करते थे तथा लिच्छवियों के यहाँ अनवरत आनन्दोत्सव चलता रहता था।

रामायण[3] में वैशाली गंगा के उत्तर तट पर बतायी गई है। अयोध्या के राजकुमारों ने उत्तर तट से ही वैशाली नगर को देखा। संभवतः, इन्होंने, दूर से ही वैशाली के गुम्बज को देखा और फिर ये सुरम्य दिव्य वैशाली नगर को गये। 'अवदान कल्पलता'[4] में वैशाली को बल्गुमती नदी के तट पर बताया गया है।

वंशावली

इस वंश या उसके राजा का पहले कोई नाम नहीं मिलता। कहा जाता है कि राजा विशाल ने त्रिशाला या वैशाली को अपनी राजधानी बनाया था। तभी से इस राज्य को वैशाली और इस वंश के राजाओं को वैशालक राजा कहने लगे।

---

१. दे का ज्योग्राफिकल डिक्सनरी आफ एंसियंट व मेडिवल इण्डिया।

२. राकहिल की बुद्ध-जीवनी, पृ० ६२-६३।

३ रामायण १'४४'६-११।

४. अवदान कल्पलता ३६।

यही नाम बाद में सारे वंश और राज्य के लिए विख्यात हुआ। केवल चार ही पुराणों[1] (वायु, विष्णु, गरुड़ और भागवत) में इस वंश की पूरी वंशावली मिलती है। अन्यत्र जो वर्णन हैं, वे सीमित हैं तथा उनमें कुछ छूट भी है। मार्कण्डेय पुराण में इन राजाओं का चरित्र विस्तारपूर्वक लिखा है; किन्तु यह वर्णन केवल राज्यवर्द्धन तक ही आता है। रामायण[2] और महाभारत में भी इस वंश का संक्षिप्त वर्णन पाया जाता है; किन्तु कहीं भी प्रमति से आगे नहीं। यह प्रमति अयोध्या के राजा दशरथ और विदेह के सीरध्वज का समकालीन था।

सीरध्वज के बाद भारत युद्ध तक विदेह में ३० राजाओं ने राज्य किया। परिशिष्ट ख में बताया गया है कि भारत युद्ध क० सं० १२३४ में हुआ। यदि प्रति राज हम २८ वर्ष का मध्य मान रखें तो वैशाली राज का अंत क० सं० ३६४ १२३४-[२८×३०] में मानना होगा। इसी आधार का अवलम्बन लेकर हम कह सकते हैं कि वैशाली वंश की प्रथम स्थापना क० पू० १३४२ में हुई होगी ३६४-[२८×६२]। क्योंकि नाभानेदिष्ट से लेकर प्रयति तक ३४ राजाओं ने वैशाली में और ६२ राजाओं ने अयोध्या में राज्य किया।

वंश

वैवस्वत मनु के दश पुत्र[3] थे। नाभानेदिष्ट को वैशाली का राज्य मिला। ऐतरेय ब्राह्मण[4] के अनुसार नाभानेदिष्ट वेदाध्ययन में लगा रहता था। उसके भाइयों ने इसे पैतृक संपत्ति में भाग न दिया। पिता ने भी ऐसा ही किया और नाभानेदिष्ट को उपदेश दिया कि यज्ञ में आंगिरसों की सहायता करो।

दिष्ट

इस दिष्ट को मार्कण्डेय पुराण[5] में रिष्ट कहा गया है। पुराणों में इसे नेदिष्ट, दिष्ट या अरिष्ट नाम से भी पुकारते हैं। हरिवंश[6] कहता है कि इसके पुत्र क्षत्रिय होने पर भी वैश्य हो गये। भागवत[7] भी इसका समर्थन करता है और कहता है कि इसका पुत्र अपने कर्मों से वैश्य हुआ।

दिष्ट का पुत्र नाभाग[8] जब यौवन की सीढ़ी पर चढ़ रहा था तब उसने एक अत्यन्त मनोमोहनी रूपवती वैश्य कन्या को देखा। उसे देखते ही राजकुमार प्रेम से मूर्च्छित हो गया। राजकुमार ने कन्या के पिता से कहा कि अपनी कन्या का विवाह मुझसे कर दो। उसके पिता ने कहा आप लोग पृथ्वी के राजा हैं। हम आपको कर देते हैं। हम आपके आश्रित हैं। विवाह

---

१. वायु० ८६-३-१२ ; विष्णु ४-१-१५-८ ; गरुड़ १-१३८-५-१३ ; भागवत ९-२-२३-३६ ; लिंग १-६६ ; ब्रह्माण्ड ३-६१-३-१८ मार्कण्डेय १०९-३६।

२. रामायण १-४७-११-७ ; महाभारत ७ ५५ ; १२-१० ; १४-४-६५-८६।

३. भागवत ९-१-१२।

४. ऐ० ब्रा० ५-२-१४।

५. मार्कण्डेय पु० ११२-४।

६. हरिवंश १०-३०।

७. भागवत ९-२-२३।

८. मार्कण्डेय ११३-११५।

सम्बन्ध बराबरी में ही शोभता है। हम तो आपके पासंग में भी नहीं। फिर आप मुझसे विवाह संबंध करने पर क्यों तुले हैं? राजकुमार ने कहा—प्रेम, मूर्खता तथा कई अन्य भावनाओं के कारण सभी मनुष्य एक समान हो जाते हैं। शीघ्र ही अपनी कन्या मुझे दे दो अन्यथा मेरे शरीर को महान् कष्ट हो रहा है। वैश्य ने कहा—हम दूसरे के अधीन हैं जिस प्रकार आप। यदि आपके पिता की अनुमति हो, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। मैं सहर्ष अपनी कन्या दे देने को तैयार हूँ। आप उसे ले जा सकते हैं। राजकुमार ने कहा—प्रेमवार्ता में वृद्ध जनों की राय नहीं लेनी चाहिए। इसपर स्वयं वैश्य ने ही राजकुमार के पिता से परामर्श किया। राजा ने राजकुमार को ब्राह्मणों की महती सभा में बुलाया।

प्रश्न स्वाभाविक था कि एक युवराज जनसाधारण की कन्या का पाणिग्रहण करे या नहीं। इससे उत्पन्न संतान क्या राज्य का अधिकारी होगी? इंगलैंड के भी एक राजकुमार को इसी प्रश्न का सामना करना पड़ा था। भृगुवंशी महामंत्री ऋचिक ने अनुदार भाव से भरी सभा में घोषणा की कि राजकुमारों को सर्वप्रथम राज्याभिषिक्त वंश की कन्या से ही विवाह करना चाहिए।

कुमार ने महात्मा और ऋषियों की बातों पर एकदम ध्यान न दिया। बाहर आकर उसने वैश्य कन्या को अपनी गोद में उठा लिया और कृपाण उठाकर बोला—मैं वैश्य कन्या सुप्रभा को राक्षस विधि से पाणिग्रहण करता हूँ। देखें, किस की हिम्मत है कि मुझे रोक सकता है। वैश्य दौड़ता हुआ राजा के पास सहायता के लिए गया। राजा ने क्रोध में आकर अपनी सेना को राजकुमार के बध करने की आज्ञा दे दी।

किन्तु राजकुमार ने सबों को मार भगाया। इसपर राजा स्वयं रणक्षेत्र में उतरा। पिता ने पुत्र को युद्ध में मात कर दिया। किन्तु एक ऋषि ने बीच-बचाव कर युद्ध रोक दिया और कहा कि कोई भी व्यक्ति पहले अपनी जाति की कन्या से विवाह करे और फिर नीच जाति की कन्या का पाणि-ग्रहण करे तो वह पतित नहीं होता।

किन्तु नाभाग ने इसके विपरीत किया, अतः, वह वैश्य हो गया है। नाभाग ने ऋषि की बात मान ली तथा राजसभा ने भी इस धारा को पास कर दिया।

नाभाग यद्यपि वैश्य हो गया, तथापि द्विज होने के कारण वेदाध्ययन का अधिकारी तो था ही। उसने क्षत्रिय धर्मविमुख होकर वेदाध्ययन आरंभ किया। यज्ञ में आंगिरसों का साथ देने से उसे प्रचुर धन की प्राप्ति हुई। इसका पुत्र वयस्क होने पर ऐलों की सहायता से पुनः राज्य का अधिकारी हो गया। ये ऐल इक्ष्वाकु तथा अन्य सूर्यवंशियों से सद्भावना[1] नहीं रखते थे।

भलन्दन

यह नाभाग का पुत्र[2] था। युवा होने पर इसकी मां ने कहा बेटा—गोपालन करो। इससे भलन्दन को बड़ी ग्लानि हुई। वह काम्पिल्य के पौरव राजर्षि नीप के पास हिमाचल पर्वत पर

१. वसिष्ठ और विश्वामित्र की कथा विख्यात है। नहुष ऐलवंश के राजा से दुर्भाव रखता था। अहल्या ऐल वंश की राजकुमारी थी। सूर्य वंश के पुरोहित से विवाह करने के कारण उसे कष्ट झेलना पड़ा। भरत की मां ऐल-वंश की थी, अतः भरत को भी लोग सूर्यवंशी राम को गद्दी से हटाने के लिए ब्याज बनाना चाहते थे। कोशल का हैहयतालजंघ द्वारा अपहरण भी इसी परंपरा की शत्रुता का कारण था।

२. मार्कण्डेय पुराण ११६ अध्याय।

गया। उसने नीप से कहा—मेरी माता मुझे गोपालन के लिए कहती है। किन्तु मैं पृथ्वी की रक्षा करना चाहता हूँ। हमारी मातृभूमि शक्तिशाली उत्तराधिकारियों से घिरी है। मुझे उपाय बतावें।

नीप ने उसे खूब अस्त्र-शस्त्र चलाना सिखाया और अच्छी संख्या में शस्त्रास्त्र भी दिये। तब भलन्दन अपने चचा के पुत्र वसुरात इत्यादि के पास पहुँचा और अपनी आधिपैतृक संपत्ति माँगी। किन्तु उन्होंने कहा—तुम तो वैश्य पुत्र हो, भला, तुम किस प्रकार पृथ्वी की रक्षा करोगे? इसपर घमासान युद्ध हुआ और उन्हें परास्त कर भलन्दन ने राज्य वापस पाया।

राज्य प्राप्ति के बाद भलन्दन ने राज्य अपने पिता को सौंपना चाहा। किन्तु पिता ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि तुम्हीं राज्य करो; क्योंकि यह तुम्हारे विक्रम का फल है। नाभाग की स्त्री ने भी अपने पति से राज्य स्वीकार करने का अनुरोध किया; किन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। भलन्दन ने राजा होकर अनेक यज्ञ किये।

वत्सप्री

भलन्दन के पुत्र वत्सप्री[1] ने राजा होने पर राजा विदुरथ की कन्या सुनन्दा का पाणिग्रहण किया। विदुरथ की राजधानी निर्विन्ध्या[2] या नदी के पास मालवा में थी। कुजृंभ इस सुनन्दा को बलात् लेकर भागना चाहता था। इसपर विदुरथ ने कहा—जो कोई भी मेरी कन्या को मुक्त करेगा उसी को वह भेंट की जायगी। विदुरथ वत्सप्री के पिता भलन्दन का घनिष्ठ मित्र था। तीन दिनों तक घोर संग्राम के बाद राजकुमार वत्सप्री ने कुजृंभ का बध किया तथा सुनन्दा तथा उसके दो भाइयों को मुक्त किया। अन्ततः वत्सप्री ने सुनन्दा का पाणिग्रहण किया और उसके साथ सुरम्य प्रदेश के प्रासाद में तथा प्रर्वत शिखरों पर निवास करके बहुत आनन्द किया।

इसके राज्य में डाकू, चोर, दुष्ट, आततायी या भौतिक आपत्तियों का भय न था। इसके बारह पुत्र महाप्रतापी और गुणी थे।

प्रांशु

वत्सप्री का ज्येष्ठ पुत्र प्रांशु[3] गद्दी पर बैठा। उसके और भाई आश्रित रहकर उसकी सेवा करते थे। इसके राज-काल में वसुन्धरा ने अपना नाम यथार्थ कर दिया; क्योंकि इसने ब्राह्मणादि को अनन्त धन दान दिये। इसका कोष बहुत समृद्ध था।

प्रजानि

प्रांशु के बाद के राजा को विष्णु[4] पुराण में प्रजानि एवं भागवत[5] में प्रयति कहा गया है। यह महाभारत[6] का प्रसन्धि है। यह महान् योद्धा था तथा इसने अनेक असुरों का संहार किया था। इसके पाँच पुत्र थे।

---

१. मार्कण्डेय पुराण ११६।

२. मालवा में चम्बल की शाखा नदी है। इसे लोग नेवुज या जामरिषि बताते हैं। नन्दलाल दे पृ० १४१।

३. मार्कण्डेय ११७।

४. विष्णु ४-१।

५. भागवत ६-२-२४।

६. महाभारत अश्वमेध ४-६५।

खनित्र

प्रजानि का ज्येष्ठ पुत्र खनित्र राजा हुआ। इसमें अनेक गुण थे। यह रात-दिन अपनी प्रजा के लिए प्रार्थना करता था। यह प्रार्थना[१] किसी भी देश या काल में प्रजा प्रिय राजा के लिए आदर्श हो सकती है।

इसने अपने चारों भाइयों को विभिन्न दिशाओं में प्रेम से राज्य करने के लिए नियुक्त किया; किन्तु ऐसा करने से उसे महा कष्ट उठाना पड़ा। जैसा कि हुमायूँ को अपने भाइयों के साथ दया का बर्ताव करने के कारण भोगना पड़ा। उसने अपने भाई शौरि, मुदावसु या उदावसु, सुनय तथा महारथ को क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का अधिपति बनाया था।

शौरि के मंत्री विश्ववेदी[२] ने अपने स्वामी से कहा—खनित्र आपकी संतानों की चिंता न करेगा। मंत्री ही राज्य के स्तंभ है। आप मंत्रियों की सहायता से राज्य अधिकृत कर स्वयं राज्य करें। अपने ज्येष्ठ भाई के प्रति शौरि कृतघ्नता नहीं करना चाहता था। किन्तु मंत्रियों ने कहा—ज्येष्ठ और कनिष्ठ का कोई प्रश्न नहीं है। यह पृथ्वी वीरभोग्या है। जो राज्य करने की अभिलाष करे, वही राज करता है। अतः शौरि मान गया। विश्ववेदी ने शेष तीनों भाइयों तथा उनके मंत्रियों की सहायता से षड्यंत्र खड़ा किया; किन्तु, सारा यत्न विफल रहा और मंत्री तथा पुरोहित सभी नष्ट हो गये। ब्राह्मणों का विनाश सुनकर खनित्र को अत्यन्त खेद हुआ। अतएव इसने अपने पुत्र क्षुप का अभिषेक किया तथा अपनी तीनों नारियों के साथ उसने वानप्रस्थ का जीवन ग्रहण कर लिया।

क्षुप

यह वही क्षुप है जिसके बारे में महाभारत[३] में कहा गया है कि कृपाण तैयार होने पर मनु ने, जन-रक्षा के लिए, उसे सबसे पहले क्षुप को दिया तथा इक्ष्वाकु[४] को क्षुप से प्राप्त हुआ।

यह राजा अनेक यज्ञों का करनेवाला था तथा मित्र-शत्रु सबके प्रति समान न्याय करता था। यह षष्ठ भाग कर लेता था। इसकी स्त्री प्रपथा से इसे वीर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

वीर को विष्णु[५] पुराण में विंश कहा गया है। नन्दिनी विदर्भ राजकुमारी इसकी प्रिय भार्या थी। इसके पुत्र को विविंशति कहा गया है। इसके राजकाल में पृथ्वी की जन-संख्या बहुत

---

१. मार्कण्डेय ११७-१२-२० । तुलना करें—२६-२२ ।

आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामस्मिन्राष्ट्रे
राजन्यः इषव्यः शूरो महारथो जायतां दोग्ध्री
धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णु
रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो
जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो
न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

—वाजसनेयीसंहिता २६-२२

२. मार्कण्डेय ११७-११८ ।

३. महाभारत १२-१६६ ।

४. यहाँ इक्ष्वाकु का उल्लेख अयुक्त है।

५. विष्णु पुराण ४-१ ।

अधिक हो गई थी। घमसान युद्ध में यह वीर गति को प्राप्त हुआ। अतः हम पाते हैं कि जब कभी पृथ्वी की जन-संख्या बहुत अधिक हो जाती है तब युद्ध या भौतिक ताप होता है जिससे जन-संख्या कम होती है।

खनिनेत्र

विविंश का पुत्र खनिनेत्र[1] महायज्ञ कर्ता था। अपुत्र होने के कारण यह इस उद्देश्य से वन में चला गया कि आखेट-मृगमांस से पुत्र प्राप्ति के लिए पितृयज्ञ करें।

महावन में उसने अकेले प्रवेश किया। वहाँ उसे एक हरिणी मिली जो स्वयं चाहती थी कि मेरा बध हो। पूछने पर हरिणी ने बतलाया कि अपुत्र होने के कारण मेरा मन संसार में नहीं लगता। इसी बीच एक दूसरा हिरण पहुँचा और उसने प्रार्थना की कि आप मुझे मार डालें; क्योंकि अनेक पुत्र और पुत्रियों के बीच मेरा जीवन भार-सा हो गया है। मानों मैं धधकती ज्वाला में जल रहा हूँ। अब संसार का कष्ट मुझसे सहा नहीं जाता। अब दोनों हरिण यज्ञ की बलि होने के लिए लड़ने लगे। राजा को इनसे शिक्षा मिली और वह घर लौट आया। अब इसने बिना किसी जीव की हत्या के ही पुत्र पाने का यत्न किया। राजा ने गोमती नदी के तट पर कठिन तप किया और इसे बलाश्व नामक पुत्र हुआ।

बलाश्व या करंधम

इसे सुवर्चस,[2] बलाश्व या सुबलाश्व भी कहते हैं। खनित्र और इस राजा के बीच कहीं-कहीं विभूति या अतिविभूति भी आ जाता है। यह करंधम के नाम से ख्यात है, जो इसी नाम के ययातिपुत्र तुर्वसु[3] को चौथी पीढ़ी में होनेवाले राजा से विभिन्न है।

जब यह गद्दी[4] पर बैठा तब गद्दी के अन्य अधिकारी आग-बबूला हो गये। उन्होंने तथा अन्य सामन्तों ने आदर या कर देना बंद कर दिया। उन्होंने विप्लव मचाया तथा राज्य पर अधिकार कर लिया। अंत में विद्रोहियों ने राजा को ही नगर में घेर लिया। अब राजा घोर संकट में था; किन्तु उसने साहस से काम लिया और मुक्के के आघात से ही शत्रुओं को परास्त कर दिया। पद व्याख्या के अनुसार उसके कर से उत्पन्न सेना ने शत्रुओं का विनाश किया; अतः उसे करंधम कहते हैं। वीर्यचन्द्र की कन्या वीरा ने स्वयंवर में इसे अपना पति चुना।

अवीक्षित

करंधम के पुत्र अवीक्षित[5] को अवीक्षी भी कहते हैं। महाभारत[6] के अनुसार यह महान् राजा त्रेतायुग के आदि में राज्य करता था और अंगिरस इसका पुरोहित था। इसने सशाङ्ग वेदों का अध्ययन किया। इसकी अनेक स्त्रियाँ थीं।—हेमधर्म, सुतावरा, सुदेवकन्या, गौरी, बलिपुत्री, सुभद्रा, वीर कन्या लीलावती, वीरभद्र दुहिता अभिभा, भीम सुता मान्यवती तथा

१. मार्कण्डेय पुराण ११६।
२. मार्कण्डेय पुराण १२०।
३. महाभारत अश्वमेध ७२-७६।
४. हरिवंश ३२, मत्स्यपुराण ४८।
५. मार्कण्डेय पुराण १२१।
६. महाभारत अश्वमेध ३-८०-५।

दम्भपुत्री कुमुद्वती। जिन नारियों ने इसे स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया, उनका इसने बलात् अपहरण किया।

एक बार यह विदिशा राज्यपुत्री वैशालिनी को लेकर भागना चाहता था। इस शठता से नगर के राजकुमार चिढ़ गये और दोनों दलों के बीच खुल्लम-खुल्ला युद्ध छिड़ गया। किन्तु इस राजकुमार ने अकेले ७०० क्षत्रिय कुमारों[1] के छक्के छुड़ा दिये तथापि अंत में कुमारों की अगणित संख्या होने के कारण इसे मात खाना पड़ा और यह बंदी हो गया।

इस समाचार को सुनकर करंधम ने ससैन्य प्रस्थान किया। तीन दिनोंतक घमासान युद्ध होता रहा तब कहीं जाकर विदिशा के राजा ने हार मानी। राजकुमारी कुमार अवीक्षित को भेंट की गई; किन्तु उसने वैशालिनी को स्वीकार न किया। बार-बार ठुकराने जाने पर वैशालिनीने जंगल में निराहार निर्जल कठिन तपस्या आरंभ की। वह मृतप्राय हो गई। इसी बीच एक मुनि ने आकर उसे आत्महत्या करने से रोका और कहा कि भविष्य में तुम्हें एक पुत्र होगा।

अवीक्षित की मां[2] ने अपने पुत्र को किमिच्छकं व्रत (=क्या चाहते हो। जिससे सबका मनोरथ पुरा हो) करने को प्रेरित किया और इसने घोषणा की कि मैं सभी को मुँहमाँगा दान दूँगा। मंत्रियों ने करंधम से प्रार्थना की कि आप अपने पुत्र से कहें कि तप छोड़कर पुत्रोत्पत्ति करो। अवीक्षित ने इसे मान लिया। जब अवीक्षित जंगल में था तब एक दुष्ट राक्षस एक कन्या का अपहरण किये जा रहा था और वह चिल्ला रही थी कि मैं अवीक्षित की भार्या हूँ। राजकुमार ने राक्षस को मार डाला। तब राजकुमारी ने उसे बताया कि वह विदिशा के राजा की पुत्री, अतः अवीक्षित की भार्या है। फिर दोनों साथ रहने लगे। और अवीक्षित को उससे एक पुत्र भी हुआ। इस पुत्र का नाम मरुत हुआ। अवीक्षित पुत्र और भार्या के साथ घर लौट आया। करंधम अपने पुत्र को राज्य देकर जंगल चला जाना चाहता था; किन्तु अवीक्षित ने यह कहकर राज्य लेना अस्वीकृत कर दिया कि जब वह स्वयं अपनी रक्षा न कर सका तो दूसरों की रक्षा वह कैसे करेगा।

मरुत

यह चक्रवर्त्ती सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध है तथा प्राचीन काल के परम विख्यात षोडश[4] राजा में इसकी भी गणना है।

इसके विषय में परम्परा से यह सुयश चला आ रहा है कि ब्राह्मणों[3] को दान देने में या यज्ञ करने में कोई भी इसकी समता नहीं कर सकता। अब भी लोग प्रतिदिन सनातन हिन्दू परिवार और मन्दिरों में प्रातः सायं उसका नाम मंत्र-पुष्प के साथ लेते हैं। संवर्त्त ने उसे उत्तर हिमालय से सुवर्ण लाने को कहा, जिससे उसके सभी यज्ञीय पात्र और भूमि सुवर्ण की ही बने। उसने हिमालय पर उशीर बीज स्थान पर अंगिरा संवर्त्त को पुरोहित बनाकर

१. मार्कंडेय पुराण १२३।
२. मार्कंडेयपुराण १२४-१२७।
३. महाभारत अश्वमेध ४.२३; द्रोण ५५।
४. मार्कंडेय पुराण, १२६ अध्याय।

यज्ञ किया। कहा जाता है कि रावण[1] ने मरुत को युद्ध करने या हार मानने को आह्वान किया। मरुत ने युद्धाह्वान स्वीकार कर लिया; किन्तु पुरोहित ने बिना यज्ञ समाप्ति के युद्ध करने से मना कर दिया। क्योंकि अपूर्ण यज्ञ से सारे वंश का विनाश होता है। अतः मरुत तो यज्ञ करता रहा और उधर रावण ने ऋषियों का खून खूब पिया। कहा जाता है कि युधिष्ठिर ने भी अश्वमेध यज्ञ के लिए मरुत के यज्ञावशेष को काम में लाया। संवर्त्त ने इसका महाभिषेक[2] किया और मरुत ने अंगिरस संवर्त्त को अपनी कन्या[3] भेंट की।

इसके राजकाल में नागों[4] ने बड़ा ऊधम मचाया और वे ऋषियों को कष्ट देने लगे। अतः इसकी मातामही वीरा ने मरुत को न्याय और शान्ति स्थापित करने को भेजा। मरुत आश्रम में पहुँचा और दुष्ट नागों का दहन आरम्भ कर दिया। इसपर नागों ने इसकी माँ भाविनी (वैशालिनी) से अपने पूर्व वचन को याद कर नागों को प्राणदान देने का अनुरोध किया। वह अपने पति के साथ मरुत के पास गई। किन्तु मरुत अपने कर्त्तव्य पर डटा रहने के कारण अपने माँ-बाप का वचन नहीं माना। अब युद्ध अवश्यम्भावी था। किन्तु एक ऋषि ने बीच-बचाव कर दिया। नागों ने मृत ऋषियों को पुनर्जीवित किया और सभी प्रेम-पूर्वक खुशी-खुशी अपने-अपने घर लौट गये।

इसकी अनेक स्त्रियाँ[5] थीं। पद्मावती, सौवीरी, सुकेशी, केकयी, सैरन्ध्री, वपुष्मती, तथा सुशोभना जो क्रमशः विदर्भ, सौवीर (उत्तरी सिंध और मूलस्थान), मगध, मद्र (रावी और चनाव का दोआब), केकय (व्यास व सतलज का द्वीप), सिन्धु, चेदी, (बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेश का भाग) की राजकन्या थीं। वृद्धावस्था में मान्धाता ने इसे पराजित[6] किया।

मरुत नाम के अन्य भी राजा थे जो इतने सुप्रसिद्ध न थे। यथा—करंधम का पुत्र और ययाति के पुत्र तुर्वसु[7] की पीढ़ी में पंचम, शशबिंदु[8] के वंश म पंचम। इनमें ज्येष्ठ नरिष्यन्त[9] गद्दी पर बैठा और इसके बाद 'दम' गद्दी पर बैठा।

दम

दशार्ण (पूर्वमालवा भूपाल सहित) के राजा चारुकर्ण की पुत्री सुमना[10] ने स्वयंवर में दम को अपना पति बनाया। मद्र के महानद, विदर्भ के संक्रन्दन, तथा वपुष्मत चाहते थे

---

१. रामायण ७-१८। यह आक्रमण संभवतः आन्ध्रों के उत्तरभारताधिकार की भूमिका थी।

२. ऐतरेय ब्राह्मण ८-२१।

३. महाभारत १२-२२४।

४. मार्कण्डेय पुराण १२० अध्याय।

५. वहीं ,, १२१।

६. महाभारत १२-२८-८८।

७. विष्णु ४-१६।

८. मत्स्यपुराण ४४-२४।

९. मार्कण्डेयपुराण १३२।

१०. वहीं ,, १३३।

कि हम तीनों में से ही कोई एक सुमना का पाणि-पीड़न करे। दम ने उपस्थित राजकुमारों और राजाओं से इसकी निन्दा की; किन्तु इन लोगों ने जब कान न दिया, तब इसे बाहुबल का अवलम्ब लेना पड़ा और विजयलक्ष्मी तथा गृहलक्ष्मी को लेकर वह घर लौटा। पिता ने इसे राजा बना दिया और स्वयं अपनी रानी इन्द्रसेना के साथ वानप्रस्थ ले[1] लिया। पराजित कुमार वपुष्मत ने वन में नरिष्यन्त की हत्या कर दी। इन्द्र सेना ने अपने पुत्र दम को हत्या का बदला लेने का संवाद भेजा। वपुष्मत को मारकर उसके रक्तमांस से दम ने अपने पिता का श्राद्ध किया।

• राज्यवर्द्धन

वायु पुराण इसे राष्ट्रवर्द्धन कहता है। इसके राज्य में सर्वोदय[3] हुआ। रोग, अनावृष्टि और सर्पों का भय न रहा। इससे प्रकट है कि इसका जनस्वास्थ्य-विभाग और कृषि-विभाग पूर्ण विकसित था। विदर्भ राजकन्या मानिनी इसकी प्रिय रानी थी। एक बार पति के प्रथम श्वेतकेश को देखकर वह रोने लगी। इसपर राजा ने प्रजा-सभा को बुलाया और पुत्र को राज्य सौंपकर स्वयं राज्य त्याग करना चाहा। इससे प्रजा व्याकुल हो उठी। सभी कामरूप के पर्वत प्रदेश में गुरु विशाल वन में तपस्या के लिए गये और वहाँ सूर्यपूजा के फल से राजा दीर्घायु हो गया।

किन्तु जब राजा ने देखा कि हमारी शेष प्रजा मृत्यु के जाल में स्वाभाविक जा रही है, तब उसने सोचा कि मैं ही अकेले पृथ्वी का भोग कब तक करूँगा। राजा ने भी घोर तपस्या आरंभ की और इसकी प्रजा भी दीर्घायु होने लगी अर्थात् अकाल मृत्यु न होने के कारण इसके काल में लोग बहुत दिनों तक जीते थे। अतः कहा गया है कि राज्यवर्द्धन का जन्म अपने तथा प्रजा के दीर्घायु होने के लिए हुआ था। इससे स्पष्ट है कि राजा को प्रजा कितनी प्रिय थी तथा प्रजा उसे कितना चाहती थी। इसके बाद सुधृति, नर, केवल, बंधुमान, वेगवान् बुध और तृणविंदु क्रमशः राजा हुए।

तृणविंदु

इसने अलम्बुषा[4] को भार्या बना कर उससे तीन पुत्र और एक कन्या उत्पन्न की। विशाल, शून्य विंदु, धूमकेतु तथा इडविडा[5] या इलाविला। इस इलाविला ने ही रावण के पितामह पुलस्त्य का आलिंगन किया। तृणविंदु के बाद विशाल[6] गद्दी पर बैठा। और वैशाली नगर उसी ने अपने नाम से बताया। इस वंश का अंतिम राजा था सुमति जिसका राज्य क० सं० ३६४ में समाप्त हो गया। संभवतः यह राज्य मिथिला में संमग्न हो गया।

---

१. मार्कंण्डेयपुराण १३४।

२. ,, ,, १३५ और १३६।

३. ,, ,, १०६-११० अध्याय।

४. गरुड़ १-१३८-११; विष्णु ४-१-१८; भागवत ६-२-३१।

५. महाभारत ३-८६।

६. वायु ८६-१५-१७; ब्रह्माण्ड ३-६१-१२; विष्णु ४-१-१८; रामायण १-४७-१२; भागवत ६-२-३३।

अष्टम अध्याय

लिच्छवी गणराज्य

लिच्छवी शब्द के विभिन्न रूप पाये जाते हैं—लिच्छिवी, लेच्छवि, लेच्छइ तथा निच्छवि। पाली ग्रन्थों में प्रायः लिच्छवि पाया जाता है, किन्तु महावस्तु अवदान [1] में लेच्छवि पाया जाता है जो प्राचीन जैन धर्म-ग्रन्थों [2] के प्राकृत लेच्छइ का पर्याय है। कौटिल्य अर्थशास्त्र [3] में लिच्छिविक रूप पाया जाता है। मनुस्मृति [4] की कश्मीरी टीका में लिच्छवी, मेधातिथि, और गोविन्द की टीकाओं में लिच्छिवी तथा वंगटीकाकार कुल्लूक भट्ट ने निच्छवि पाठ लिखा है। १५वीं शती में वंगाक्षर में 'न' और 'ल' का साम्य होने से लि के बदले नि पढ़ा गया। चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राओं [5] पर बहुवचन में लिच्छव्याः पाया जाता है। अनेक गुप्ताभिलेखों में लिच्छवी रूप मिलता है। स्कन्दगुप्त के 'भितरी' अभिलेख [7] में लिच्छिवी रूप पाया जाता है। हुयेन संग [8] इन्हें लि चे पो कहता है जो लिच्छवि का ही पर्याय है।

अभिभव

विंसेंट आर्थर स्मिथ [9] के अनुसार लिच्छवियों की उत्पत्ति तिब्बत से हुई; क्योंकि लिच्छवियों का मृतसंस्कार और न्याय [10] पद्धति तिब्बत के समान है। किन्तु लिच्छवियों ने यह परम्परा अपने वैदिक ऋषियों से प्राप्त की। इन परंपराओं के विषय में अथर्ववेद [11] कहता है—हे अग्नि! गड़े हुए को, फेंके हुए को, अग्नि से जले हुए को तथा जो डाले पड़े गये हैं,

१. महावस्तु, सेनार्ट सम्पादित पृ० १२५४।

२. सेक्रेड बुक आफ इस्ट, भाग २२ पृ० २६६ तथा भाग ४५ अंश २ पृ० ३२१, टिप्पणी ३ (सूत्रकृताङ्ग तथा कल्पसूत्र)।

३. कौटिल्य ११-१।

४. मनु १०-२२।

५. एज आफ इम्पीरियल गुप्त, राखाल दास बनर्जी, काशी - विश्वविद्यालय १९३४, पृ० ४।

६. फ्लीट का गुप्ताभिलेख भाग ३, पृ० २७,४१,५०,५३।

७. वहीं पृष्ठ २५६।

८. बुद्धिस्ट रेकार्ड आफ वेस्टर्न वर्ल्ड, बील सम्पादित भाग २, पृ० ७३।

९. इण्डियन एंटिक्वेरी १९०३, पृ० २३३।

१०. एशियाटिक सोसायटी बंगाल का विवरण १८९४, पृ० ५ शरच्चन्द्र दास।

११. अथर्ववेद १८-२-३४।

उन्हें यज्ञभाग खाने को लाओ। गाड़ने की प्रथा तथा उच्च स्थान पर मुर्दों को रखने की प्रथा का उल्लेख आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [1] में भी मिलता है।

वैशाली की प्राचीन-न्याय पद्धति और आधुनिक लासा की न्याय-पद्धति की समता के विषय में हम कह सकते हैं कि तिब्बतियों ने यह सब परम्परा और अपना धर्म लिच्छवियों से सीखा, जिन्होंने मध्यकाल में नेपाल जीता और, वहाँ बस गये और वहाँ से आगे बढ़कर तिब्बत को भी जीता और वहाँ भी बस गये। अपितु प्राचीन बौद्धकाल में तिब्बत की सभ्यता का ज्ञान हमें कम ही है। इस बात का ध्यान हमें तिब्बती और पाली साहित्य से प्राप्त लिच्छवी परंपराओं की तुलना के लिए रखना चाहिए।

सतीश चन्द्र विद्याभूषण[1] ने पारसिक साम्राज्य के निसिवि और मनु के निच्छवि के शब्द साम्य को पाकर यह निष्कर्ष निकाला कि लिच्छवियों का मूल स्थान फारस है और ये भारत में निसिवि नगर से प्रायः ४२८ वि० सं० पूर्व या कलि-संवत् २५८६ में आये। लिच्छवियों को दारावयुस (२५८५ से २६१६ क० सं० तक) के अनुयायियों से मिलाना कठिन है; क्योंकि लिच्छवी लोग बुद्ध निर्वाण के (क० सं० २५५८) पूर्व ही सभ्यता और यश की उच्च कोटि पर थे। अपितु किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इनके विदेशी होने की परंपरा या उल्लेख नहीं है।

व्रात्य क्षत्रिय

मनु[2] कहता है कि राजन्य व्रात्य से झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, नट, करण, खश और द्रविड की उत्पत्ति हुई। अभिषिक्त राजा का वंशज राजन्य[3] होता है तथा मनु[4] के अनुसार व्रात्य वे हैं जो समान वर्ण से द्विजाति की संतान हो। किन्तु जो स्वधर्म विमुख होने के कारण सावित्री पतित हो जाते हैं। इनके क्षत्रिय होने में शंका नहीं है; किन्तु मनु के बताये मार्ग पर चलने में ये कट्टर न थे। मनु का बताया[5] मार्ग सारे संसार के कल्याण के लिए हैं तथा सभी लोग इसी आदर्श का पालन करने की शिक्षा लें।

हम जानते हैं कि नाभाग और उसके वंशज वैश्य घोषित किये गये थे; क्योंकि नाभाग ने ऋषियों की आज्ञा के विरुद्ध एक वैश्य कन्या का पाणिग्रहण किया था। यद्यपि यह कन्या क्षत्रिय रक्त की थी। विवाह के समय उसने अपना यह परिचय न दिया; किन्तु जब इसका पुत्र भलन्दन इसके पति को राज्य सौंपने लगा तब वैश्य कन्या ने बताया कि मैं किस प्रकार क्षत्रिय वंश की हूँ। इसके पुत्र भलन्दन का भी क्षत्रियोचित संस्कार न हुआ; क्योंकि वैश्या-पुत्र होने कारण यह पतित माना जाता था। अतः वैशाली साम्राज्य के आरंभ से ही इस वंश के कुछ राजा ब्राह्मणों की दृष्टि में पतित या व्रात्य समझे जाते थे; अतः उनके वंशज व्रात्य क्षत्रिय माने जाने लगे। अपितु लिच्छवी लोग, अब्राह्मण संप्रदाय, जैन और बौद्धों के प्रमुख नेता थे। भारतीय जनता विदेशियों को, विशेषतः ब्राह्मण विद्वेषियों को, व्रात्य क्षत्रिय भी स्वीकार नहीं करती।

---

१. आपस्तंब १-८७।

२. इंडियन एंटिक्वेरी १९८, पृ० ७०।

३. मनु—१०-२२।

४. अमरकोष २-८-१; २-७-५३; पाणिनि ४-१-१३७ राजस्व सुराद्यत्।

५. मनु १०-२०।

६. मनु २-१७ तथा डाक्टर भगवान् दास का एंसियंट वरसेस माडर्न साइंटिफिक सोसलिज्म देखें।

लिच्छवी क्षत्रिय थे

जब वैशाली के लिच्छवियों ने सुना कि कुशीनारा में बुद्ध का निर्वाण हो गया तब उन्होंने मल्लों के पास संवाद[१] भेजा कि भगवान् बुद्ध क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं। महाली नामक एक लिच्छवी राजा कहता[२] है कि जैसे बुद्ध क्षत्रिय हैं, उसी तरह मैं भी क्षत्रिय हूँ। यदि बुद्ध को ज्ञान प्राप्ति हो सकती है और वे सर्वज्ञ हो सकते हैं तो मैं क्यों नहीं हो सकता ? चेटक वैशाली का राजा था और इसकी बहन त्रिशला, जो वर्द्धमान महावीर की माता थी, सर्वदा क्षत्रियाणी कहकर अभिहित की जाती है।

राकाहिल[३] सुनङ्ग, सेत्सेन का उल्लेख करता है और कहता है कि शाक्यवंश (जिसमें बुद्ध का जन्म हुआ था) तीन अंशों में विभाजित था। इन तीन शाखाओं के प्रमुख प्रतिनिधि थे महाशाक्य, लिच्छवी शाक्य, तथा पार्वतीय शाक्य। न्याङ्खसिस्तनपो तिब्बत का प्रथम राजा लिच्छवी शाक्यवंश का था।

जब बुद्ध महामारी को दूर करने के लिए वैशाली गये तब वहां के लोगों को वे सर्वथा 'वसिष्ठा' कहकर संबोधन[४] करते थे। मौद्गल्यायन से जब पूछा जाता है कि अजातशत्रु के प्रति लिच्छवियों को कहाँ तक सफलता मिलेगी, तब वह कहता[५]—वसिष्ठगोत्र ! तुम लोग विजयी होगे। महावीर की माता त्रिशला भी वसिष्ठगोत्र[६] की थी। नेपाल वंशावली[७] में लिच्छवियों को सूर्यवंशी बताया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि लिच्छवी वसिष्ठगोत्रीय (दार्शनिक विचार) क्षत्रिय थे।

बौद्ध टीकाकारों[८] ने लिच्छवियों की उत्पत्ति का एक काल्पनिक वर्णन दिया है। बनारस की रानी से मांस पिंड उत्पन्न हुआ। उसने उसे काष्ठपंजर में डालकर तथा मुहर करके गंगा में बहा दिया। एक यति ने इसे पाया तथा काष्ठपंजर में प्राप्त मांस-पिंड की सेवा की जिससे यमल पैदा हुए। इन सबों के पेट में जो कुछ भी जाता था स्पष्ट दीख पड़ता था मानों पेट पारदर्शी हो। अतः वे चर्मरहित (निच्छवि) मालूम होते थे। कुछ लोग कहते थे, इनका चर्म इतना पतला है (लिनाच्छवि) कि पेट या उसमें जो कुछ अन्दर चला जाय, सब सिला हुआ जान पड़ता था। जब ये सयाने हुए तब अन्य बालक इनके साथ, लड़ाका होने के कारण, खेलना पसन्द नहीं करते थे, अतः ये वर्जित समझे जाते थे (वर्जितब्बा)। जब ये १६ वर्ष के

---

१. महा-परिनिबाणसुत्त ६-२४; दीघनिकाय भाग २, पृ० १६१ (भागवत संपादित)। तुलना करें—भगवापि खत्तियो अहमपि खत्तियो।

२. सुमंगल विलासिनी १-३१२, पाली टेक्ट सोसायटी।

३. लाइफ आफ बुद्ध एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ हिज आर्डर, वुडविल राकाहिल लिखित लन्दन १९०७ पृ० २०३ नोट (साधारण-संस्करण)।

४ महावस्तु १-२८३।

५. राकाहिल पृ० ९७।

६. सेक्रेड बुक आफ इस्ट भाग २२, पृ० १९३।

७. इंडियन ऐंटिक्वेरी भाग ३७, पृ० ७८-९०।

८. मज्झिमनिकाय टीका १-२५८; खुद्दक पाठ टीका पृ० १५८-६०; पाली संज्ञाकोष २-७८१।

हुए, तब गाँववालों ने इनके लिए राजा से भूमि ले दी। इन्होंने नगर बसाया और आपस में विवाह कर लिया। इनके देश को बज्जि कहने लगे।

इनके नगर को बार-बार विस्तार करना पड़ा। अतः इसका नाम वैसाली पड़ा। इस दन्त-कथा से भी यही सिद्ध होता है कि लिच्छवी क्षत्रिय थे। लिच्छवी शब्द का व्याकरण से साधारणतः व्युत्पत्ति नहीं कर सकते; अतः जब ये शक्तिशाली और प्रसिद्ध[1] हो गये, तब इनके लिए कोई प्राचीन परम्परा रची गई।

जायसवाल के मत में लिच्छवी शब्द लिच्छु से बना है और इसका अर्थ होता है—लिच्छु (लिच्छु) का वंशज। लिच्छ का अर्थ होता है लक्ष्यविशेष और लिच्छु और लिंच्छ आपस में मिलते हैं। संभवतः यह नाम किसी गात्र विशेष चिह्न का द्योतक है।

वज्जी

ये लिच्छवी संभवतः महाकाव्यों और पुराणों के ऋक्ष हो सकते हैं जो प्रायः पर्वतीय थे, और जो नेपाल तथा तिब्बत की उपत्यका में बसते थे। ऋक्ष शब्द का परिवर्तन होकर रिच्छ हो गया, अतः इस वंश के लोग लिच्छई या लिच्छवी कहलाने लगे। ऋक्ष[3] शब्द का अर्थ भालू, भयानक जानवर और तारा भी होता है। प्राचीन काल में किसी भयानक जन्तु विशेषतः सिंह (केसरी, वृजिन[4]) के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता था। सिंह शक्ति का द्योतक है। इसी कारण लिच्छवियों ने सिंह को अपनी पताका का चिह्न चुना, जिसे बाद में शिशुनागों और गुप्तों ने भी ग्रहण किया। लंका का नाम भी सिंह (विजय सिंह) के नाम पर सिंहल पड़ा[5]। प्राचीन काल में भी तृणविन्दु के राज्य-काल में वैशाली के लोगों ने लंका को उपनिवेश बनाया था। भगवान महावीर का लांच्छन भी सिंह है। इससे सिद्ध होता है कि वृजि ऋक्ष वंश के हैं। कथानक में इन लिच्छवियों को झगड़ालू बताया गया है। किन्तु वर्जित का अपभ्रंश वर्जि होगा, न कि वृजि, जो रूप प्रायः पाया जाता है। इन्हें बृजिन या वज्जी[6] संभवतः इसलिए कहते थे कि ये अपने केशों को विशेष रूप से सँवारते थे। सिंह का आयाल सुन्दर और घुँघराला होता है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि प्रस्तर क्षत्रिय जाति का द्योतक है और सायण[8] कहता है—शिर के बालों को ऊपर की ओर सँवारने को प्रस्तर कहते हैं। हो सकता है वज्जियों के घुंघराले केश भी उसी प्रकार सँवारे जाते हों।

---

१. विमल चरण लाहा का प्राचीन भारतीय क्षत्रियवंश, (कलकत्ता) १६२२, पृ० ११।

२. हिन्दू पालिटी— जायसवाल - (१६२४) भाग १, पृ० १८६।

३. उणादि ३-६६, ऋषति ऋषिगतौ।

४. अमरकोष केशोऽपि वृजिनः।

५. दीपवंश ६-१।

६. अब भी चम्पारण के लोगों को थारू वज्जी कहते हैं, ज० वि० ओ० रि० सो० ६ २६१।

७. शतपथ ब्राह्मण १-३-४-१०; १-३-३ ७ वैदिक कोष, लाहौर प० ३३४।

८. वहीं—तुलना करें—उर्द्ध्वबद्ध केश संधारमक।

गणराज्य

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसके गणराज्य की स्थापना कब हुई। किन्तु इसके संविधान के सविस्तर अध्ययन से ज्ञात होता है कि वज्जी संघ की स्थापना विदेह राजवंश की हीनावस्था और पतन के बाद हुई होगी तथा इसके संविधान-निर्माण में भी यथेष्ट समय लगा होगा। यदि वैशाली साम्राज्य पतन के बाद ही संघराज्य स्थापित हुआ होता तो इसका प्रधान या इसकी जनता महाभारत युद्ध में किसी-न-किसी पक्ष से अवश्य भाग लिये होती। जिस प्रकार प्राचीन यूनान में राजनीतिक परिवर्त्तन हुए, ठीक उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी राज्य परिवर्त्तन होते थे।

राजाओं का अधिकार सीमित[१] कर दिया जाता था और राजा के ऊपर इतने अंकुश लगा दिये जाते थे कि राजपद केवल दिखावे के लिए रह जाता था और राजशक्ति दूसरों के हाथ में चली जाती। महाभारत में वैशाली राजा या जनता का कहीं भी उल्लेख नहीं; किन्तु, मल्लों[२] का उल्लेख है। संभवत: वैशाली का भी कुछ भाग मल्लों के हाथ था; किन्तु अधिकांश विदेहों के अधीन था। हम बुद्ध निर्वाण के प्राय: दो सौ वर्ष पूर्व संघ-राज्य की स्थापना क० सं० २३५० में मान सकते हैं। अजातशत्रु ने इसका सर्वनाश क० सं० २५७६ में किया।

लिच्छवियों का गण-राज्य महाशक्तिशाली था। गण-राज्य का प्रधान राजा होता था तथा अन्य अधिकारी जिसे जनता चुनती वे ही शासन करते थे। इनका बल एकता में था।

ये अपने प्रतिनिधि, संघ और स्त्रियों को महाश्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। जब मगध के महामंत्री ने बुद्ध से प्रश्न किया कि वज्जियों के ऊपर आक्रमण करने पर कहाँ तक सफलता मिलेगी तब उस समय के बुद्ध वाक्य[३] से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

संविधान

जातकों[४] में इनको गणराज्य कहा गया है। इसके प्रधान अधिकारी[५] तीन थे—राजा, उपराज और सेनापति। अन्यत्र[६] भाण्डागारिक भी पाया जाता है। राज्य ७७०७ वासियों के हाथ में था। ये ही क्रमश:[७] राजा उपराज, सेनापति और भाण्डागारिक होते थे। किन्तु कुल जन संख्या[८] १,६८,००० थी। अपितु हो सकता है कि ७७०७ ठीक संख्या न हो जो राज्य-परिषद् के सदस्य हों। यह कल्पित संख्या हो सकती है और किसी तांत्रिक उद्देश्य से सात का तीन बार प्रयोग किया गया हो।

---

१. पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियंट इण्डिया पृ० १०२।
२. महाभारत २-२६-२०।
३. सेक्रेडबुक आफ इस्ट ११-३-६; दीघनिकाय २-६०।
४. जातक ४-१४८।
५. अत्थ कथा (जर्नल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, १८३८), पृ० ९९३।
६. जातक १-५०४।
७. वहीं ,,
८. महावस्तु १, पृ० २५६ और २७१।

प्राचीन यूनानी नगर राज्य में लोग प्रायः स्पष्टतः अपना मत प्रकट करते थे; क्योंकि अधिकांश यूनानी राज्यों का क्षेत्रफल कुछ वर्ग मीलों तक ही सीमित था। वैशाली राज्य महान् था और इसकी जन-संख्या विस्तीर्ण थी। यह नहीं कहा जा सकता कि महिला, बालक, वृद्ध और पापियों को मतदान का अधिकार था या नहीं। यह सत्य है कि भारत में दास[1] न थे और मेगास्थनीज भी इसकी पुष्टि करता है। फिर भी यह कहना कठिन है कि ७७०७ संख्या प्रतिनिधियों के चुनाव की थी या प्रकट चुनाव की। किन्तु हम सत्य से अधिक दूर न होंगे, यदि कल्पना करें कि परिवारों की संख्या ७७०७ और लोगों की संख्या १,६८,००० । इस दशा में प्रति परिवार २५ लोग होंगे। हो सकता है कि प्रति परिवार से एक प्रतिनिधि जन-सभा के के लिए चुना जाता हो।

---

१. यूनानी कहते हैं कि भारत में दास-प्रथा अज्ञात थी या ओनेसिक्रीटस के अनुसार मुसिकेनस राज्य में (पतंजलि महाभाष्य, ४·१·९ का मौषिकर = उत्तरी सिंध) दास प्रथा न थी। दासों के बदले वे नवयुवकों को काम में लाते थे। यद्यपि मनु (७·४१५) ने सात प्रकार के दास बतलाये हैं; किन्तु उसने विधान किया है कि कोई भी आर्य सशूद्र दास नहीं बनाया जा सकता। दास अपने स्वामी की सेवा के अतिरिक्त अर्जित धन से अपनी स्वतंत्रता पा सकता था तथा बाहर से भी धन देकर कोई भी उसे मुक्त कर सकता था। यूनान से भारत की दास प्रथा इतनी विभिन्न थी कि लोग इसे ठीक से समझ नहीं पाते।

घर के तुच्छ काम प्रायः दास या वर्णशंकर करते थे। ये ही कारीगर और गाँवों में सेवक का काम भी करते थे। अधिक कुशल कारीगर यथा रथ-निर्माता सूत इत्यादि आर्य वंश के थे और समाज से बहिष्कृत न थे। कृषक दास प्रायः शूद्र था जो गाँव का अधिकांश श्रम कार्य करता था और अन्न का दशांश अपनी मजदूरी पाता था।

सात प्रकार के दास ये हैं—युद्धबंदी, भोजन के लिए नित्य श्रम करनेवाले, घर में उत्पन्न दास, कृत दास, दत्त-दास, वंश परम्परा के दास तथा जिन्हें दास होने का दंड मिला है। वीर योद्धा भी बंदी होने पर दास हो सकता है। दास चरवाहा या व्यापारी हो सकता है; यदि सेवा से अपना पेट पालन न कर सके। कृषकों की श्रेणी में अधिकांश दास ही थे। दास के पास कुछ भी अपना न था। वह शारीरिक श्रम के रूप में कर देता था; क्योंकि उसके पास धन न था। दासों की आवश्यकता प्रत्येक गृह में पारिवारिक कार्य के लिए होती थी। किन्तु दास साधारणतः पश्चात्य देशों की तरह खान, बागान और गृहों में निराश्रय के समान नहीं रखे जाते थे। जातकों में दासों के प्रति दया का भाव है। वे पढ़ते हैं, कारीगरी सीखते हैं तथा अन्य कार्य करते हैं।

श्रमक या मजदूर किसी का हथकंडा न था यद्यपि उसे कदाचित्काल बहुत अधिक श्रम भी करना पड़ता था। गाँवों का अधिकांश कार्य दास या वंश परम्परा के कारीगर करते थे, जो परम्परा से चली आई उपज के अंश को पाते थे। इन्हें प्रत्येक कार्य के लिए अलग पैसा न मिलता था। सभी श्रम का महत्त्व समझते थे और बड़े-छोटे सभी श्रम करते थे जिससे अधिक अन्न पैदा हो। अतः हम कह सकते हैं कि भारत में दास-प्रथा न थी और वैशाली संघराज्य में सभी को मतदान का अधिकार था।

इस सम्बन्धमें विस्तार के लिए लेखक का 'भारतीय श्रम-विधान' देखें।

स्वतंत्रता समता एवं भ्रातृत्व

स्वतंत्रता का अर्थ[१] है कि हम ऐसी परिस्थिति में रहें जहाँ मनुष्य अपनी इच्छाओं का महान् दास हो, सभ्यता का अर्थ है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए अलग नियम न हो तथा सभी के लिए उन्नति के समान द्वार खुले हों तथा भ्रातृत्व का अर्थ है कि लोग मिलकर समान आनन्द, उत्सव और व्यापार में भाग लें। इस विचार से हम कह सकते हैं कि वैशाली में पूर्ण स्वतंत्रता, सभ्यता और भ्रातृत्व था। वैशाली के लोग उत्तम, मध्यम तथा वृद्ध या ज्येष्ठ का आदर करते थे। सभी अपनेको राजा समझते थे[२]। कोई भी दूसरों का अनुयायी बनने को तैयार न था।

अनुशासन-राज्य

उन दिनों में वैशाली में अनुशासन का राज्य था। इसका यह अर्थ[३] है कि कोई भी व्यक्ति बिना किसी अनुशासन के विशिष्ट अनुभंग करने पर ही दण्ड का भागी हो सकेगा। उसके लिए उसे साधारण नियम के अनुसार साधारण कंटक शोधन सभा के संमुख अपनी सफाई देनी होती थी। कोई भी व्यक्ति अनुशासन से परे न था। किन्तु सभी राज्य के साधारण नियमों से ही अनुशासित होते थे। विधान के साधारण सिद्धान्त न्यायनिर्णयों के फलस्वरूप थे, जो निर्णय विशिष्ट न्यायालयों के सम्मुख व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाता था। वैशाली में किसी भी नागरिक को दोषी माना नहीं जा सकता था जबतक कि सेनापति, उपराज और राजा विभिन्न रूप से बिना मतभेद के उसे दोषी न बतावें। प्रधान के निर्णय का लेखा सावधानी से रखा जाता था। न्याय के लिए सविहित कचहरी होती थी तथा अष्टकुल (जूरी) पद्धति भी प्रचलित थी।

व्यवहार-पद्धति

वैशाली संघ बौद्ध धर्म के बहुत पूर्व स्थापित हो चुका था; अत: बुद्ध ने स्वभावतः राजनीतिक पद्धति को अपने संघ के लिए अपनाया। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध संघ राजनीतिक संघ का अनुकरण है। किन्तु हमें राजनीतिक संघ का लिखित वर्णन नहीं मिलता। यदि बौद्ध धर्म संघ से धार्मिक विशेषताओं को हटाकर उसकी संघ पद्धति का अध्ययन करें तो हमें गणराज का पूर्ण चित्र मिल सकेगा। प्रत्येक सदस्य का एक नियत स्थान होता था। नत्ति को तीन बार सभा के सामने रखा जाता था तथा जो इस (नत्ति) ज्ञप्ति से सहमत न होते थे, वे ही बोलने के अधिकारी समझे जाते थे। न्यूनतम संख्या पूर्ण कोरम पद्धति का पालन कड़ाई से किया जाता था। एक पूरक इसके लिए नियुक्त होता था। वह उचित संख्या पूरा करने का भार लेता था। छन्द (मतदान) नि:शुल्क और स्वतंत्र रूप से दिया जाता था। गुप्त रूप से मत प्रकट करना साधारण नियम था तथा सभा के विवरण और निर्णय का आलेख सावधानी से रखा जाता था। काशीप्रसाद जायसवाल ने इन विषयों का विवेचन विशद रूप में किया है और हमें इन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं।

---

१. ग्रामर आफ पोलिटिक्स, लास्कीकृत पृ० १४२,१५२-३।

२. ललित विस्तर तृतीय अध्याय।

३. डाइसी का इंट्रोडक्सन टु दी स्टडी आफ दी ला ऑफ कंस्टीट्यूशन पृ० १९८ इत्यादि।

४. हिंदू पालिटी, जायसवाल-लिखित, १९२४ कलकत्ता।

नागरिक-अधिकार

वैशाली के रहनेवालों को वृजि कहते थे तथा दूसरों को वृजिक[१] कहते थे। कौटल्य[२] के अनुसार वृजिक वे थे जो वैशाली-संघ के भक्त[३] थे। चाहे वे वैशाली-संघ राज्य के रहनेवाले भले[४] ही न हों। वृजिक में वैशाली के वासी तथा अन्य लोग भी थे, जो साधारणतः संघ के भक्त थे।

विवाह-नियम

वैशाली के लोगों ने नियम[५] बनाया था कि प्रथम मंडल में उत्पन्न कन्यां का विवाह प्रथम ही मंडल में हो; द्वितीय और तृतीय मंडल में नहीं। मध्यम मंडल की कन्या का विवाह प्रथम एवं द्वितीय मंडल में हो सकता था, किन्तु तृतीय मंडल की कन्या का विवाह किसी भी मंडल में हो सकता था।

अपितु किसी भी कन्या का विवाह वैशाली संघ के बाहर नहीं हो सकता था। इससे प्रकट है कि इस प्रदेश में वर्ण विभेद प्रचलित था।

मगध से मैत्री

वैशाली के राजा चेटक की कन्या चेल्लना[६] का विवाह सेनीय बिंबिसार से हुआ था। इसे श्रीभद्रा[७] और मद्रा[८] नाम से भी पुकारते हैं। बौद्ध साहित्य में इसे वेदेही[९] कहा गया है। बुद्ध घोष[१०] वेदेह का अर्थ करता है—'वौद्धिकप्रेरणा वेदेन ईहति।' इसके अनुसार वेदेह का अर्थ विदेह की रहनेवाली मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि जातक[११] परम्परा के अनुसार अजातशत्रु की मां कोसल-राज प्रसेनजित की बहन थी।

विदेह राज विरूधक का मंत्री साकल[१२] अपने दो पुत्र गोपाल और सिंह के साथ वैशाली आया। कुछ समय के बाद साकल नायक चुना गया। उसके दोनों पुत्रों ने वैशाली में विवाह किया। सिंह की एक कन्या वासवी थी। साकल की मृत्यु के बाद सिंह नायक नियुक्त हुआ। गोपाल ने ज्येष्ठ होने के कारण इसमें अपनी अप्रतिष्ठा समझी और वह राजगृह चला गया और विम्बिसार का मुख्य अमात्य बना। विम्बिसार ने गोपाल की भ्रातृजा वासवी का पाणिग्रहण

---

१. पाणिनि ४-२-१३१।
२. अर्थशास्त्र ११-१।
३. पाणिनि ४-३-९५-१००।
४. पाणिनि ४-३-८६-६०।
५. राकहिल पृ० ६२।
६. सेक्रेड बुक आफ इस्ट भाग २२ भूमिका पृष्ठ १३।
७. वही पृष्ठ १३, टिप्पणी ३।
८. बुक आफ किंड्रेड सेयिंगस १-३८ टिप्पणी।
९. संयुक्त निकाय २-२१८।
१०. वहीं २-२-४-५।
११. फासबल ३-१२१; ४-३४२।
१२. राकहिल पृ० ६३-६४।

किया। यह वासवी विदेह वंश की थी। अतः वैदेही कहलाई। राय चौधुरी[१] का मत है कि इस विशेषण का आधार भौगोलिक है। यह विदेह के सभी क्षत्रिय वंश या उत्तर बिहार के सभी लोगों के लिए प्रयुक्त होता था, चाहे विदेह से उनका कोई संबंध भले ही न रहा हो। आचारांग[२] सूत्र में कुण्ड ग्राम वैशाली के समीप विदेह में बतलाया गया है।

अभयजन्म

अम्बापाली एक लिच्छवी नायक महानाम की कन्या थी। वैशाली संघनियम के अनुसार नगर की सर्वाङ्ग सुन्दरी का विवाह किसी विशेष व्यक्ति से न होता था; बल्कि वह सभी के उपभोग की सामग्री समझी जाती थी। अतः वह वाराङ्गना हो गई। विम्बिसार ने गोपाल के मुख से उसके रूप-यौवन की प्रशंसा सुनी। यद्यपि लिच्छवियों से इसकी पटती न थी, तथापि विम्बिसार ने वैशाली जाकर सात दिनों तक अम्बापाली के साथ आनन्द भोग किया। अम्बपाली को एक पुत्र हुआ, जिसे उसने अपने पिता विम्बिसार के पास मगध भेज दिया। बालक बिना डर-भय के अपने पिता के साथ चला गया। इसीसे इसका नाम अभय[३] पड़ा। देवदत्त भंडारकर[४] के मत में वैदेही के साथ यह वैवाहिक सम्बन्ध विम्बिसार और लिच्छवियों में युद्ध के बाद संधि हो जाने के फलस्वरूप था। अभय में लिच्छवियों का रक्त था; अतः लिच्छवी इसे बहुत चाहते थे। इसी कारण अजातशत्रु ने लिच्छवियों के विनाश का प्रण किया; क्योंकि यदि लिच्छवी अभय का साथ देते तो अजातशत्रु के लिए राज्य प्राप्ति टेढ़ी खीर हो जाती।

तीर्थ-विवाद

गंगा नदी के तट पर एक तीर्थ[५] प्रायः एक योजन का था। इसका आधा भाग लिच्छवियों के और आधा अजातशत्रु के अधिकार में था; जहाँ उसका शासन चलता था। इसके अनतिदूर ही पर्वत के पास बहुमुल्य रत्नों की खान थी, जिसे लिच्छवी[६] लूट लेते थे और इस प्रकार अजातशत्रु को बहुत क्षति पहुँचाते थे। जन-संख्या में लिच्छवी बहुत अधिक थे, अतः अजातशत्रु ने वैमनस्य का बीज बोकर उनका नाश करने का विचार[७] किया।

जिस मनुष्य ने पद और पराक्रम के लोभ में अपने पिता की सेवा के बदले उसकी प्राण-हत्या करनी चाही, उससे पिता के संबंधियों के प्रति सद्भाव की कामना की आशा नहीं की जा सकती। उसे प्रारम्भ से ही प्रतीति होने लगी कि हमारे मगध-राज्य-विस्तार में लिच्छवी महान् रोड़े हैं; अतः अपनी साम्राज्याकांक्षा के लिए वज्जियों का नाश करना उसके लिए आवश्यक[८] हो गया।

---

१. पालीटिकल हिस्ट्री आफ ऐंसियंट इण्डिया (चतुर्थ संस्करण) पृ० १००।
२. सेक्रेड बुक आफ इस्ट भाग २२ भूमिका।
३ राकहिल पृ० ६४।
४. करमाइकेल लेक्चर्स, १९१८ पृ० ७४।
५. विनय पिटक १·२२८; उदान ८-६।
६ दिव्यावदान २-५२२।—संभवतः यह नेपाल से नदियों द्वारा लाई हुई काष्टधन का उल्लेख है। इसे लिच्छवि हड़प जाना चाहते थे।
७. अंगुत्तर निकाय २-३५।
८. विमलचरण लाहा का 'प्राचीन भारत के क्षत्रिय वंश', पृ० १३०।

कालान्तर में लिच्छवी विलासप्रिय हो गये। अजातशत्रु ने वस्सकार को भगवान बुद्ध के पास भेजा तो बुद्ध ने कहा—कर देकर प्रसन्न करने या वर्त्तमान संघ में वैमनस्य उत्पन्न किये बिना वज्जियों का नाश करना टेढ़ी खीर है। आजातशत्रु कर या उपहार देकर वज्जियों को प्रसन्न करने के पक्ष में न था; क्योंकि ऐसा करने से उसके हाथी और घोड़ों की संख्या कम हो जाती। अतः उसने संघ विच्छेद करने को सोचा। तय हुआ[1] कि सभासदों की एक सभा बुलाई जाय और वहाँ वज्जियों की समस्या पर विचार हो और अन्त में वस्सकार वज्जियों का पक्ष लेगा सभा से निकाले जाने पर वह लिच्छवी देशमें चला जायगा। ठीक ऐसा ही हुआ। वज्जियों के पूछने पर वस्सकार ने बताया कि मुझे केवल वज्जियों का पक्ष ग्रहण करने-जैसे तुच्छ अपराध के लिए अपने देश से निकाला गया और ऐसा कठिन दण्ड मिला है। वज्जियों (क०सं० २५७३) में वस्सकार को न्याय मंत्री का पद मिला, जिस पद पर वह मगध राज्य में था। वस्सकार शीघ्र ही अपनी अद्भुत न्यायशीलता के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। वज्जी के युवक शिक्षा के लिए उसके पास जाने लगे। अब वस्सकार अपना जाल फैलाने लगा। वह किसी से कुछ कहता और किसी से कुछ। अतः इस प्रकार तीन वर्ष के अंदर ही वस्सकार ने विद्वेष का ऐसा बीज बोया कि कोई भी दो वज्जी एक ही साथ मार्ग पर चलने में संकोच करने लगे। जब नगाड़ा बजने लगा, जो साधारणतः उनके एकत्र होने का सूचक था, तब उन्होंने इसकी परवाह न की और कहने लगे[2]—'धनियों और वीरों को एकत्र होने दो। हम तो भिखमंगे और चरवाहे हैं। हमें इससे क्या मतलब।'

वस्सकार ने आजातशत्रु को संवाद भेजा कि शीघ्र आवें; क्योंकि यही समुचित अवसर है। अजातशत्रु ने विशाला से नावों के साथ वैशाली के लिये कूच किया। मागधों की बढ़ती सेना को रोकने के लिए बार-बार नगाड़ा बजने पर भी लिच्छवियों ने इसकी चिंता न की और अजातशत्रु ने विशाल फाटक से विजयी के रूप में क० सं० २५७६ में नगर-प्रवेश[3] किया।

अजातशत्रु ने लिच्छवियों को अपना आधिपत्य स्वीकार करने को बाध्य किया। किन्तु जान पड़ता है कि ये लिच्छवी आंतरिक विषयों में स्वतंत्र थे और उन्होंने मगध राज्य में मिल जाने पर भी अपनी शासन पद्धति बनाये रक्खी; क्योंकि इसके दो सौ वर्ष बाद भी कौटिल्य इनका उल्लेख करता है।

---

१. संयुक्त निकाय (पा० टे० सो०) २-२६८।

२. दिव्यावदान २-५२२, मज्झिम निकाय ३-८।

३. जर्नल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, १६३८ पृ० ११४।

नवम अध्याय

मल्ल

मल्ल देश विदेह के पश्चिम और मगध के उत्तर [1] पश्चिम की ओर था। इसमें आधुनिक सारन और चम्पारन जिलों के भाग सन्निहित [2] थे। संभवतः इसके पश्चिम में वत्स-कोशल और कपिलवस्तु थे और उत्तर में यह हिमालय तक फैला हुआ था। हुवेनसंग [3] के अनुसार यह प्रदेश तराई में शाक्य भूमि के पूर्व और वज्जिसंघ के उत्तर था।

मल्लशब्द का अर्थ होता है—पीकदान, कपोल, मत्स्य विशेष और शक्तिमान्। लेकिन इतिहास में मल्ल एक जाति एवं उसके देश का नाम है। यह देश षोडय [4] महाजन पदों में से एक है। पाणिनि [5] मल्लों की राजधानी को मल्ल ग्राम बतलाता है। बुद्ध के काल में यह प्रदेश दो भागों में विभक्त था, जिनकी राजधानियाँ पावा [6] और कुशीनारा[7] थी। भीमसेन [8] ने अपनी पूर्व दिग्विजय यात्रा में मल्ल और कोसल राजाओं को पराजित किया था। महाभारत इसे मल्ल [9] राष्ट्र कहता है। अतः ज्ञात होता है कि महाभारत काल के समय भी (कलि संवत् १२३४) मल्ल देश में गणराज्य था और कौटिल्य [10] के काल तक (विक्रम पूर्व चतुर्थ शती) यह गणराज्य बना रहा।

---

१. महाभारत २-३१।

२. दे भौगोलिक कोष पृ० १२१।

३. बुद्धिस्ट इंडिया (रीस डेविस) पृ० २६।

४. पाणिनि ६-२-८४ लचय देखें।

५. दीघनिकाय २-२०० (राहुल सम्पादित पृ० १६०) इसमें केवल १२ ही नाम दिये गये हैं और शेष ४ नहीं है।

६. कनिंघम इसे पडरौना गंडक के तीर पर कुशीनगर से १२ मील उत्तर पूर्व बतलाता है। होई ने इसे सारन जिले में सिवान से ३ मील पूर्व पपौर बतलाया।

७. कुशीनारा या कुशीनगर राप्ती और गंडक के संगम पर पर्वतमाला पर था (स्मिथ)। कनिंघम ने इसे कसिया ग्राम बतलाया, जो गोरखपुर से ३७ मील पूर्व और बेतिया से उत्तर पूर्व है। यहाँ से एक ताम्रपत्र भी मिला है तथा बुद्ध की मूर्ति मिली है—जिसपर अंकित है निर्वाण स्तूप का ताम्रपत्र। यह विक्रम के पंचम शती का ताम्रपत्र हो सकता है। हुवेनसांग के विचार से यह वैशाली से १६ और कपिलवस्तु से २४ योजन पर था। (बील २२ टिप्पणी)

८. महाभारत २-२६-२०।

९. महाभारत ६-९-४६।

१०. अर्थशास्त्र ११-१।

साम्राज्य

वैशाली के लिच्छवियों के समान मल्लों के यहाँ भी पहले राज्य प्रथा थी। ओक्काक[1] (तु० इक्ष्वाकु) और सुदर्शन [2] इनके आरंभिक राजा थे। ओक्काक अपनी राजधानी कुशावती से मल्ल देश पर शासन करता था। इसकी १६,००० रानियाँ थीं, जिनमें शीलावती पटरानी थी। चिरकाल तक राजा को कोई पुत्र न होने से प्रजा व्याकुल हो गई कि कहीं कोई दूसरा राजा आकर राज्य न हड़प ले। अतः लोगों के लिए रानी को छोड़ दिया; किन्तु शक्र उसके पातिव्रत की रक्षा करता रहा। उसके दो पुत्र हुए। ज्येष्ठ कुश ने मद्रराज सुता प्रभावती का पाणिपीड़न किया।

जब महासुदस्सन शासक था तब उसकी राजधानी १२ योजन लम्बी और सात योजन चौड़ी थी। राजधानी धनधान्य और ऐश्वर्य से परिपूर्ण थी। नगर सात प्रकोष्ठों से घिरा हुआ था जिनके नाम—स्वर्ण, रजत, वैदूर्य, स्फटिक, लोहितकुण, अभ्रक, रत्नमय प्रकोष्ट थे। किन्तु बुद्धकाल में यह एक विजन तुच्छ जंगल में था।

कहा जाता है कि रामभद्र के पुत्र कुश ने कुशावती को अपनी राजधानी बनाया। यदि ओक्काक को हम कुश मान लें, जो इक्ष्वाकुवंशी था, तो कहा जा सकता है कि प्राचीन कुशावती नगरी की स्थापना लगभग क० सं० ४५० में हुई।

गणराज्य

पावा और कुसीनारा के मल्लों के विभिन्न सभा-भवन थे, जहाँ सभी प्रकार की राजनीतिक और धार्मिक बातों पर विवाद और निर्णय होता था। पावा के मल्लों ने उब्बाटक नामक एक नूतन सभा-भवन बनाया और वहाँ बुद्ध से प्रवचन की प्रार्थना की। अपितु, बुद्ध के अवशेषों में से पावा और कुशीनारा, दोनों के मल्लों ने अपना भाग अलग-अलग लिया। अतः उन्हें विभिन्न मानना ही पड़ेगा।

मगध राज अजातशत्रु की बढ़ती हुई साम्राज्य-लिप्सा को रोकने के लिए नव मल्लकी नव लिच्छवी और अष्टादश काशी-कोसल गणराज्यों ने मिलकर आत्मरक्षा के लिए संघ[3] बनाया। किन्तु, तो भी वे हार गये और मगध में अन्ततः मिला लिये गये। लिच्छवियों की तरह मल्ल भी वसिष्ठगोत्री क्षत्रिय थे।

यद्यपि मल्ल और लिच्छवियों में प्रायः मैत्री-भाव रहता था तथापि एक बार मल्ल राज बंधुल की पत्नी मल्लिका गर्भिणी होने के कारण, वैशाली कुमारों द्वारा प्रयुक्त अभिषेक कुण्ड का जलपान करना चाहती थी, जिस बात को लेकर झगड़ा[4] हो गया। बंधुल उसे वैशाली ले गया। कमल कुंड के रक्षकों को उसने मार भगाया और मल्लिका ने जल का खूब आनन्द लिया। लिच्छवी के राजाओं को जब इसका पता लगा तब उन्हें बहुत क्रोध आया। उन्होंने बंधुल के रथ का पीछा किया और उसे अर्द्ध मृत करके छोड़ा।

---

१. कुश जातक (५३१)।

२. महापरिनिव्वाणसुत्त अध्याय ५।

३. सैक्रेड बुक्स आफ इष्ट भाग २२ पृ० २६६।

४. भद्दसाल जातक (४६५)।

दशम अध्याय

विदेह

मिथिला की प्राचीन सीमा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। संभवतः गंगा के उत्तर वैशाली और विदेह दो राज्य थे। किन्तु, दोनों की मध्य रेखा ज्ञात नहीं। तैरभुक्ति गंगा और हिमालय के बीच थी जिसमें १५ नदियाँ बहती थीं। पश्चिम में गण्डकी से लेकर पूर्व में कोशी तक इसका विस्तार २४ योजन तथा हिमालय से गंगा तक १६ योजन बताया गया[1] है। सम्राट् अकबर ने दरभंगा के प्रथम महाराजाधिराज महेश ठाकुर को जो दानपत्र दिया था, उसमें भी यही सीमा[2] बतलाई गई है। अतः हम कह सकते है कि इसमें मुजफ्फरपुर का कुछ भाग, दरभंगा, पूर्णियाँ तथा मुंगेर और भागलपुर के भी कुछ अंश सम्मिलित थे।

नाम

मिथिला के निम्नलिखित बारह नाम पाये जाते हैं—मिथिला, तैरभुक्ति, वैदेही, नैमिकानन,[3] ज्ञानशील, कृपापीठ, स्वर्णलाङ्गलपद्धति, जानकीजन्मभूमि, निरपेक्षा, विकल्मषा, रामानन्द कुटी, विश्वभाविनी, नित्य मंगला।

प्राचीन ग्रन्थों में मिथिला नाम पाया जाता है, तिरहुत का नहीं। विदेह, मिथिला और जनक नामों की व्युत्पत्ति काल्पनिक ही है। इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने सहस्र वर्षीय यज्ञ करना चाहा और वशिष्ठ से पुरोहित बनने को कहा। वशिष्ठ ने कहा कि मैंने इन्द्र का पञ्चशत वर्षीय यज्ञ का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया है। अतएव, आप तब तक ठहरें। निमि चला गया और वशिष्ठ ने सोचा कि राजा को मेरी बात स्वीकार है। इसलिए वे भी चले गये। इसी बीच, निमि ने गौतम इत्यादि ऋषियों को अपने यज्ञ के लिए नियुक्त कर लिया। वशिष्ठ यथाशीघ्र निमि के पास पहुँचे तथा अन्य ऋषियों को यज्ञ में देखकर निमि को शाप दिया कि तुम शरीर-रहित हो जाओ। निमि ने भी वशिष्ठ को ऐसा ही शाप दिया और दोनों शरीर-रहित हो गये। अन्य परम्परा के अनुसार[5] वशिष्ठ ने निमि को शाप दिया कि तुम निर्वीर्य हो जाओ; क्योंकि निमि द्यूत खेलते समय अपनी स्त्रियों की पूजा कर रहा था।

निमि के मृत शरीर को आयज्ञपूर्त्ति तैल एवं इत्रों में सुरक्षित रखा गया। ऋषियों ने उसे पुनर्जिवित करना चाहा; किन्तु निमि ने मना कर दिया। तब ऋषियों ने उसके शरीर का

---

१. हिस्ट्री आफ तिरहुत, श्यामनारायण सिंह लिखित, पृ० २४।

२. अज् कोसीता गोसी अज् गंग-ता-संग।

३. संभवतः विदेह राज्य कभी सीतापुर जिले के नमिषारण्य तक फैला था।

४. रामायण १-४८; विष्णु ४-५; भागवत ६-१३।

५. मत्स्यपुराण, २५ अध्याय।

मंथन किया जिससे एक पुत्र निकला। विचित्र जन्म के कारण ही लोगों ने उस लड़के का नाम जनक रखा और विदेह[1] (जिसका देह नष्ट हो गया है) उसे इसलिए कहा कि उसका पिता अशरीरी था। मथने से उसका जन्म हुआ, अतः उसे मिथि भी कहते हैं। जनक शब्द का संबंध जाति से तुलना करें—(जन-संस्कृत), (जेनसु-लातिन), (जेनस-ग्रीक) और श्रेष्ठतम जन को भी जनक कहा गया है।

पाणिनि[2] के अनुसार मिथिला वह नगरी है जहाँ रिपुओं का नाश होता है। इस दशा में यह शब्द अयोध्या (अपराजय) या अजया का पर्याय हो सकता है।

बौद्धों के अनुसार[3] दिशम्पत्ति के पुत्र रेणु ने अपने राज्य को सात भागों में इसलिए बाँटा कि राज्य को वह अपने ६ मित्रों के साथ भोग सके। ये भाग है—दन्तपुर (कलिंग की प्राचीन राजधानी), पोतन, (गोदावरी के उत्तर पैठन), महिस्सती, रोरुक (सौवीर की राजधानी), मिथिला, चम्पा और वाराणसी। रेणु के परिचारक महागोविन्द ने मिथिला की स्थापना की। यह परम्परा मनु के पुत्रों के मध्य पृथ्वी विभाजन का अनुकरण ज्ञात होता है।

तीरभुक्ति का अर्थ होता है नदियों के (गंगा, गंडकी, कोशी) तीरोंका प्रदेश। आधुनिक तिरहुत का यह सत्यवर्णन है जहाँ अनेक नदियाँ फैली हैं। अधिकांश ग्रंथ मगध में लिखे गये थे और इन ग्रंथकर्त्ताओं के मत में मगध के उत्तर गंगा के उस पार का प्रदेश गंगा के तीर का भाग था। कुछ आधुनिक लेखक तिरहुत को त्रिहुत का अपभ्रंश मानते हैं—जहाँ तीन बार यज्ञ हो चुका हो। यथा—सीताजन्म-यज्ञ, धनुष-यज्ञ तथा राम और सीता का विवाह यज्ञ।

वंश

इस वंश का प्रादुर्भाव इक्ष्वाकु के पुत्र नेमी या निमि से हुआ, अतः इस वंश को सूर्यवंश की शाखा कह सकते हैं। इसकी स्थापना प्रायः कलिपूर्व १३१४ में हुई। (३६६—३४५ (६१ × २८) क्योंकि सीरध्वज जनक के पहले १५ राजाओं ने मिथिला में और अयोध्या में ६१ नृपों ने राज्य किया था। जनक के बाद महाभारत युद्धकाल तक २६ राजाओं ने राज्य किया। मिथिला की वंशावली के विषय में पुराण एक[5] मत हैं। केवल विष्णु, गरुड़ और भागवत पुराणों में शकुनि के बाद अर्जुन से लेकर उपगुप्त तक १२ राजा जोड़ दिये गये हैं। निःसन्देह राजाओं की संख्या वायु और ब्रह्माण्ड की संख्या से अधिक होगी।

---

१. विदेह का विशेषण होता है वैदेह जिसका अर्थ होता है व्यापारी या वैश्य पिता ब्राह्मणी माता का पुत्र। यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि क्यों विदेह या वैहक का अर्थ व्यापारी के लिए प्रयुक्त होने लगा। संभवतः विभिन्न प्रदेशों से लोग विदेह में व्यापार के लिए आते थे, क्योंकि यह उन दिनों बुद्धि और व्यापार का केन्द्र था अथवा विदेह के लोग ही व्यापार के लिए आधुनिक मारवाड़ी के समान दूर-दूर तक जाते थे, अतः वैदेहक कहलाने लगे।

२. उणादि ६०।

३. मज्झिम निकाय, २-७२।

४. हिस्ट्री आफ तिरहुत, पृ० ४।

५. ब्रह्माण्ड ३'६४'१-२४; वायु ८९'१२३; विष्णु ४'५'११-१४; गरुड़ १'१३८'४४-४८; भागवत ९'१३; रामायण १'७१'३-२०; ७'५७'१८-२०।

इस वंश के राजाओं को जनक कहा गया है और यही इस वंश का नाम था। अतः जनक शब्द किसी विशेष राजा के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह भारतीय परंपरा का अनुशीलन है जहाँ विश्वामित्र या वशिष्ठ के वंशजों को उनके गोत्र के नाम से ही पुकारते हैं या किसी त्रिवेदी के सारे वंश को ही त्रिवेदी कह कर सम्बोधित करते हैं। अपितु भागवत[२] कहता है—मिथिला के राजा आत्मविद्या में निपुण थे। यज्ञपति के अनुग्रह से पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी ये सुख-दुःख से परे थे। अतः जनक से एक ही विशेष राजा का बोध भ्रम-मूलक है।

निमि

इक्ष्वाकु का दशम पुत्र निमि था। वह प्रतापी और पुण्यात्मा था। उसने वैजयन्त नगर बसाया और वहीं रहने लगा। उसने उपयुक्त यज्ञ किया। ऋग्वेद[३] में विदेह नमी साप्य का उल्लेख है। बेवर के मत में यह पुरोहित है; किन्तु संदर्भ राजा के अधिक उपयुक्त हो सकता है। पञ्चविंश ब्राह्मण में इसे नमी साप्य वैदेही राजा कहा गया है। इसे शाप मिला था, इसीसे इसको नमीशाप्य भी कहा गया है। निमि जातक में विदेह में मिथिला के राजा निमि का वर्णन है। यह मखदेव का अवतार था, जिसने अपने परिवार के ८४,००० लोगों को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। वंश को रथ के नेमि के समान बराबर करने को इस संसार में निमि आया, इसीलिये इसका यह नाम पड़ा। पिता के संन्यस्त होने पर वह सिंहासन पर बैठा और प्रजा-सहित धर्माचरण में लीन हो गया। एक बार इसके मनमें शंका हुई कि दान और पवित्र जीवन दोनों में क्या श्रेयस्कर है तो शक्र ने इसे दान देने को प्रोत्साहित किया। इसकी यशःपताका दूर-दूर तक फहराने लगी। इन्द्र ने देवों के दर्शनार्थ बुलाने के लिए स्वयं अपना रथ राजा के पास भेजा। मार्ग में इसने अनेक स्वर्ग और नरक देखे। देव-सभा में इसने प्रवचन किया तथा वहाँ एक सप्ताह ठहरकर मिथिला लौट आया और अपनी प्रजा को सब कह सुनाया। जब राजा के नापित ने उसके मस्तक से एक श्वेत केश निकालकर राजा को दिखलाया, तब राजा अपने पूर्वजों के समान अपने पुत्र को राज्य देकर संन्यासी हो गया। किन्तु यह निमि अपने वंश का प्रथम राजा नहीं हो सकता; क्योंकि यह निमि मखदेव के वंश में ८४,००० राजाओं के शासन करने के बाद हुआ।

मिथि

अग्निपूजा का प्रवर्तक विदेघ माथव, विदेह का राजा संभवतः मिथि था। शतपथ[१] ब्राह्मण में कथा है कि किस प्रकार अग्नि वैश्वानर धधकते हुए सरस्वती के तटसे पूर्व में सदानीरा[२]

---

२. भागवत ६.१३।

३. वेदिक इन्डेक्स १.४३६; ऋग्वेद ६.२०.६ (प्रावन्नमी साप्यम्); १०.४८.६ (प्रमे नमी साप्यम्); १.५३.७ (नम्या यदिन्द्र सख्या)।

१. शतपथ ब्राह्मण १-४-१-१०-१७।

२. एगालग ने इसे गंडक बताया; किन्तु महाभारत (भीष्मपर्व ६) इसे गण्डकी और सरयू के बीच बतलाता है। पार्जिटर ने सरयू की शाखा राप्ती से इसकी तुलना की। दे ने इसे रंगपुर और दिनाजपुर से बहनेवाली करतोया बतलाया। किन्तु मूल पाठ (शतपथ पंक्ति १७) के अनुसार यह नदी कोसल और विदेह की सीमा नदी थी। अतः पार्जिटर का सुझाव अधिक माननीय है।

तक गया और माथव अपने पुरोहित राहुगण सहित उसके पीछे चले (कलि पूर्व १२५८)। सायण इस कथानक का नायक मथु के पुत्र माथव को मानता है। 'वेबर' के मत में विदेह का पूर्व रूप विदेघ[1] है, जो आधुनिक तिरहुत के लिए प्रयुक्त है। अग्नि वैश्वानर या अग्नि जो सभी मनुष्यों के भीतर व्याप्त है, वैदिक सभ्यता-पद्धति का प्रतीक है, जो अपनी सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ दूसरों का विनाश करता जाता था। दहन और अग्नि के लिए भूमि जलदान का अर्थ वैदिक यज्ञों[2] का होना ही माना जा सकता है, जिसे सुदूर फैलनेवाले आर्य करते जाते थे और मार्ग में दहन या विनाश करते थे। संभवतः निमि की मृत्यु के बाद यज्ञ समाप्त हो चुके थे। मिथि या सायण के अनुसार मिथि के पुत्र माथव ने विदेह में पुनः यज्ञ-प्रथा आरम्भ की। इसके महापुरोहित गौतम राहुगण ने इस यज्ञ-पद्धति को पुनः जीवित करने में इसकी सहायता की। मिथि के पिता निमि का पुरोहित भी गौतम था। संभवतः मिथि और मथु दोनों की व्युत्पत्ति एक ही धातु मन्थ से है।

पुराणों में या जातकों में माथव विदेह का उल्लेख नहीं मिलता। विमलचन्द्र सेन[3] के मत में निमि जातक के मखदेव का समीकरण मख और मिथि समान है। किन्तु यह समीकरण युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। निमि को ही मखदेव कहते थे, क्योंकि इसने अनेक यज्ञ किये थे।

सीता के पिता

मिथिला के सभी राजाओं को महात्मा जनक कहा गया है तथा निमि को छोड़कर सबों की उपाधि जनक की ही थी। अतः यह कहना कठिन है कि आरुणियाज्ञवल्क्य का समकालीन उपनिषदों का जनक कौन है। यह भी नहीं कहा जा सकता[4] कि सीता के पिता और वैदिक जनक एक ही हैं, यद्यपि भवभूति[5] (विक्रम की सप्तम शती) ने इस समीकरण को स्वीकार कर लिया है। जातक के भी किसी विशेष राजा के साथ हम इस जनक को नहीं मिला सकते। हेमचन्द्ररायचौधरी[6] वैदिक जनक को, जातक के महाजनक प्रथम से तुलना करते हैं। किन्तु जातक से महाजनक प्रथम के विषय में विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। इसके केवल दो पुत्र अरिष्ट जनक और पोल जनक थे। महाजनक[7] द्वितीय का व्यक्तित्व महान् है। वह ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसका बाल-काल विचित्र था। जीवन के अन्तिम भाग में उसने अपूर्व त्याग का परिचय दिया। यद्यपि पुराणों में जनक के प्रथम जीवन भाग पर ऐतिहासिक महत्त्व का प्रकाश नहीं मिलता तथापि ब्राह्मण ग्रंथों में इसे उच्च कोटि का वेदान्त विद् बतलाया गया है। जातक की

---

१. पाणिनि ७-३-५३ न्यङ्क्वादिनांच (वि + दिह् + घञ्)।
२. इण्डो आर्यन लिटरेचर व कल्चर, नरेन्द्रनाथ घोष,कलकत्ता (१९३४)पृ० १७२।
३. कलकत्ता विश्वविद्यालय का जर्नल आफ डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, १९३० स्टडीज इन जातक पृ० १४।
४. हेमचन्द्र राय चौधरी पृ० ४७।
५. महावीर चरित ११-४३; उत्तर रामचरित ४ ८।
६. पालिटिल हिस्ट्री आफ एंशियन्ट इण्डिया पृ० ४२।
७. महाजनक जातक (संख्या ५३९)।

परम्परा इससे मेल खाती है। अतः विमलचन्द्र सेन[1] जनक को महाजनक द्वितीय बतलाते हैं। रीजडेविस[2] का भी यही मत है।

जनक सचमुच अपनी प्रजा का जनक था। इक्ष्वाकुवंश का यह राजा महान् धार्मिक था। इसने या इसके किसी वंशज ने अगर अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के कारण वेदान्तिक दृष्टि से विदेह की उपाधि प्राप्त की तो कोई आश्चर्य नहीं। विदेह जीवनमुक्त पुरुष की अत्यन्त समीचीन उपाधि है। प्राचीन काल में अनेक राजा[3] यतिजीवन-यापन और राजभोग साथ-साथ करते थे। एक राजा-द्वारा अर्जित विरुद को उस वंश के सभी राजा अपने नाम के साथ जोड़ने लगे, जिस प्रकार आङ्गलभूमि में अष्टम हेनरी द्वारा प्राप्त धर्मरक्षक (डिफेण्डर आफ फेथ) की उपाधि आज तक वहाँ के राजा अपने नाम के साथ जोड़ते हैं। कम-से-कम इस वंश के विदेह जनक ने उपनिषदों में अपने गुरु याज्ञवल्क्य के साथ वेदान्त के तत्त्वों का प्रतिपादन करके अपने को अमर कर दिया। बादरायण ने इसे पूर्ण किया है।

सीरध्वज

ह्रस्वरोम[4] राजा के दो पुत्र थे—सीरध्वज और कुशध्वज। पिता की मृत्यु के बाद सीरध्वज गद्दी पर बैठा और छोटा भाई उसकी संरक्षकता में रहने लगा। कुछ समय के बाद संकाश्य[5] के राजा सुधन्वा ने मिथिला पर आक्रमण किया। इसने जनक के पास यह संवाद भेजा कि शिव के धनुष और अपनी कन्या सीता को मेरे पास भेज दो। सीरध्वज ने इसे अस्वीकार कर दिया। महायुद्ध में सुधन्वा रणखेत रहा। सीरध्वज ने अपने भाई कुशध्वज को संकाश्य की गद्दी पर बिठाया। भागवत पुराण में जो वंशावली है, वह भ्रान्त है, क्योंकि कुशध्वज को उसमें सीरध्वज का पुत्र बताया गया है तथापि रामायण, वायु तथा विष्णुपुराण के अनुसार कुशध्वज सीरध्वज का भाई था।

सीरध्वज की पताका पर हलका चिह्न था, इनकी पुत्री सीता का विवाह राम से हुआ था, इनके भाई कुशध्वज[6] की तीन कन्याओं का विवाह लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न से हुआ।

राम का मिथिला-पथ

वाल्मीकि रामायण से हमें ज्ञान हो सकता है कि किस मार्ग[7] से रामचन्द्र अयोध्या से बिश्वामित्र के साथ सिद्धाश्रम होते हुए विदेह की राजधानी पहुँचे।

राम और लक्ष्मण अस्त्र-शस्त्र सज्जित होकर विश्वामित्र के साथ चले। आधे योजन चलने के बाद सरयू के दक्षिण तट पर पहुंचे। नदी का सुन्दर स्वादु जलपान करके उन्होंने सरयू

---

१. स्टडीज इन जातक पृ० १३।
२. बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० २६।
३. पण्डित गंगानाथ झा स्मारक ग्रंथ, मिथिला, सीताराम पृ० ३७७।
४. रामायण १-७१-१६-२० ; १-७०-२-३।
५. इक्षुमती या कालिनदी के उत्तर तट पर एटा जिले में संकिस या वसन्तपुर।
६. रामायण १-७२-११।
७. एजुकेशनल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन इन एंसियंट इण्डिया, डाक्टर सुविमलचन्द्र सरकार रचित (१९२८) पृ० ११८-२०।

के सुरम्य तट पर शांतिपूर्वक रात्रि[1] बिताई। दूसरे दिन स्नान-संध्या-पूजा के बाद वे त्रिपथगा[2] गंगा के पास पहुँचे और गंगा सरयू के सुन्दर संगम पर उन्होंने कामाश्रम[3] देखा जहाँ पर शिवजी ने कामदेव को भस्मीभूत किया था। रात में उन्होंने यहीं पर विश्राम किया, जिससे दूसरे दिन गंगा पार कर सके।

तीसरे दिन प्रातःकाल राजकुमारों ने ऋषि के साथ नदी तट के लिए प्रस्थान किया, जहाँ पर नाव तैयार थी। मुनि ने इन कुमारों के साथ नदी पार किया और वे गंगा के दक्षिण तट पर पहुँचे। थोड़ी ही दूर चलने पर उन्होंने अंधकारपूर्ण भयानक जंगल[4] देखा जो बादल के समान आकाश को छूते थे। यहाँ अनेक जंगली पक्षी और पशु थे। यहीं पर सुन्द की सुन्दरी ताटका का वध किया गया और राजकुमार जंगल में ही ठहरे। यहीं पर चरित्रवन, रामरेखा घाट और विश्राम घाट है, जहाँ पर रामचन्द्र नदी पार करने के बाद उतरे थे। यहाँ से सिद्धाश्रम की ओर चले जो संभवतः बक्सर से अधिक दूर नहीं था।

डाक्टर सुविमलचन्द्र सरकार का सुझाव[5] है कि सिद्धाश्रम आजकल का सासाराम है, जो पहले सिद्धाश्रम कहलाता था, किन्तु यह ठीक नहीं जँचता; क्योंकि वामनाश्रम गंगा-सरयू-संगम के दक्षिण तट से दूर न था। आश्रम का क्षेत्र जंगल, वानर, मृग, खग से पूर्ण था। यह पर्वत के पास भी नहीं था। अतः यह सिद्धाश्रम सासाराम के पास नहीं हो सकता।

संभवतः यह सिद्धाश्रम डुमराव के पास था। प्राचीनकाल में पूरा शाहाबाद जिला जंगलों से भरा था। गंगा-सरयू का संगम जो, आजकल छपरा के पास है, पहले बक्सर के उत्तर बलिया के पास था। वहाँ पर आजकाल भी सरयू की एक धारा बहती है। शतियों से धारा बदल गई है।

वे लोग सिद्धाश्रम में छ दिनों[6] तक ठहरे। वे सुबाहु के आक्रमण से रक्षा के लिए रात-दिन जागकर पहरा देते थे। करूषों के प्रधान सुबाहु का वध किया गया; किन्तु मलदों (मलज = तुलना करें जिला मालदा) का सरदार मारीच भाग कर दक्षिण की ओर चला गया। यह रामचन्द्र के मिथिला के निमित्त प्रस्थान के ग्यारहवें दिन की बात है।

सिद्धाश्रम से वे १०० शकटों पर चले और आठ-दस घंटे चलने के बाद आश्रम से प्रायः बीस कोस चलकर शोणतट पर पहुँचे। उस समय सूर्यास्त हो रहा था, अतः, उन्होंने वहीं विश्राम किया। मुनि कथा सुना रहे थे। आधीरात[7] हो गई और चन्द्रमा निकलने लगा। अतः यह कृष्ण पक्ष की अष्टमी रही होगी।

दूसरे दिन वे गंगातट पर ऋषि-मुनियों के स्थान पर पहुँचे, जो इनके शोण-वासस्थान से तीन योजन[8] की दूरी पर था। उन्होंने शोण को वहीं पार किया, किन्तु किनारे-किनारे

---

१. रामायण १-२२।
२. महाविद्या, काशी, १९३९ में 'श्री गंगाजी' देखें पृ० १३७-४०।
३. रामायण १-२३।
४. रामायण १-२४ (वनं घोरसंकाशम्)।
५. सरकार पृ० ११९।
६. रामायण १-३०-५।
७. रामायण १-३४-१७।
८. ,, १-३२-१०।

गंगा-शोण संगम पर पहुँचे। शोण भयानक नदी है, अतः उन्होंने उसे वहाँ पार करता उचित नहीं समझा। गंगा भी दिन में उस दिन पार नहीं कर सकते थे, अतः रात्रि में वहीं ठहर गये। इतिहासवेत्ता[1] के मत में वे प्राचीन वाणिज्यपथ का अनुसरण कर रहे थे। संभवतः उस समय संगम पाटलिपुत्र के पास था। उन्होंने सुन्दर नावों[2] पर संगम पार किया।

नावों पर मखमल बिछे थे (सुखास्तीर्ण, सुखातीर्ण या सुविस्तीर्ण)। गंगातट से ही उन्होंने वैशाली देखी तथा काश्मीरी रामायण के अनुसार स्वयं वैशाली जाकर वहाँ के राजा सुमति का आतिथ्य स्वीकार किया। पन्द्रहवें दिन वे वैशाली से विदेह की राजधानी मिथिला की ओर चले और मार्ग में आंगिरस ऋषि गौतम के आश्रम में ठहरे। रामने यहीं पर अहल्या का उद्धार किया। इस स्थान को अहियारी[3] कहते हैं। वहाँ से वे यज्ञवाट उसी दिन पहुँच गये।

विदेहराज जनक ने उन्हें यज्ञशाला में निमंत्रित किया। विश्वामित्र ने राजा से कहा कि राजकुमार धनुष देखने को उत्सुक हैं। जनक ने अपने परिचरों को नगर से धनुष लाने की आज्ञा दी। परिचर उसे कठिनाई के साथ लोहे के पहियों[4] पर ले आये। अतः यह कहा जा सकता है कि धनुष नगर से दूर यज्ञवाट में तोड़ा गया। कहा जाता है कि धनुष जनकपुर से सात कोस की दूरी पर धनुखा में तोड़ा गया था। वहाँ पर अब भी उसके भग्नावशेष पाये जाते हैं।

धनुष सोलहवें दिन तोड़ा गया और दूत यथाशीघ्र वेगयुक्त यानों से समाचार देने के लिए अयोध्या भेजे गये। ये लोग तीन दिनों[5] में जनकपुर से अयोध्या पहुँच गये। दशरथ ने बरात सजाकर दूसरे दिन प्रस्थान किया और वे मिथिला पहुँचे। विवाह राम के अयोध्या से प्रस्थान के पचीसवें दिन सम्पन्न हुआ। विश्वामित्र तप के लिए हिमालय चले गये, और बारात अयोध्या लौट आई। बारात मुजफ्फरपुर, सारण और गोरखपुर होते हुए जा रही थी। रास्ते में परशुराम से भेंट हो गई, जिनका आश्रम[6] गोरखपुर जिले में सलीमपुर के पास है।

राम का विवाह मार्गशीर्ष शुक्लपंचमी को वैष्णव सारे भारत में मनाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि रामचन्द्र अयोध्या से कार्तिक शुक्ल दशमी को चले और ऋषि का काम तथा विवाह एक मास के अन्दर ही सम्पन्न हो गया। पुरातत्त्ववेत्ताओं[7] के मत में विवाह के समय रामचन्द्र १६-१७ के रहे होंगे। यह मानने में कठिनाई है क्योंकि प्रस्थान के समय रामचन्द्र १५ ही[8] वर्ष के थे और एकमास के भीतर ही कार्य हो गया। राम का विवाह कलिसंवत् ३६३ में हुआ।

---

१. सरकार पृ० ११६।
२. रामायण १-४५-६।
३. अवध तिरहुत रेलवे के जनकपुररोड पर कमतौल स्टेशन के पास।
४. रामायण १ ६७-४।
५. वही १-६८-१।
६. लिंगविस्टिक व ओरियंटलएसेज, कस्ट लिखित, लन्दन १८८० पृ० ७४।
७. सरकार पृ० २८।
८. रामायण १-२०-२।
९. गंगानाथझा-स्मारकग्रन्थ, धीरेन्द्र वर्मा का लेख, पृ० ४२६-३२।

अहल्या कथानक

अहल्या का वर्णन सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण[१] में है, जहाँ इन्द्र को अहल्या का कामुक कहा गया है। इसकी व्याख्या करते हुए षड्विंश ब्राह्मण[२] कहता है कि इन्द्र अहल्या और मैत्रेयी का प्रियतम था। जैमिनीय[३] ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में इस कथानक का विस्तार नहीं मिलता।

रामायण[४] में हम अंगिरावंश के शरद्वन्त का आश्रम पाते हैं। यह अहल्या के पति थे। यह अहल्या उत्तर पांचाल के राजा दिवोदास की बहन[५] थी। यह आश्रम मिथिला की सीमा पर था जहाँ सूर्यवंशी राम ने एक उपवन में अहल्या का उद्धार किया। यहाँ हमें कथानक का सविस्तर वर्णन मिलता है, जो पश्चात् साहित्य में रूपान्तरित हो गया है। संभवतः वैष्णवों ने विष्णु की महत्ता इन्द्र की अपेक्षा अधिक दिखलाने के लिए ऐसा किया।

कुमारिलभट्ट[६] (विक्रम आठवीं शती) के मत में सूर्य अपने महाप्रकाश के कारण इन्द्र कहलाता है तथा रात्रि को अहल्या कहते हैं। सूर्योदय होते ही रात्रि (अहल्या) नष्ट हो जाती है, अतः इन्द्र (सूर्य को) अहल्या का जार कहा गया है न कि किसी अवैध सम्बन्ध के कारण। इस प्रकार के सुझाव प्राचीनकाल की सामाजिक कुरीतियों को सुलझाने के प्रयास मात्र हैं। गत शती में स्वामी दयानन्द ने भी इस प्रकार के अनेक सुझावों को जनता के सामने रखा था। सत्यतः प्रत्येक देश और काल में लोग अपने प्राचीनकाल के पूज्य और पौराणिक चरित्रों के दुराचारों की ऐसी व्याख्याएँ करते आये हैं कि वे चरित्र निन्दनीय नहीं माने जायँ।

किन्तु, ऐलवंशी होने के कारण अहल्या सूर्यवंश के पुरोहित के साथ निभ न सकी; इसीलिए, कहा गया है कि 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्' शादी-विवाह बराबर में होना चाहिए। सूर्यवंश की परम्परा से वह एकदम अनभिज्ञ थी, अतः पति से मनमुटाव हो जाना स्वाभाविक था। राम ने दोनों में समझौता करा दिया। पांडवों ने भी अपनी तीर्थयात्रा में अहल्यासर के दर्शन किये थे, अतः यह कथानक प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित ज्ञात होता है।

मिथिलादहन

राजा जनक का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[७] में मिलता है, जिसके एकादश अध्याय[८] में उसका सविस्तर वर्णन है। श्वेतकेतु, आरुणेय, सोम, शुष्म, शतयज्ञी तथा याज्ञवल्य भ्रमण करते हुए विदेह जनक के पास जाते हैं। राजा पूछता है कि आप अग्निहोत्र

---

१. शतपथ ३-३-४-१८।
२. षड्विंश १-१।
३. जैमिनी २-७६।
४. रामायण १-४८-६।
५ ऐंशयण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन पृ० ११६-१२२; महाभारत १-१३०।
६. तन्त्रवार्तिक १-३-७। कुछ लोग कुमारिलभट्ट को शंकर का समकालीन पाँचवीं शती विक्रमपूर्व मानते हैं।
७. महाभारत ३-८२-१०६।
८. शतपथ ३-१ १; ४-१-१; २-१; ४-७;५-१४-८; ६-३-१-२; ४,३,२०; ६-२-१।
६. शतपथ ब्राह्मण ११-६-२-१।

किस प्रकार करते हैं। सभी विभिन्न उत्तर देते हैं; किन्तु राजा याज्ञवल्क्य के उत्तर से संतुष्ट होकर उन्हें एक सौ गौदान देता है। कौशितकी ब्राह्मण [१] और बृहद् जाबाल [२] उपनिषद् में भी इसका उल्लेख मात्र है, किन्तु बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रायः सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय जनक-याज्ञवल्य के तत्त्व-विवेचन से ओत-प्रोत है।

महाभारत [३] में भी जनक के अनेक कथानक हैं; किन्तु पाठ से ज्ञात होता है कि जनक एक सुदूर व्यक्ति है और वह एक कथामात्र ही प्रतीत होता है। महाभारत कहता है—

सु सुखंवत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन॥

यह श्लोक अनेक स्थलों पर विदेह का उद्‌गार बतलाया गया है। जनक ने अनेक संप्रदायों के सैकड़ों आचार्यों को एकत्र कर आत्मा का रूप जानना चाहा। अन्ततः पञ्चशिख आता है और सांख्यतत्त्व का प्रतिपादन करता है।

जब जनक संसार का परित्याग करना चाहते थे तब उनकी स्त्री कहती[४] है कि धन, पुत्र, मित्र, अनेक रत्न व यज्ञशाला छोड़कर मुट्ठीभर चावल के लिए कहाँ जाते हो। अपना धन-ऐश्वर्य छोड़कर तुम कुत्ते के समान अपना पेट भरना चाहते हो। तुम्हारी माता अपुत्र हो जायगी तथा तुम्हारी स्त्री कौशल्या पतिविहीन हो जायगी। उसने पति से अनुरोध किया कि आप सांसारिक जीवन व्यतीत करें और दान दें, क्योंकि यही सत्यधर्म है और संन्यास से कोई लाभ नहीं [५]।

जातकों में जनक का केवल उल्लेख भर है। किन्तु धम्मपद[६] में एक गाथा है जो महाभारत के श्लोक से मिलती-जुलती है। वह इस प्रकार है—

सुसुखंवत जीवाम ये सं नो नत्थि किञ्चनं।
पीति मक्खा भविस्साम देवा अभस्सरायथा॥

धम्मपद के चीनी और तिब्बती संस्करणों में एक और गाथा है जो महाभारत श्लोक का ठीक रूपान्तर प्रतीत होती है।

महाजनक जातक के अनुसार राजा एक बार उपवन में गया। वहाँ आम के दो वृक्ष थे, एक आम्रफल से लदा था तथा अन्य पर एक भी फल नहीं था। राजा ने फलित वृक्ष से एक फल तोड़कर चखना चाहा। इतने में उसके परिचरों ने पेड़ के सारे फलों को तोड़ डाला। लौटती बार राजा ने मन में सोचा कि फल के कारण ही पेड़ का नाश हुआ तथा दूसरे वृक्ष का कुछ नहीं बिगड़ा। संसार में धनिकों को ही भय घेरे रहता है। अतः राजा ने संसार त्याग करने का निश्चय किया। जिस समय रानी राजा के दर्शन के लिए आ रही थी, ठीक उसी समय राजा ने महल

---

१. कौशितकी ४-१।
२. बृहद्जाबाल ७-४-५।
३. महाभारत ११-३६; १२-३११-१६।
४. महाभारत १२-३१८-४ व १२।
५. प्रथम ओरियंटल कान्फेंस का विवरण, पूना १९२७. सी० वी० राजवाडे का लेख, पृ० ११५-२४।
६. धम्मपद १५-४।
७. सैक्रेड बुक आफ द ईस्ट, भाग ४५ पृ० ३५ अध्याय ६।

छोड़ दिया। यह जानकर रानी राजा के पीछे-पीछे चली, जिससे आग्रह करके राजा को सांसारिक जीवन में वापस ला सके। उसने चारों ओर अग्नि और धूम दिखाया और कहा कि देखो ज्वाला से तुम्हारा कोष जला जा रहा है। ऐ राजा, आओ, देखो, तुम्हारा धन नष्ट न हो जाय। राजा ने कहा मेरा अपना कुछ नहीं। मैं तो सुख से हूँ। मिथिला के जलने से मेरा भला क्या जल सकता है? रानी ने अनेक प्रलोभनों से राजा को फुसलाने का व्यर्थ यत्न किया। राजा जंगल में चला गया और रानी ने भी संसार छोड़ दिया।

उत्तराध्ययन सूत्र के नमी प्रव्रज्या की टीका और पाठ में नमी का वर्णन है। नमी ब्राह्मण और बौद्ध ग्रंथों का निमि ही है। टीका में नमी के पूर्व जीवन का वृतान्त इस प्रकार है। मालवक देश में मणिरथ नामक एक राजा था। वह अपनी भ्रातृजाया मदनरेखा के प्रति प्रेमासक्त हो गया। किन्तु, मदनरेखा उसे नहीं चाहती थी। अतः मणिरथ ने मदनरेखा के पति (अपने भाई) की हत्या करवा दी। वह जंगल में भाग गयी और वहीं पर उसे एक पुत्र हुआ। एक दिन स्नान करते समय उसे एक विद्याधर लेकर भाग गया। मिथिला के राजा ने उस पुत्र को पाया और अपनी भार्या को उसका भरण-पोषण सौंपा। इसी बीच मदनरेखा भी मिथिला पहुँची और सुव्रता नाम से ख्यात हुई। उसके पुत्र का नाम नमी था। जिस दिन मणिरथ ने अपने भाई की हत्या की, उसी दिन वह स्वयं भी सर्प-दंश से मर गया। अतः मदनरेखा का पुत्र चन्द्रयश मालवा की गद्दी पर बैठा। एक बार नमी का श्वेत हाथी नगर में घूम रहा था। उसे चन्द्रयश ने पकड़ लिया। इसपर दोनों में युद्ध छिड़ गया। सुव्रता ने नमी को अपना भेद बतलाया और दोनों भाइयों में संधि करवा दी। तब चन्द्रयश ने नमी के लिए राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। एक बार नमी के शरीर में महाजलन पैदा हुआ। महिषियों ने उसके शरीर पर चन्दन लेप किया, किन्तु उनके कंकण (चूड़ियों) की झंकार से राजा को कष्ट होता था। अतः उन्होंने प्रत्येक हाथ में एक को छोड़कर सभी कंकणों को तोड़ डाला; तब आवाज बंद हो गई। इससे राजा को ज्ञान हुआ कि संघ ही सभी कष्टों का कारण है और उसने संन्यास ले लिया।

अब सूत्र का पाठ आरम्भ होता है। जब नमी प्रव्रज्या लेने को थे तब मिथिला में तहलका मच गया। उनकी परीक्षा के लिए तथा उन्हें डिगाने को ब्राह्मण के वेश में शक्र पहुँचे। आकर शक्र ने कहा—यहाँ आग धधकती है। यहाँ वायु है। तुम्हारा गढ़ जल रहा है। अपने अन्तःपुर को क्यों नहीं देखते? (शक्र अग्निवायु के प्रकोप से भस्मीभूत महल को दिखलाते हैं)।

नमी—मेरा कुछ भी नहीं है। मैं जीवित हूँ और सुख से हूँ। दोनों में लम्बी वार्ता होती है; किन्तु, अन्ततः तर्क में शक्र हार जाते हैं। राजा प्रव्रज्या लेने को तुला हुआ है। अन्त में शक्र राजा को नमस्कार करके चला जाता है।

अतः मिथिला का दर्शन ऐतिहासिक तथ्य नहीं कहा जा सकता। महाभारत और जातक में रानी राजा को प्रलोभन देकर सांसारिक जीवन मे लगाना चाहती है। किन्तु, जैन-परम्परा में शक्र परीक्षा के लिए आता है। महाभारत और जातक में नामों की समानता है, अतः कह सकते हो कि जैनों ने जनक के बदले जनक के एक पूर्वज नमी को उसके स्थान पर रख दिया। सभी स्रोतों से यही सिद्ध होता है कि मिथिला के राजा सांसारिक सुख के बहुत इच्छुक न थे और वे ब्रह्म-प्राप्ति के ही अभिलाषी थे।

अरिष्ट जनक

यह अरिष्ट जनक अरिष्टनेमी[1] हो सकता है। विदेह राजा महाजनक प्रथम के दो पुत्रों में यह ज्येष्ठ था। पिता के राज्यकाल में यह उपराजा था और अपने पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा। इसके छोटे भाई सेनापति पोल जनक ने इसकी हत्या कर दी। विधवा रानी राज्य से भागकर काल चम्पा पहुँची और एक ब्राह्मण के यहाँ बहन बनकर रहने लगी। यहीं पर उसे पूर्व गर्भ से एक पुत्र हुआ जो महाजनक द्वितीय के नाम से प्रख्यात है।

महाजनक द्वितीय

शिक्षा समाप्त करने के बाद १६ वर्ष की अवस्था में महाजनक नावों पर व्यापार के लिए सुवर्ण भूमि को चला जिससे प्रचुर धन पैदा करके मिथिला राज्य को पुनः पा सके।

समुद्र के बीच में पोत डूब गया। किसी प्रकार महाजनक द्वितीय मिथिला पहुँचा। इस बीच पोलजनक की मृत्यु हो गई थी। गद्दी खाली थी। राजा पोलजनक अपुत्र था, किन्तु उसकी एक षोडशी कन्या थी। महाजनक ने उस कन्या का पाणिपीड़न किया और गद्दी पर बैठा। यह बहुत जनप्रिय राजा था। धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण इसने भी अंत में राज्य त्याग दिया। यद्यपि इसकी भार्या शीलवती तथा अन्य प्रजा ने इससे राजा बने रहने के लिए बहुत प्रार्थना की। नारद, कस्सप और मगजिन दो साधुओं ने इसे पुण्यजीवन बिताने का उपदेश किया। प्रव्रज्या के बाद इसका पुत्र दीर्घायु विदेह का राजा हुआ।

अंगति

इस[3] पुण्य क्षत्रिय विदेह राज की राजधानी मिथिला में थी। इसकी रुजा नामक एक कन्या थी तथा तीन मंत्री थे—विजय, सुनाम और अलाट। एक बार राजा महात्मा कस्सपवंशी गुण ऋषि के पास गया। राजा अनास्तिक प्रवृत्ति का हो गया। उसकी कन्या रुजा ने उसे सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की। अन्त में नारद कस्सप आया और राजा को सुमार्ग पर लाया।

सुरुचि

विदेह राज सुरुचि के पुत्र का नाम भी सुरुचि था। उसका एक सौ अट्टालिकाओं का प्रासाद पन्ना हीरे से जड़ा था। सुरुचि के पुत्र और प्रपौत्र का भी यही नाम था। सुरुचि का पुत्र तक्षशिला अध्ययन के लिए गया था। वहीं पर वाराणसी के ब्रह्मदत्त से उसने मैत्री कर ली। जब दोनों अपने-अपने सिंहासन पर बैठे तब वैवाहिक सम्बन्ध से भी उन्होंने इस मैत्री को प्रगाढ बना लिया। सुरुचि तृतीय ने वाराणसी की राजकुमारी सुमेधा का पाणिग्रहण किया। इस विवाह-सम्बन्ध से महापनाद[4] उत्पन्न हुआ जिसके जन्म के समय दोनों नगरों में घोर उत्सव मनाया गया।

---

१. स्टडीज इन जातक पृ० १३७।
२. वहीं पृ० १२२—६ महाजनक जातक।
३. वहीं पृ० १३२—६ महानारद कस्सप जातक।
४. महापनाद व सुरुचि जातक; जर्नल डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, कलकत्ता, १६३० पृ० १२७।

साधीन

यह[1] अत्यन्त धार्मिक राजा था। इसका यश और पुण्य इतना फैला कि स्वयं शक्र इसे इन्द्रलोक ले गये और वहाँ पर यह चिरकाल तक (७०० वर्ष) रहा। वह मृत्युलोक में पुनः आया जब विदेह में नारद का राज्य था। इसे राज सौंपा गया, किन्तु इसने राज्य लेना स्वीकार नहीं किया। इसने मिथिला में रहकर सात दिनों तक सदाव्रत बाँटा और तत्पश्चात् अन्य लोक को चला गया।

महाजनक, अंगति, सुरुचि, साधीन, नारद इत्यादि राजाओं का उल्लेख केवल जातकों में ही पाया जाता है, पुराणों में नहीं। जातकों में पौराणिक जनकवंश के राजाओं का नाम नहीं मिलता, यद्यपि पौराणिक दृष्टि से वे अधिक महत्त्वशाली हैं। इसका प्रधान कारण धार्मिक लेखकों की स्वधर्म-प्रवणता ही है। पुराण हमें केवल प्रमुख राजाओं के नाम और चरित्र बतलाते हैं। संभवतः बौद्धों ने पुराणों के सिवा अन्य आधारों का अवलम्बन लिया हो जो अब हमें अप्राप्य है।

कलार

कहा जाता है[2] कि निमि के पुत्र कलार जनक ने अपने वंश का नाश किया। यह राजा महाभारत[3] का कलार जनक प्रतीत होता है। कौटल्य[4] कहता है—दाण्डक्य नामक भोजराज ने कामवश ब्राह्मण कन्या के साथ बलात्कार किया और वह बंधु-बांधव एवं समस्त राष्ट्र के सहित विनाश को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार, विदेह के राजा कराल का भी नाश हुआ। भिक्षु प्रभमति इसकी व्याख्या[5] करते हुए कहते हैं—राजा कराल तीर्थ के लिए योगेश्वर गये। वहाँ झुण्ड में एक सुन्दरी श्यामा ब्राह्मणभार्या को राजा ने देखा। प्रेमासक्त होने के कारण राजा उसे बलात् नगर में ले गया। ब्राह्मण क्रोध में चिल्लाता हुआ नगर पहुँचा और कहने लगा—वह नगर फट क्यों नहीं जाता जहाँ ऐसा दुष्टात्मा रहता है ? फलतः भूकम्प हुआ और राजा सपरिवार नष्ट हो गया। अश्वघोष[6] भी इस वृत्तान्त का समर्थन करता है और कहता है कि इसी प्रकार कराल-जनक भी ब्राह्मण कन्या को बलात् भगाने के कारण जातिच्युत हुआ; किन्तु, उसने अपनी प्रेम भावना न छोड़ी।

पार्जिटर[7] कृति को कृतक्षण[8] बतलाता है, जिसने युधिष्ठिर की सभा में भाग लिया था। किन्तु, यह संतुलन अयुक्त प्रतीत होता है। युधिष्ठिर के बाद भी मिथिला में जनक राजाओं ने राज्य किया। भारत युद्धकाल से महापद्मनन्द तक २८ राजाओं ने १५०१ वर्ष (कलि संवत् १२३४ से क० सं० २७३५) तक राज्य किया। इन राजाओं का मध्यमान प्रति राजा ५४ वर्ष होता है। किन्तु ये २८ राजा केवल प्रमुख हैं। और इसी अवधि में मगध में कुल ४६ राजाओं

---

१. साधीन जातक ; स्टडीज इन जातक, पृ० १६८।
२. मखदेव सुत्त मज्झिम निकाय २-३२ ; निमि जातक।
३. महाभारत १२-३०२-७।
४. अर्थशास्त्र १-६।
५. संस्कृत संजीवन पत्रिका, पटना १६४०, भाग १ पृ० २७।
६. बुद्ध चरित्र ४-८०।
७. ऐंशियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन पृ० १४९।
८. महाभारत २-४-३३।
९.

ने (३२ ब्रहद्रथ, १२ शिशुनाग, ५ प्रद्योत) राज्य किया। राकहिल[1] बिम्बिसार का समकालीन विदेह राज विरुधक का उल्लेख करता है। विष्णुपुराण कहता है कि जनक वंश का नाश कृति से हुआ।

अतः कराल या कलार को पुराणों के कृति से मिलाना अधिक युक्त होगा, न कि महाभारत के कृतक्षण से। इस समीकरण में यही एक दोष है कि कलार निमि का पुत्र है, न कि बहुलाश्व का। किन्तु, जिस प्रकार इसवंश के अनेक राजा जनक विरुद धारण करते थे, उसी प्रकार हो सकता है बहुलाश्व ने भी निमि का विरुद धारण किया हो।

विदेह साम्राज्य के विनाश में काशी का भी हाथ[2] था। उपनिषद् के जनक के समय भी काशिराज अजात शत्रु[3] विदेहराज यशोमत्सर को न छिपा सका। 'जिस प्रकार काशिराज पुत्र या विदेहराजपुत्र धनुष की डोरी खींचकर हाथ में दो वाण लेकर—जिनकी नोंक पर लोहे की तेजधार होती है और जो शत्रु को एकदम आर-पार कर सकते हैं—शत्रु के संमुख उपस्थित होते हैं।' यह अंश संभवतः काशि विदेह राजाओं के सतत युद्ध का उल्लेख करता है। महाभारत[4] में मिथिला के राजा जनक और काशिराज दिवोदास[5] के पुत्र प्रतर्दन के महायुद्ध का उल्लेख है। कहा जाता है कि वज्जियों की उत्पत्ति[6] काशी से हुई। इससे संभावित[7] है कि काशी का कोई एक छोटा राजवंश विदेह में राज करने लगा होगा। सांख्यायण श्रौतसूत्र[8] में विदेह के एक पर अह्लार नामक राजा का भी उल्लेख है।

भारत-युद्ध में विदेह

पाण्डवों के प्रतिकूल दुर्योधन की ओर से क्षेमधूर्ति राजा भी महाभारत-युद्ध में लड़ा। श्याम नारायण सिंह[9] इसे मिथिला का राजा मानते हैं, जिसे विष्णु क्षेमारि और भागवत-क्षेमधी कहते हैं। किन्तु महाभारत इस क्षेमधूर्ति कलूतों का राजा बतलाता है। पांडवों के पिता पाण्डु[10] ने मिथिला विजय की तथा भीमसेन[11] ने भी मिथिला और नेपाल के राजाओं को पराजित किया। अतः मिथिला के राजा पाण्डवों के करद थे और आशा की जाती है कि इन करदों ने महाभारत युद्ध में भी पाण्डवों का साथ दिया होगा।

---

१. लाइफ आफ बुद्ध पृ० ६३।
२. पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियंट इण्डिया पृ० ६४।
३. बृहदारण्यक उपनिषद् ३-८-२।
४. महाभारत १२-९९-१।
५. महाभारत १२-३०; रामायण ७-४८-१५।
६. परमाथ जातक १-१५८-६५।
७. पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियंट इण्डिया पृ० ७२।
८. साख्यायण १६-९-११।
९. हिस्ट्री आफ तिरहुत, कलकत्ता १९२८, पृ० १७।
१०. महाभारत ८-५; १-११३-२८; २-२९।
११. महाभारत २-३०।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य[1] शब्द का अर्थ होता है यज्ञों का प्रवक्ता। महाभारत[2] और विष्णु पुराण[3] के अनुसार याज्ञवल्क्य व्यास के शिष्य वैशम्पायन का शिष्य था। जो कुछ भी उसने सीखा था, उस ज्ञान को उसे वाध्य होकर त्यागना पड़ा और दूसरों ने उसे अपनाया; इसी कारण उस संहिताभाग को तैत्तिरीय यजुर्वेद कहा गया है, याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना करके वाजसनेयी संहिता प्राप्त की। अन्य परम्परा के अनुसार याज्ञवल्क्य का पिता ब्रह्मरात एक कुलपति था जो असंख्य विद्यार्थियों का भरण-पोषण करता था, अतः उसे बाजसनि कहते थे। वाजसनि शब्द का अर्थ होता है—जिसका दान अन्न हो (वाजोसनिः यस्यसः)। उसका पुत्र होने के कारण याज्ञवल्क्य को वाजसनेय कहते हैं। उसने उद्दालक आरुणि से वेदान्त सीखा। उद्दालक[4] ने कहा, यदि वेदान्तिक शक्ति से पूर्ण जल काष्ठ पर भी छिड़का जाय तो उसमें से शाखा-पत्र निकल आवेंगे। स्कन्द[5] पुराण में एक कथानक है जहाँ याज्ञवल्क्य ने सचमुच इस कथन को यथार्थ कर दिखाया।

यह महान तत्त्ववेत्ता और तार्किक था। एकबार विदेह जनक ने महादान से महायज्ञ[6] आरम्भ किया। कुरुपाञ्चाल सुदूर देशों से ब्राह्मण आये। राजा ने जानना चाहा कि इन सभी ब्राह्मणों में कौन सबसे चतुर है। उसने दश हजार गौवों में से हर एक के सींग में दस पाद (¼ पाव तोला अर्थात् कुल ढाई तोला) सुवर्ण मढ़ दिया। राजा ने कहा कि जो कोई ब्रह्म विद्या में सर्व निपुण होगा वही इन गायों को ले जा सकेगा।

अन्य ब्राह्मणों को साहस न हुआ। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रव को गायों का पगहा खोलकर ले जाने को कहा और शिष्य ने ऐसा ही किया। इसपर अन्य ब्राह्मणों को बहुत क्रोध हुआ। लोगों ने उससे पूछा कि तुमने ब्रह्म व्याख्या किये विना ही गायों को अधिकृत किया, इसमें क्या रहस्य है। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों को नमस्कार किया और कहा कि मैं सचमुच गायों को पाने को उत्सुक हूँ। पश्चात् याज्ञवल्क्य ने अन्य सभी विद्वानों को परास्त कर दिया यथा—जरत्कारु व चक्रायण, खड्ड, गार्गि, उद्दालक, साकल्य तथा उपस्थितमंडली के अन्य विद्वान्। इसके बाद याज्ञवल्क्य राजा का गुरु बन गया।

याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ[7] थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी को कोई पुत्र न था। जब याज्ञवल्क्य जंगल को जाने लगे तब मैत्रेयी ने कहा—आप मुझे वह बतलावें जिससे मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूँ। अतः उन्होंने उसे ब्रह्मविद्या[8] सिखलाई। ये ऋषि याज्ञवल्क्य स्मृति के ग्रंथकार माने जाते हैं, जिसमें इनके उदार मत का प्रतिपादन है। इन्हें योगीश्वर

---

१. पाणिनि ४-२-१०४।
२. महाभारत १२-३६०।
३. विष्णु ३-५।
४. बृहदारण्यक उपनिषद् ६-३-७।
५. नागर खण्ड अध्याय १२१।
६. शतपथ ब्राह्मण, ११-६-२-१।
७. शतपथ ब्राह्मण १४-७-३-१।
८. बृहदारण्यक उपनिषद् ४-५-१।

कहते हैं, संभवतः ये महान् समाज-सुधारक थे; क्योंकि इनकी स्मृति के नियम मनु की अपेक्षा उदार हैं। इन्होंने गोमांस भी भक्षण[1] करने को बतलाया है, यदि गाय और बैल के मांस कोमल हों। इनके पुत्र[2] का नाम नाचिकेता था। जगवन् (योगिवन) में एक वटवृक्ष कमतौल स्टेशन (दरभंगा जिला) के पास है, जिसे लोग याज्ञवल्क्य का आश्रम कहकर पूजते हैं।

इन वार्त्ताओं के आधार पर याज्ञवल्क्य को हम एक ऐतिहासिक व्यक्ति[3] मान सकते हैं। इक्ष्वाकुवंश का राजा हिरण्यनाभ[4] (पार्जिटर की सूची में ८३वां) का महायोगीश्वर कहा गया है। यह वैदिक विधि का महान् उपासक था। याज्ञवल्क्य ने इससे योग सीखा था।

राजा अह्नार का होता हिरण्यनाभ[5] कौसल्य और सुकेशा भारद्वाज[6] से वेदान्तिक प्रश्न करनेवाले हिरण्यनाभ (अनन्त सदाशिव अल्तेकर[7] के मत में) एक ही प्रतीत होते हैं। रामायण[8] और महाभारत[9] की परंपरा के अनुसार देवरात (पार्जिटर की सूची में १७वाँ) के पुत्र बृहद्रथ जनक ने, जो सीरध्वज के पूर्व हुए, ऋषितम याज्ञवल्क्य से दार्शनिक प्रश्न पूछा। ऋषि ने बतलाया कि किस प्रकार मैंने सूर्य से यजुर्वेद पाया और किस प्रकार शतपथ ब्राह्मण की रचना[10] की। इससे सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य और शतपथ ब्राह्मण का रचयिता अति-प्राचीन है। यह कहना असंगत न होगा कि बाल्हीक, जो प्रतीप का पुत्र और शन्तनु का भाई है, शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित[11] है। विष्णु पुराण[12] कहता है कि जनमेजय के पुत्र और उत्तराधिकारी शतानीक ने याज्ञवल्क्य से वेदाध्ययन किया। बृहदारण्यक उपनिषद्[13] में पारीक्षितों का वर्णन है। महाभारत कहता है कि उद्दालक जो जनक की सभा में प्रमुख था, सूर्य सत्र में सम्मिलित हुआ। साथ में उद्दालका का पुत्र श्वेतकेतु भी था। इन विभिन्न कथानकों के आधारपर हम निश्चय नहीं कर सकते कि याज्ञवल्क्य कब हुए। विद्वान्, प्रायः, भ्रम में पड़ जाते हैं और नहीं समझते कि ये केवल गोत्र नाम हैं। (दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक मत) कथा कभी-कभी गोत्र शिष्यत्व या पुत्रत्व के कारण बदल जाता था, जैसे आजकल विवाह होने

---

१. शतपथ ब्राह्मण ३-१-२-२१।
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-११-८-१४।
३. स्पिरिच्यूल इनटरप्रेटेशन आफ याज्ञवल्क्य ट्रेडिशन, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १६३७, पृ० २६०-७८ आनन्दकुमारस्वामी का लेख देखें, जहाँ विद्वानों की भी अनैतिहासिक बुद्धि का परिचय मिलेगा।
४. विष्णु ४-४-४८।
५. सांख्यायन श्रौतसूत्र १६-६-११।
६. प्रश्न उपनिषद् ६-१।
७. कलकत्ता इण्डियन हिस्ट्री कॉंगेस, प्राची विभाग का अभिभाषण, १६३६ पृ० १३।
८. रामायण १-७१-६।
९. महाभारत १२-३१५-३-४।
१०. महाभारत १२-३२३-२३।
११. शतपथ १२-६-३-३।
१२. विष्णु ४-४-४८।
१३. बृहदारण्यक उपनिषद् ३-३-१।
१४ महाभारत १-५३-७।

पर-कन्या का गोत्र बदलता है। सीतानाथ प्रधान ने प्राचीन भारतीय वंशावली में केवल नामों की समानता पर गुरु और राजाओं को, एक मानकर बड़ा गोलमाल किया है। यह सर्वविदित है कि इन सभी ग्रंथों का पुनः संस्करण भारतयुद्धकाल क० सं० १२३४ के लगभग वेदव्यास ने किया और इसके पहले ये ग्रन्थ प्लावित रूप में थे। अतः यदि हम याज्ञवल्क्य को देवरात के पुत्र बृहद्रथ का समकालीन मानें तो कह सकते हैं कि याज्ञवल्क्य क० पू० ८६६ के लगभग हुए।

मिथिला के विद्वान्

भारतवर्ष के किसी भी भाग को वैदिक काल से आज तक विद्वत्ता की परम्परा को इस प्रकार अटूट रखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है जैसा कि मिथिला को है। इसी मिथिला[१] में जनक से अद्यावधि अनवरत विद्या-परम्परा चली आ रही है। गौतम, कपिल, विभाण्डक, सतानन्द, व ऋष्य श्रृंग प्राङ् मौर्यकाल के कुछ प्रमुख विद्वान् हैं।

ऋष्यश्रृंग का आश्रम[२] पूर्वी रेलवे के बरियारपुर स्टेशन से दो कोश दूर उत्तर-पश्चिम ऋषिकुंड बतलाया जाता है। यह गंगा के समीप था। यहीं पर अंग के राजा रोमपाद वेश्याओं को नये ऋषि को प्रलोभित करने के लिए भेजता था। महाभारत[३] कहता है कि ऋषि का आश्रम कौशिकी[४] से अति दूर न था और चम्पा से तीन योजन की दूरी पर था, जहाँ पर वारांगनाओं का जमघट था। राम की बहन शांता को रोमपाद ने गोद लिया था और चुपके से उसका विवाह ऋष्यश्रृंग से कर दिया था। मिथिला के विद्वानों की इतनी महत्ता थी कि कोसल के राजा दशरथ ने भी कौशिकी के तीर से काश्यप ऋषिश्रृंग को पुत्रेष्टियज्ञ और पौरोहित्य[५] के लिए बुलाया था।

वेदवती कुशध्वज की कन्या और सीरध्वज की भ्रातृजा थी। कुशध्वज थोड़ी अवस्था में ही वैदिक गुरु हो गया और इसी कारण उसने अपनी कन्या का नाम वेदवती रखा, जो वेद की साक्षात् मूर्त्ति थी। कुशध्वज उसे विष्णुप्रिया बनाना चाहता था (तुलना करें क्राइस्ट की ब्राइड—ईसा की सुन्दरी)। इसने अपने सभी कामुकों को दूर रखा। शुम्भ भी एक कामुक था, जिसका वध कुशध्वज ने रात्रि में उसकी शय्या पर कर दिया। रावण[६] भी पूर्वोत्तर में होड़ मचाता हुआ

---

१. गंगानाथ झा स्मारक-ग्रंथ में हरदत्त शर्मा का लेख, मिथिला के अज्ञात संस्कृत कवि पृ० ३२३।

२. दे० पृ० १६१।

३. महाभारत, वनपर्व ११०।

४. स्यात् उस समय कोशी मुंगेर और भागलपुर के बीच में गंगा से मिलती थी।

५. रामायण १-६-५ ; १-१०।

६. रावण मातृपक्ष से वैशाली का था। नाना होने के कारण रावण वैशाली का हिस्सा चाहता था। इसीलिए इसने हिमाचल प्रदेश और उत्तर बिहार पर धावा किया था।

वेदवती के आश्रम[1] में पहुँचा। वेदवती ने उसका पूर्ण स्वागत किया और उसके सभी प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया; किन्तु असंगत प्रश्नों के करने पर वेदवती ने विरोध किया। रावण ने उसके साथ बलात्कार करना चाहा, इसपर वेदवती ने आत्महत्या[2] कर ली।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मिथिला में नारी-शिक्षा का भी पूर्ण प्रचार था। यहाँ स्त्रियाँ उच्चकोटि का लौकिक और पारलौकिक पांडित्य प्राप्त करती थीं तथा महात्माओं के साथ भी दार्शनिक विषयों पर तर्क कर सकती थीं।

---

१. रामायण ७-१७।

२. सरकार पृ० ७९-८०।

एकादश अध्याय

अंग

अंग नाम सर्वप्रथम अथर्व वेद[1] में मिलता है। इन्द्र[2] ने अर्य और चित्ररथ को सरयू के तटपर अपने भक्त के हित के लिए पराजित कर डाला। चित्ररथ का पिता गया में विष्णुपद[3] और कालंजर[4] पर इन्द्र के साथ सोमपान करता था, अर्थात् इन्द्र के लिए सोमयाग करता था। महाभारत के अनुसार अंग-वंग एक ही राज्य[5] था। अंग की नगरी विटंकपुर समुद्र के तटपर[6] थी। अतः हम कह सकते हैं कि धर्मरथ और उसके पुत्र चित्ररथ का प्रभुत्व आधुनिक उत्तर-प्रदेश के पूर्वी भाग, बिहार और पूर्व में वंगोपसागर तक फैला था। सरयू नदी अंगराज्य में बहती थी। इसकी उत्तरी सीमा गंगा थी, किन्तु, कोशी[7] नदी कभी अंग में और कभी विदेह राज्य में बहती थी। दक्षिण में यह समुद्र तट तक फैला था—यथा वैद्यनाथ से पुरी के भुवनेश्वर[8] तक। नन्दलाल दे के मत में यदि वैद्यनाथ को उत्तरी सीमा मानें तो अंग की राजधानी चम्पा को (जो वैद्यनाथ से दूर है) अंग में न मानने से व्यतिक्रम होगा। अतः नन्दलाल दे[9] का सुझाव है कि भुवनेश का शुद्ध पाठ भुवनेशी है जो मुर्शिदाबाद जिले में किरीटेश्वरी का दूसरा नाम है। दे का यह विचार मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि कलिंग भी अंग-राज्य में सम्मिलित था और तंत्र भी अंग की सीमा एक शिवमंदिर से दूसरे शिवमदिर तक बतलाता है, यह एक महाजन पद था। अंग में मानभूमि, वीरभूम, मुर्शिदाबाद, और संथाल परगना ये सभी इलाके सम्मिलित थे।

नाम

रामायण[10] के अनुसार मदन शिव के आश्रम से शिव के क्रोध से भस्मीभूत होने के डर से भयभीत होकर भागा और उसने जहाँ अपना शरीर त्याग किया उसे अंग कहने लगे। महादेव

---

१. अथर्व वेद ५-२२-१४।

२. ऋग्वेद ४-३१-१८।

३. वायुपुराण ६६-१०२।

४. ब्रह्मपुराण १३-३६।

५. महाभारत २-४४-६।

६. कथा सरित्सागर २५-३५ ; २६, ११५ ; ८२-२—१६।

७. विमलचरण लाहा का ज्योग्रफी आफ अर्ली बुद्धिज्म पृ० १६३१ पृ० ६।

८. शक्तिसंगमतंत्र सप्तम पटल।

६. नन्दलाल दे पृ० ७।

१०. रामायण १-२२।

के आश्रम को कामाश्रम भी कहते हैं। यह कामाश्रम गंगा-सरयू के संगम पर था। स्थानीय परंपरा के अनुसार महादेव ने करोन में तपस्या की। बलिया जिले के करोन में कामेश्वरनाथ का मंदिर भी है, जो बक्सर के सामने गंगा पार है।

महाभारत[१] और पुराणों[२] के अनुसार बली के क्षेत्रज पुत्रों ने अपने नाम से राज्य बसाया। हुवेनसंग[३] भी इस पौराणिक परम्परा की पुष्टि करता है। वह कहता है—इस कल्प के आदि में मनुष्य गृहहीन जंगली थे। एक अप्सरा स्वर्ग से आई। उसने गंगा में स्नान किया और गर्भवती हो गई। उसके चार पुत्र हुए, जिन्होंने संसार को चार भागों में विभाजित कर अपनी-अपनी नगरी बसाई। प्रथम नगरी का नाम चम्पा था। बौद्धों के अनुसार[४] अपने शरीर की सुन्दरता के कारण ये लोग अपने को अंग कहते थे। महाभारत[५] अंग के लोगों को सुजाति या अच्छे वंश का बतलाता है। किन्तु कालान्तर में तीर्थयात्रा छोड़कर अंग, वंग, कलिंग, सुराष्ट्र और मगध में जाना[६] वर्जित माना जाने लगा।

राजधानी

सर्वमत से विदित है कि अंग की राजधानी चम्पा थी; किन्तु कथासरित्सागर[७] के मत में इसकी राजधानी विटंकपुर समुद्र-तटपर अवस्थित थी। चम्पा की नींव राजा चम्प ने डाली। यह संभवतः कलि संवत् १०६१ की बात है। इसका प्राचीन नाम[८] मालिनी था। जातकों में इसे कालचम्पा[९] कहा गया है। काश्मीर के पार्श्ववर्त्ती हिमाच्छादित श्वेत चम्पा या चम्ब से इसे विभिन्न दिखाने को ऐसा कहा गया है। इसका आधुनिक स्थान भागलपुर के पास चम्पा नगर है। गंगा तटपर बसने के कारण यह नगर वाणिज्य का केन्द्र हो गया। बुद्ध की मृत्यु के समय यह भारत के छः प्रमुख[१०] नगरों में से एक था। यथा—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कोसाम्बी और वाराणसी। इस नगर का ऐश्वर्य बढ़ता गया और यहाँ के व्यापारी सुवर्णभूमि[११] (बर्मा का निचला भाग, मलय सुमात्रा) तक इस बन्दरगाह से नावों पर जाते थे। इस

---

१. महाभारत १-१०४।
२. विष्णु ४-१-१८; मत्स्य ४८-२५; भागवत ९-२३।
३. टामस वाटर का यान-चांग की भारत यात्रा, लन्दन, १९०५ भाग २,१८१।
४. दीघ निकाय टीका १-२७९।
५. महाभारत २-५२।
६. सेक्रेड बुक आफ इस्ट, भाग १४, प्रायश्चित्त खण्ड, १-२-१३-१४।
७. क० स० सा० १-२५; २-८२।
८. वायु ९९-१०५।
९. महाजनक जातक व विधुर पण्डित जातक।
१०. महापरिनिब्बान सुत्त ५।
११. महाजनक जातक।

नगर के वासियों ने सुदूर हिंदीचीन प्रायद्वीप में अपने नाम का उपनिवेश[1] बसाया।

इस राजधानी की महिमा इतनी बढ़ी कि इसने देश का नाम भी उसी नाम से प्रसिद्ध कर दिया। हुवेनसंग इसे चेन-पो कहता है। यह चम्पा नदी के तट पर था। एक तड़ाग के पास चम्पक[2] लता का कुँज था। महाभारत[3] के अनुसार चम्पा चम्पकलता से घिरा था। उव्वई सुत्त[4] जैन ग्रंथ में जिस समय कोणिक वहाँ का राजा था, उस समय यह सघनता से बसा था और बहुत ही समृद्धिशाली था। इस सुन्दर नगरी में शृँगाटक (तीन सड़कों का संगम, चौक, चच्चर, चबूतरा, चौमुक (बैठने के स्थान) चेमीय (मंदिर) तथा तड़ाग थे और सुगंधित वृक्षों की पंक्तियाँ सड़क के किनारे थी।

वंशावली

महामनस् के लघुपुत्र तितुक्षु[5] ने क० सं० ६७० (१२३४-१६०४ ६८ × २८) में पूर्व में एक नये राज्य की स्थापना की। राजा बली महातपस्वी था और इसका निषंग सुवर्ण का था। बली की स्त्री सुदेष्णा[6] से दीर्घतमस् ने ६ क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न किये। उनके नाम थे—अंग, वंग, कलिंग, सुह्म, पुण्ड्र्व आन्ध्र। इन पुत्रों ने अपने नाम पर राज्य बसाये। बली ने चतुर्वर्ण व्यवस्था स्थापित की और इसके पुत्रों ने भी इसी परम्परा को रखा। वैशाली का राजा मरुत्त और शकुंतला के पति दुष्यन्त इसके समकालीन[7] थे। क्योंकि दीर्घतमस् ने वृद्धावस्था में

---

१. इण्डियन ऐंटिक्वेरी ६-२२६ तुलना करो। महाचीन = मंगोलिया; महाकोशल; मग्ना—ग्रेसिया = दक्षिण इटली; एशिया में मग्ना ग्रेसिया = बैक्ट्रिया; महाचम्पा = विशाल चम्पा या उपनिवेश चम्पा; यथा नवा-स्कोसिया या नया इंगलैंड अथवा ब्रिटेन। ग्रेटब्रिट्रेन या ग्रेटर ब्रिटेन। दक्षिण भारत में चम्पा का तामिल रूप है सम्बई; किन्तु समस्त पद में चम्पापति में इसे चम्पा भी कहते हैं—चम्पा की देवी। अनेक अन्य शब्दों की तरह यथा-मदुरा यह नाम उत्तर भारत से लिया गया है और तामिल से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मैं इस सूचना के लिए कृष्ण स्वामी ऐयंगर का अनुगृहीत हूँ।

२. पपश्च सूदनी, मज्झिमनिकाय टीका २-५६९।

३. महाभारत ३-८२-१३३; ५-६; १३-४८।

४. जर्नल एशियाटिक सोसायटी बंगाल १६१४ में दे द्वारा उद्धृत।

५. ब्रह्माण्ड ३-७४-२४-१०३; वायु ६६-२४-११६; ब्रह्म १३-२७—४६; हरिवंश ३१; मत्स्य ४८-२१-१०८; विष्णु ४-१८-१-७ अग्नि २७६-१०-६; गरुड़ १-१२६ ६८-७४; भागवत ६-२३-४-१४; महाभारत १३-४२।

६. भागवत ६-२३-५; महाभारत १-१०४; १२-३४२।

७. ऐंशियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन पृ० १६२।

दुष्यन्त के पुत्र भरत[1] का राज्याभिषेक किया और दीर्घतमस् का चचेरा भाई संवर्त्त मरुत का पुरोहित था। दीर्घतमस् ऋग्वेद[2] का एक वैदिक ऋषि है। सांख्यायन आरण्यक के अनुसार दीर्घतमस् दीर्घायु था।

अंग के राजा दशरथ को लोमपाद[3] (जिसके पैर में रोम हों) कहते थे। इसने ऋषि शृंग [4] के पौरोहित्य में यज्ञ करके अनावृष्टि और दुर्भिक्ष का निवारण किया था। इसके समकालीन राजा थे—विदेह के सीरध्वज, वैशाली के प्रमति और केकय[5] के अश्वपति। लोम कस्सप जातक का वर्णन रामायण में वर्णित अंगराज लोमपाद से मिलता है। केवल भेद यही है कि जातक कथा में महातापस लोम कस्सप यज्ञ के समय अपनी इन्द्रियों को नियंत्रण में रख सका और वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त की कन्या चन्द्रावती से विवाह किये बिना ही चला गया। हस्त्यायुर्वेद के रचयिता पाल काप्य मुनि रोमपाद के काल[6] में हुए। पाल काप्य मुनि को सूत्रकार कहा गया है।

चम्प का महा प्रपौत्र बृहन्मनस् था। इसके पुत्र जयद्रथ ने क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न एक कन्या से विवाह किया। इस संबंध से विजय नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अतः पौराणिक इस वंश को सूत[8] कहने लगे।

राजा अधिरथ ने कर्ण को गंगातट पर काष्ठपंजर में पाया। पृथा ने इसे एक टोकरी में रखकर बहा दिया था। कर्ण सुक्षत्रिय वंश का राजा न था। अंग के सूतराज ने इसे गोद लिया था, अतः अर्जुन इससे लड़ने को तैयार नहीं हुआ।

दुर्योधन ने झट से कर्ण को अंग का विहित राजा मान लिया; किन्तु पाण्डव इसे स्वीकार करने को तैयार न थे, भारत-युद्ध में कर्ण मारा गया और उसका पुत्र वृषसेन गद्दी पर बैठा। वृषसेन का उत्तराधिकारी पृथुसेन था। भारत-युद्ध के बाद क्रमागत अंग राजाओं का उल्लेख हमें नहीं मिलता।

चम्पा के राजा दधिवाहन[9] ने कौशाम्बी के राजा शतानीक से युद्ध किया। श्रीहर्ष अंग के राजा दृढ़वर्मन् [10] का उल्लेख करता है, जिसे कौशाम्बी के उदयन ने पुनः गद्दी पर बैठाया।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ८-२३।
२. ऋग्वेद १-१४०-१६४।
३. मत्स्य ४८-९५।
४. रामायण १-६।
५. रामायण २-१२ केकय प्रदेश व्यास व सतलज के मध्य में है।
६. नकुल का अश्वचिकित्सितम् अध्याय १; जर्नल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, १९१४।
७. रघुवंश ५-२६ की टीका (मल्लिनाथ)।
८. तुलना करें—मनुस्मृति १०-११।
९. विल्सन का विष्णु पुराण ४, २४।
१०. प्रियदर्शिका ४।

अंग का अन्त

अंगराज ब्रह्मदत्त ने भत्तिय—पुराणों के क्षत्रौजस या क्षेमवित्[1] को पराजित किया। किन्तु भत्तिय का पुत्र सेनीय (बिम्बिसार) जब बड़ा हुआ तब उसने अंग पर धावा बोल दिया। नागराज (छोटानागपुर के राजा) की सहायता[2] से इसने ब्रह्मदत्त का वध किया और उसकी राजधानी चम्पा को भी अधिकृत कर लिया। सेनीय ने शोणदण्ड[3] नामक ब्राह्मण को चम्पा में में भूमिदान (जागीर) दिया। ब्रह्मदत्त अंग का अंतिम स्वतंत्र राजा था। इसके बाद अंग सदा के लिए अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। यह मगध का करद हो गया और क्रमशः सदा के लिए मगध का अंग मात्र रह गया। आदि में यह मगध का एक प्रदेश था और एक उपराज इसका शासन करता था। जब सेनीय गद्दी पर बैठा तब कोणिक यहाँ का उपराज था। इसने अंग को ऐसा चूसा कि प्रजा ने आकर राजा से इसकी निन्दा[4] की। कोणिक ने अपने भाई हाल और वेहाल को भी पीड़ा दी, अतः ये भाग कर अपने नाना चेटक की शरण में वैशाली जा पहुँचे।

चेटक ने उन्हें कोणिक को देना अस्वीकार किया। इस पर कोणिक ने चम्पा से चेटक पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। उसके भाइयों ने भागकर कहीं अलग शरण ली और वे महावीर[5] के शिष्य हो गये।

अंग में जैन-धर्म

चम्पा जैनियों का अड्डा है। द्वादशतीर्थंकर वासुपूज्य यहीं रहते थे और यहीं पर इनकी अंतिम गति भी हुई। महावीर ने यहाँ पर तीन चातुर्मास्य बिताये और दो भड़िया[6] में। जब महावीर ने क० स० २५४५ में कैवल्य प्राप्त किया तब अंग के दधिवाहन की कन्या चन्दनबाला स्त्री ने सर्वप्रथम जैन-धर्म की दीक्षा ली।

बुद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव

बुद्ध चम्पा कई बार गये थे और वहाँ पर वे गंगा-सरोवर के तट पर विश्राम करते थे जिसे रानी गग्गरा[7] ने स्वयं बनवाया था। अनाथपिण्डक का विवाह श्रावस्ती के एक प्रसिद्ध जैनवंश में हुआ था। अनाथपिंडक की कन्या सुभद्रा के बुलाने पर बुद्ध अंग से श्रावस्ती गये।

---

१. बौद्धों के अनुसार भत्तिय बिम्बिसार का पिता था। पुराणों में क्षेमवित् के बाद बिम्बिसार गद्दी पर बैठा, अतः भत्तिय = बिम्बिसार।
२. विधुर पण्डित जातक।
३. महावग्ग १-१९;२१।
४. राकहिल, पृ० ९०।
५. याकोबी, जैनसूत्र भूमिका पृ० १२-४।
६. कल्पसूत्र पृ० २६४।
७. राकहिल पृ० ७०।

सारे परिवार ने बुद्ध-धर्म स्वीकार किया और अन्य लोगों को दीक्षा[1] देने के लिए बुद्ध ने अनिरुद्ध को वहाँ पर छोड़ दिया। बुद्ध के शिष्य मौद्गल्य या मुद्गलपुत्र ने मोदागिरि (मुंगेर) के अति धनी श्रेष्ठी श्रुत-विंशति-कोटि[2] को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। जब बुद्ध भागलपुर से ३ कोश दक्षिण भडरिया या भदोलिया में रहते थे तब उन्होंने वहाँ के एक सेठ भद्दाजी को[3] अपना शिष्य बनाया था। बुद्ध की एक प्रमुख गृहस्थ शिष्या विशाखा का भी जन्मस्थान यहीं है। यह अंगराज[4] की कन्या और मेरण्डक की पौत्री थी।

---

१. कर्ण मैनुयल आफ बुद्धिजिम पृ० ३७-३८।
२. बील २-१८६।
३. महाजनपद जातक २-२२६ ; महावग्ग ४-८ ; ६-३४।
४. महावग्ग ६-१२,१३,१४, ५०।

द्वादश अध्याय

कीकट

ऋग्वेद[1] काल में मगध को कीकट के नाम से पुकारते थे। किन्तु, कीकट मगध की अपेक्षा बहुत विस्तीर्ण क्षेत्र था तथा मगध कीकट के अन्तर्गत था। शक्ति संगमतंत्र[2] के अनुसार कीकट चरणाद्रि (मीरजापुर में चुनार) से गृद्धकूट (राजगीर) तक फैला था। तारातंत्र[3] के अनुसार कीकट मगध के दक्षिण भाग को कहते थे, जो वरणाद्रि से गृद्धकूट तक फैला था। किन्तु वरणाद्रि और चरणाद्रि के व एवं च का पाठ अशुद्ध ज्ञात होता है।

यास्क[4] कहता है कि कीकट अनार्य देश है। किन्तु, वेबर[5] के विचार में कीकटवासी मगध में रहते थे, आर्य थे, यद्यपि अन्य आर्यों से वे भिन्न थे; क्योंकि वे नास्तिक प्रवृत्ति[6] के थे। हरप्रसाद शास्त्री[7] के विचार में कीकट पंजाब का हरियाना प्रदेश (अम्बाला) था। इस कीकट[8] देश में अनेक गौवें थीं और सोम यथेष्ठ मात्रा में पैदा होता था। तो भी ये कीकट-वासी सोमपान[9] या दुग्धपान न करते थे। इसीसे इनके पड़ोसी इनसे जलते थे तथा इनकी उर्वरा भूमि को हड़पने की ताक रहते थे।

---

१. ऋग्वेद ३-५३-१४ किंते कृण्वन्ति कीकटेषु गावोनाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आनो भर प्रमगन्दस्य वेदो नै चा शाखं मघवन् रन्धमानः।

२. चरणाद्रिं समारभ्य गृद्धकुटान्तकं शिवे। तावत्कीकटः देशः स्यात, तदन्तंभगधो भवेत। शक्ति संगमतंत्र।

३. तारातंत्र।

४. निरुक्त ६-३२।

५. इण्डियन लिटरेचर, पृ० ७६ टिप्पणी।

६. भागवत ७-१०-१२।

७. मगधन लिटरेचर, कलकत्ता, १९२३ पृ० २।

८. ऋग्वेद में कीकट, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय लिखित, वुलनरस्मारकग्रन्थ देखें पृ० ४७।

९. सोम का ठीक परिचय विवाद-ग्रस्त है। यह मादक पौधा था, जिससे सुआ (सु = दाबना) कर खट्टा बनाया जाता था तथा सोम श्वेत और पीत भी होता था। पीत सोम केवल मूंजवंत गिरि पर होता था (ऋग्वेद १०-३४-१)। इसे जल, दूध, नवनीत और यव मिलाकर पीते थे। हिन्दी विश्वकोष के अनुसार २४ प्रकार के सोम होते थे और १५ पत्र होते थे, जो शुक्लपक्ष में एकैक निकलते थे और कृष्णपक्ष में समाप्त हो जाते थे। इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १५ पृ० १६७-२०७ देखें। कुछ लोग सोम को भंग, विजया या सिद्धि भी बतलाते हैं।

व्युत्पत्ति के अनुसार कीकट शब्द का अर्थ घोड़ा, कृपण, और प्रदेश विशेष होता है।

संभवतः प्राचीन कीकट नाम को जरासंध[१] ने मगध में बदल दिया; क्योंकि उसके काल के बाद साहित्य में मगध नाम ही पाया जाता है।

प्रमगन्द मगध का प्रथम राजा था, जिसकी नैचाशाख (नीच वंश) की उपाधि थी। यास्क के विचार में प्रमगन्द का अर्थ कृपण पुत्र है, जो अयुक्त प्रतीत होता है। कदाचित् हिलब्रांट[२] का ही विचार ठीक है, जो कहता है कि नैचाशाख प्रमगन्द का विशेषण नहीं, किन्तु सोमलता का विशेषण है जिसकी सोर नीचे की ओर फैली रहती है।

जगदीशचन्द्र घोष[३] के विचार से मगन्द और मगध का अर्थ एक ही है। मगन्द में दा और मगध में धा धातु है। प्रमगन्द का अर्थ मगध प्रदेश होता है। तुलना करें—प्रदेश, प्रवंग[४]। मगन्द की व्युत्पत्ति अन्य प्रकार से भी हो सकती है। म (=तेज) गम् (=जाना) + उणादि दन् अर्थात् जहाँ से तेज निकलता है। इस अवस्था में मगन्द उदयन्त या उदन्त का पर्याय हो सकता है।

मगध

प्राचीनकाल में मगध देश गंगा के दक्षिण बनारस से मुंगेर और दक्षिण में दामोदर नदी के उद्गम कर्ण सुवर्ण (सिंहभूम) तक फैला[५] हुआ था। बुद्धकाल[६] में मगध की सीमा इस प्रकार थी, पूर्व में चम्पा नदी, दक्षिण में विन्ध्य पर्वतमाला, पश्चिम में शोण और उत्तर में गंगा। उस समय मगध में ८०,००० ग्राम[७] थे तथा इसकी परिधि ३०० योजन थी। मगध के खेत बहुत उर्वर[८] थे तथा प्रत्येक मगध क्षेत्र एक गवुत[९] (दो क्रोश) का था। वायु पुराण के अनुसार मगध प्राची[१०] में था।

मगध शब्द का अर्थ होता है—चारण, भिखमंगा, पापी, ज्ञाता, ओषधि विशेष तथा मगध देशवासी। मागध का अर्थ होता है श्वेतजीरक वैश्यपिता और क्षत्रियमाता का वर्णशंकर[११] तथा कीकट देश। बुद्धघोष[१२] मगध की विचित्र व्याख्या करता है। संसार में असत्य का प्रचार

---

१. भागवत ६-९-९ ककुभः संकटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः। शब्द कल्पद्रुम देखें।
२. वेदिक इंडेक्स, कीथ व मुग्धानल सम्पादित।
३. जर्नल बिहार-उड़िसा-रिसर्च-सोसायटी, १९३८, पृ० ८९-१११, गया की प्राचीनता।
४. वायु ४५-१२२।
५. नन्दलाल दे – पृ० ११६।
६. डिक्सनरी आफ पाली प्रौपर नेम्स, जी० पी० मल्लाल शेखर सम्पादित, लन्दन, १९३८, भाग २, पृ० ४०३।
७. विनयपिटक १-१७९।
८. थेरगाथा २०८।
९. अंगुत्तर निकाय ३-१२२।
१०. वायु पुराण ४५-१२२।
११. मनुस्मृति १०-११।
१२. सुत्तनिपात टीका १-१३५।

करने के कारण पृथ्वी कुपित होकर राजा उपरिचर चेदी (चेदिय) को निगलनेवाली ही थी कि पास के लोगों ने आदेश किया—गड़े में मत प्रवेश करो (मा गधंपविश) तथा पृथ्वी खोदनेवालों ने राजा को देखा तो राजा ने कहा—गढ़ा मत करो (मा गधं करोथ)। बुद्धघोष के अनुसार यह प्रदेश मागध नामक क्षत्रियों का वासस्थान था। इस मगधप्रदेश में अनेक मग शाकद्वीपीय ब्राह्मण रहते हैं। हो सकता है कि इन्हीं के नाम पर इसका नाम मगध पड़ा हो। वेदिक इण्डेक्स[1] के सम्पादकों के विचार में मगध प्रदेश का नाम वर्णशंकर से सम्बद्ध नहीं हो सकता। मगध शब्द का अर्थ चारण इसलिए प्रसिद्ध[2] हुआ कि असंख्य शतियों तक यहाँ पर साम्राज्यवाद रहा, यहाँ के नृपगण महा स्तुति के अभ्यस्त रहे, यहाँ के भाट सुदूर पश्चिम तक जाते थे और यहाँ के अभ्यस्त पदों को सुनाते थे। इसी कारण ये मगधवासी या उनके अनुयायी मागध कहलाने लगे।

अथर्ववेद[3] में मगध का व्रात्य से गाढ़ संबंध है। मगध के वन्दियों का उल्लेख यजुर्वेद[4] में भी है। ब्रह्मपुराण[5] के अनुसार प्रथम सम्राट् पृथु ने आत्मस्तुति से प्रसन्न होकर मगध मागध को दे दिया। लाट्यायन[6] श्रौतसूत्र में व्रात्यधन ब्रह्म-बंधु या मगध ब्राह्मण को देने को लिखा है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[7] में मगध का वर्णन कलिंग, गान्धार, पारस्कर तथा सौवीरों के साथ किया गया है।

देवलस्मृति के अनुसार अंग, बंग, कलिंग और आन्ध्रदेश में जाने पर प्रायश्चित करने को लिखा है। अन्यत्र इस सूची में मगध भी सम्मिलित है। जो मनुष्य धार्मिक कृत्य को छोड़कर मगध में अधिक दिनों तक रह जाय तो उसे गंगा-स्नान करना चाहिए। यदि ऐसा न करे तो उसका पुनः यज्ञोपवीत संस्कार हो तथा यदि चिरकाल वास हो तो उपवीत के बाद चान्द्रायण भी करने का विधान है।

तैत्तरीय[8] ब्राह्मण में मगधवासी अपने तारस्वर के लिए प्रसिद्ध है। कौशितकी आरण्यक में मगध ब्राह्मण मध्यम के विचारों को आदरपूर्वक उद्धृत किया गया है। ओल्डेनवर्ग[10] के विचार में मगध को इसलिए दूषित समझा गया कि यहाँ पर ब्राह्मण धर्म का पूर्ण प्रचार न वेबर[11] के विचार में इसके दो कारण हो सकते हैं—आदिवासियों का यहाँ अच्छी संख्या

---

१. वेदिक इन्डेक्स—मगध।
२. विमलचरण लाहा का ऐंशियंट इंडियन ट्राइब्स १६२६, पृ० ६४।
३. अथर्व वेद, २।
४. वाजसनेय संहिता।
५. ब्रह्म ४-६७; वायु ६२-१४७।
६. ला० श्रौतसूत्र ८-६-२८।
७. आपस्तम्बसूत्र २२ ६-१८।
८. तैत्तिरीय ३-४-११।
९. कौशितकी ७-१३।
१०. बुद्ध, पृ० ४०० टिप्पणी।
११. इण्डियन लिटरेचर पृ० ७६, टिप्पणी १।

में होना तथा बौद्धों का आधिपत्य। पाजिटर का कहना है कि मगध में पूर्व समुद्र से आनेवाले आक्रमणकारियों का आर्यों से सामना हुआ था।

रामायण[२] में वसिष्ठ ने सुमंत को अनेक राजाओं को बुलाने को कहा। इनमें मगध का वीर, पुण्यात्मा नरोत्तम राजा भी सम्मिलित था। दिलीप की महिषी सुदक्षिणा मगध की थी तथा इन्दुमती के स्वयंवर[४] में मगध राज का प्रमुख स्थान है। हेमचन्द्र[५] का मगध वर्णन स्तुत्य है। यथा—जम्बू द्वीप में भारत के दक्षिण भाग में मगध देश पृथिवी का भूषण है। यहाँ के झोपड़े गांवों के समान हैं, गाँव नगर के समान है तथा नगर अपने सौन्दर्य के कारण सुरलोक को भी मात करते हैं। यद्यपि धान्य यहाँ पर एक ही बार बोया जाता है और कृषक काट भी लेते हैं तो भी यह घास के समान बार-बार बढ़ कर छाती भर का हो जाता है। यहाँ के लोग संतोषी, निरामय, निर्भय और दीर्घायु होते हैं मानों सुसमय उत्पन्न हों। यहाँ की गौ सुरभी के समान सदा दूध देती हैं। इनके थन घड़े के समान बड़े होते हैं और इच्छानुसार रात-दिन खूब दूध देती हैं। यहाँ की भूमि बहुत उर्वरा है तथा समय पर वर्षा होती है। यहाँ के लोग धार्मिक व सक्रिय होते हैं। यह धर्मगृह है।

---

१. जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी, १६०८ पृ० ८५१-२।

२. रामायण १-१३-२६।

३. रघुवंश १।

४. वही ६।

५. परिशिष्ट पर्व १। ७-१२।

त्रयोदश अध्याय

बार्हद्रथ वंश

महाभारत[1] और पुराणों[2] के अनुसार बृहद्रथ ने मगध साम्राज्य की नींव डाली ; किन्तु रामायण[3] इसका श्रेय ब्रहद्रथ के पिता वसु को देती है, जिसने वसुमती बसाई और जो बाद में गिरिव्रज के नाम से प्रसिद्ध हुई। ऋग्वेद[4] में बृहद्रथ का उल्लेख दो स्थानों में है। किन्तु, उसके पत्त या विपत्त में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह मगध-वंश का स्थापक था ; किन्तु यह बृहद्रथ यदि मगध का स्थापक मान लिया जाय तो मगध सभ्यता वेदकाल की समकालीन[5] मानी जा सकती है। जैन शास्त्र[6] में गिरिव्रज के दो प्राचीन राजाओं का उल्लेख है—समुद्रविजय और उसका पुत्र 'गाय' जिसने मगध में पुण्य तीर्थ 'गया' की स्थापना की।

किसी भी वाह्य प्रमाण के अभाव में पौराणिक वंशावली और परम्परा ही मान्य हो सकती है। कुरु के पुत्र सुधन्वा के वंश के चतुर्थ राजा वसु[7] ने यादवों की चेदी पर अधिकार कर लिया और वह चैद्योपरिचर नाम से ख्यात हुआ। ऋग्वेद[8] भी इसकी प्रशंसा में कहता है कि इसने १०० ऊँट तथा १०,००० गौओं का दान दिया था।

इसने मगध पर्यन्त प्रदेशों को अपने वश में कर लिया। इस विजेता के सातपुत्र[9] थे—बृहद्रथ, प्रत्यग्र, कुश या कुशाम्ब, मावेल, मत्स्य इत्यादि। इसने अपने राज्य को पाँच भागों में विभाजित कर अपने पुत्रों को वहाँ का शासक बनाया—यथा मगध, चेदी, कौशाम्बी, करुष, मत्स्य। इस बँटवारे में बृहद्रथ को मगध का राज्य प्राप्त हुआ। जातक का अपचर, चेटी का उपचर या चेच्च और चैद्य उपरिचर वसु एक[10] ही है। जातक[11] के अनुसार चेटी के उपचर

---

१. महाभात २-१७-१३।
२. विष्णु ४-१६।
३. रामायण १-३२-७।
४. ऋग्वेद १·३६·१८ अग्निर्नयन्न वास्त्वं बृहद्रथं १०·४९६ अहं सयो न व वास्त्वं बृहद्रथं।
५. हिन्दुस्तान रिव्यू, १६३६, पृ० २५२।
६. सैक्रेड बुक आफ ईस्ट, भाग ४५, पृ० ८६ टिप्पणी ३।
७. विष्णु ४-१६।
८. ऋग्वेद ८-५ ३७·यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानां ददत् सहस्रादश गोनाम्।
९. विष्णु ४-१६।
१०. जर्नल डिपार्टमेंट आफ लेटर्स १६३०, स्टडीज इन जातक, सेन, पृ० १२।
११. चेटीय जातक (४२२)

का राज्य सहित विनाश हो गया और उसके पाँच पुत्रों ने अपने भूतपूर्व पुरोहित के उपदेश से, जो संन्यस्त हो गया था, पाँच विभिन्न राष्ट्र स्थापित किये।

वसु विमान से आकाश में विचरता था। उसने गिरि का पाणि-पीड़न किया तथा उसके पुत्र बृहद्रथ ने गिरिव्रज की नींव कलि सं० १०८४ में डाली, जो इसकी माता के नाम पर थी। वर्तमान गिरियक इस स्थान के पास ही पड़ता है।

बृहद्रथ ने ऋषभ[1] का वध किया। वह बड़ा प्रतापी था तथा गृध्रकूट पर गोलाङ्गुल[2] उसकी रक्षा करते थे।

जरासन्ध

जरासन्ध भुवन[3] का पुत्र था। भुवन ने काशिराज की दो सुन्दर यमल कन्याओं का पाणिग्रहण किया। कौशिक ऋषि के आशीर्वाद से उसे एक प्रतापी पुत्र जरासंध हुआ, जिसका पालन-पोषण जरा नामक धात्री ने किया। जरासन्ध द्रौपदी तथा कलिंग राजकन्या चित्रांगदा के स्वयम्बरों में उपस्थित था। क्रमशः जरासंध महाशक्तिशाली[4] हो गया तथा अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और चेदी को उसने अधिकृत कर लिया। इसका प्रभुत्व मथुरा तक फैला था, जहाँ के यादव-नरेश कंस ने उसकी दो कन्याओं से (अस्ति और प्राप्ति) विवाह किया था तथा उसकी अधीनता स्वीकार की थी। जब कृष्ण ने कंस का बध किया तब कंस की पत्नियों ने अपने पिता से बदला लेने को कहा। जरासंध ने अपनी २३ अक्षौहिणी[5] विशाल सेना से मथुरा को घेर लिया और कृष्ण को सवंश विनष्ट कर देना चाहा। यादवों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा और अन्त में उन्होंने भागकर द्वारका में शरण ली।

जरासंध शिव का उपासक था। वह अनेक पराजित राजाओं को गिरिव्रज में शिव-मंदिर में बलि के लिए रखता था। युधिष्ठिर ने सोचा कि राजसूय के पूर्व ही जरासंध का नाश आवश्यक है।

कृष्ण, भीम और अर्जुन कुरुदेश से मगध के लिए चले। ब्रह्मचारी के वेश में निःशस्त्र होकर उन्होंने गिरिव्रज में प्रवेश किया। वे सीधे जरासंध के पास पहुँचे और उसने इनका अभिनन्दन किया। किन्तु बातें न हुईं; क्योंकि उसने व्रत किया था कि सूर्यास्त के पहले न बोलूँगा। इन्हें यज्ञशाला में ठहराया गया। अर्द्धरात्रि को जरासंध अपने प्रासाद से इनके पास पहुँचा; क्योंकि उसका नियम था कि यदि आधीरात को भी विद्वानों का आगमन सुने तो अवश्य

---

१. महाभारत २।२१।
२. महाभारत १२।४९ संभवतः नेपाल के गोरांगही गोलाङ्गुल हैं।
३. महाभारत २-१७-१६।
४. महाभारत २-१३; १८ ; हरिवंश ८९—९३; ९६, ११७ ब्रह्म १९५-१—१२; महाभारत १२-५।
५. एक अक्षौहिणी में २१, ८७० हाथी तथा उतने ही रथ, ६५, ६१० अश्ववार, तथा १०९, ३५० पदाति होते हैं। इस प्रकार मगध की कुल सेना ५०, ३०, १०० होती है। द्वितीय महायुद्ध के पहले भारत में बृटिश सेना कुल ३, २५, ३७० ही थी। संभवतः सारा मगध सशस्त्र था।

ही आकर उनका दर्शन तथा सपर्या करता। कृष्ण ने कहा कि हम आपके शत्रु रूप आये हैं। कृष्ण ने आह्वान किया कि या तो राजाओं को मुक्त कर दें या युद्ध करें।

जरासन्ध ने आज्ञा दे दी कि सहदेव को राजगद्दी दे दो; क्योंकि मैं युद्ध करूँगा। भीम के साथ १४ दिनों तक द्वन्द्वयुद्ध हुआ; जिसमें जरासंध धराशायी हुआ तथा विजेताओं ने राजरथ पर नगर का चक्कर लगाया। जरासन्ध के चार सेनापति थे—कौशिक, चित्रसेन, हंस और डिंभक।

जैन साहित्य[१] में कृष्ण और जरासन्ध दोनों अर्द्ध चक्रवर्ती माने गये हैं। यादव और विद्याधरों से (पर्वतीय सरदार) के साथ मगध सेना की भिड़न्त सौराष्ट्र में सिनापल्लि के पास हुई, जहाँ कालान्तर में आनन्दपुर नगर बसा। कृष्ण ने स्वयं अपने चक्र से जरासन्ध का वध भारत युद्ध के १४ वर्ष पूर्व कलि संवत् ११२० में किया था। कृष्ण के अनेक सामन्त[२] थे उनमें समुद्र विजय भी था। समुद्रविजय ने दश दशार्ण राजकुमारों के साथ वसुदेव की राजधानी सोरियपुर पर आक्रमण किया। शिवा समुद्रविजय की भार्या थी।

सहदेव

सहदेव पाण्डवों का करद हो गया तथा उसने राजसूय में भाग लिया। भारत-युद्ध में वह वीरता से लड़ा, किन्तु द्रोण के हाथ क० सं० ११३४ में उसकी मृत्यु हुई। सहदेव के भाई धृष्टकेतु[3] ने भी युद्ध में पाण्डवों का साथ दिया; किन्तु वह भी रणखेत रहा। किन्तु जरासंध के अन्य पुत्र जयत्सेन ने कौरवों का साथ दिया और वह अभिमन्यु[४] के हाथ मारा गया। अतः हम देखते हैं कि जरासंध के पुत्रों में से दो भाइयों ने पाण्डवों का तथा एक भाई ने कौरवों का साथ दिया। भारतयुद्ध के बाद शीघ्र ही मगध स्वतंत्र हो गया; क्योंकि युधिष्ठिर के अश्वमेध में सहदेव के पुत्र मेघसन्धि ने घोड़े को रोककर अर्जुन से युद्ध किया, यद्यपि इस युद्ध में उसकी पराजय[५] हुई।

बार्हद्रथ वंशावली

स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने बुद्धिमत्ता के साथ प्राचीन ऐतिहासिक संशोधन के लिए तीन तत्त्वों का निर्देश किया है। वंश की पूर्ण अवधि के संबंध में गोल संख्याओं की अपेक्षा विषम संख्याओं को मान्यता देनी चाहिए; क्योंकि गोल संख्याए प्रायः शंकास्पद होती हैं। पुराणों में विहितवंश की कुल भुक्त संख्या को, यदि सभी पुराण उसका समर्थन करते हों तो, विशेष महत्त्व देना चाहिए। साथ ही बिना पाठ के आधार के कोई संख्या न मान लेनी चाहिए। अपितु इस काल के लिए हमें किसी भी वाह्य स्वतंत्र आधार या स्रोत के अभाव में पौराणिक परम्परा और वंशावली को ठीक मानने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है।

---

१. न्यू इण्डियन एंटिक्वेरी, भाग, ३ पृ० १६१ प्राचीन भारतीय इतिहास और संशोधन श्री दिवानजी लिखित। जिनसेन का हरिवंश पुराण परिशिष्ट पूर्व ८-८।

२. जैन साहित्य में कृष्ण कथा जैन ऐंटिक्वेरी, आरा, भाग १० पृ० २७ देखें। देशपांडेय का लेख।

३. महाभारत उद्योग पर्व ५७।

४. महाभारत १-१८६।

५. महाभारत अश्वमेध ८२।

युद्ध के पश्चात् बृहद्रथ

महाभारत युद्ध के बाद ही पुराणों में मगध के प्रत्येक राजा का भुक्त वर्ष और वंश के राजाओं की संख्या तथा उनका कुल भुक्त वर्ष हमें मिलने लगता है और वंशों की तरह बृहद्रथ वंश को भी पुराण दो प्रधान भागों में विभाजित करते हैं। वे जो महाभारत युद्ध के पहले हुए और वे जो महाभारत युद्ध के बाद हुए। इसके अनन्तर महाभारत युद्ध के राजाओं को भी तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। यथा—भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्। भूत और भविष्यत् के राजाओं का विभाजक वर्त्तमान शासक राजा है। ये वर्त्तमान राजा महाभारत युद्ध के बाद प्रायः छठी पीढी में हुए।

पौरव वंश का अधिसीम (या अधिसाम) कृष्ण भी इनमें एक था। जिसकी संरक्षकता में पुराणों का सर्वप्रथम संस्करण होना प्रतीत है। मगध में सेनाजित् अधिसीम कृष्ण का समकालीन था। सेनाजित् के पूर्व के राजाओं के लिए पुराणों में भूतकाल का प्रयोग होता है तथा इसके बाद के राजाओं के लिए भविष्यत् काल का। वे सेनाजित् को उस काल का शासक राजा बतलाते हैं। युद्ध से लेकर सेनाजित् तक सेनाजित् को छोड़कर ६ राजाओं के नाम मिलते हैं तथा सेनाजित् से लेकर इस वंश के अंत तक सेनाजित् को मिलाकर २६ राजाओं का उल्लेख है। अतः राजाओं की कुल संख्या ३२ होती है।

भारत-युद्ध के पहले १० राजा हुए और उसके बाद २२ राजा हुए। यदि सेनाजित् को आधार मानें तो सेनाजित् के पहले १६ और सेनाजित को मिलाकर बृहद्रथ वंश के अन्त तक भी १६ ही राजा हुए[३]।

भुक्तकाल

सभी पुराणों में भारत-युद्ध में वीर गति प्राप्त करनेवाले सहदेव से लेकर बृहद्रथ वंश के अंतिम राजा रिपुञ्जय तक के वर्णन के बाद निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है।

द्वाविंशतिर्नृपाह्येते भवितारो बृहद्रथाः।
पूर्णं वर्षं सहस्रं वै तेषा राज्यं भविष्यति॥

'ये बृहद्रथवंश के भावी बाइस राजा हैं। इनका राज्य काल पूरा सहस्र वर्ष होगा।' अन्यत्र 'द्वात्रिंशच्च' भी पाठ मिलता है। इस हालत में इसका अर्थ होगा ये बत्तीस राजा हैं और निश्चय ही इन भावी राजाओं का काल हजार वर्ष होगा। पार्जिटर इसका अर्थ करते हैं—और ये बत्तीस भविष्यत् बृहद्रथ हैं, इनका राज्य सचमुच पूरे हजार वर्ष होगा। जायसवाल इनका अर्थ इस प्रकार करते हैं—बाद के (एते) ये ३२ भविष्यत् बृहद्रथ हैं। बृहद्रथों का (तेषां) राजकाल सचमुच पूरे सहस्र वर्ष का होगा।

मत्स्यपुराण की एक हस्तलिपि[४] में उपर्युक्त पंक्तियाँ नहीं मिलतीं। उनके बदले म० पु० में निम्नलिखित पाठ मिलता है।

षोडशैते नृपा ज्ञेया भवितारो बृहद्रथाः।
त्रयोविंशाधिकं तेषां राज्यं च शतं सप्तकम्॥

---

१. जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग १, पृ० ६७।
२. वायुपुराण ३७-२४२।
३. पार्जिटर का कलिवंश पृ० १४।
४. इण्डिया आफिस में जैकसन संकलन में ३६४ संख्या की हस्तलिपि जिसे पार्जिटर (जे) नाम से पुकारता है।

इन १६ राजाओं को भविष्यत् बृहद्रथवंश का जानना चाहिए और राजाओं का काल ७२३ वर्ष होता है। पार्जिटर अर्थ करते हैं—इन १६ राजाओं को भविष्य का बृहद्रथ जानना चाहिए और इनका राज्य ७२३ वर्षों का होगा। जायसवाल अर्थ करते हैं—ये (एते) भविष्य के १६ बृहद्रथ राजा हैं, उनका (तेषां—भारत युद्ध के बाद के बृहद्रथों का) राज्यकाल ७०० वर्ष होता है और उनका मध्यमान प्रति राज २० वर्ष से अधिक होता है। जायसवाल 'त्रयो' के बदले 'वयो' पाठ शुद्ध मानते हैं।

पार्जिटर की व्याख्या

मेरे और पार्जिटर के अनुवाद में स्यात् ही कोई अन्तर है, किन्तु जब प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता अपने विचित्र सुझाव की व्याख्या करने का यत्न करते हैं तो महान् अन्तर हो जाता है। पार्जिटर के मत में (जे) मत्स्य पुराण की पंक्तियाँ ३०-३१ अपना आधार सेनजित् के राजकाल को मानती है तथा उसे और उसके वंशजों को १६ भविष्यत् राजा बतलाती है तथा बिना विचार के स्पष्ट कह देती है कि इनका काल ७२३ वर्ष का होगा। पंक्ति ३२-३३ मत्स्य (जे) में नहीं पाई जाती और वे राजाओं की गणना भी आदि से करते हैं तथा सभी ३२ राजाओं को भविष्यत् राजा बतलाते हैं; क्योंकि इनमें अधिकांश भारत युद्ध के बाद हुए। अतः पुराण कहते हैं कि पूरे वंश का राज्य १००० वर्ष होगा। किन्तु यदि हम पंक्ति ३०-३१ को दो स्वतंत्र वाक्य मानें और 'तेषां' को केवल १६ भविष्यत् राजाओं का ही नहीं; किन्तु बृहद्रथों का भी सामान्य रूप से विशेषण मानें तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'इन सोलह राजाओं को भविष्यत् बृहद्रथ जानना चाहिए और इन बृहद्रथों का राज्य ७२३ वर्ष होगा।'

समालोचना

जायसवाल के मत में, पार्जिटर का यह विचार कि ३२ संख्या सारे वंश के राजाओं की है (१० भारत युद्ध के पहले + २२ युद्ध के पश्चात्) निम्न लिखित कारणों से नहीं माना जा सकता। (क) तेषां सर्वनाम महाभारत युद्ध के बाद के राजाओं के लिए उल्लेख कर सकता है, जिनका वर्णन अभी किया जा चुका है। (ख) महाभारत युद्ध के बाद राजाओं को भी भविष्यत् बृहद्रथ कह सकते हैं; क्योंकि ये सभी राजा युद्ध के बाद हुए और इनमें अधिकांश सचमुच भविष्यत् बृहद्रथवंश के ही हैं। किन्तु भारत युद्ध के पूर्व राजाओं को भविष्यत् राजा कहना असंगत होगा; क्योकि पौराणिकों की दृष्टि में युद्ध के पूर्व के राजा निश्चय पूर्वक भूतकाल के हैं। (ग) उद्धृत चार पंक्तियों की दो विचार-धाराओं की गुत्थियों को हम सुलझा नहीं सकते। ७०० या ७२३ वर्ष सारे वंश की भुक्त संख्या मानने से पार्जिटर[४] का बृहद्रथवंश के लिए पूर्ण सहस्र वर्ष असंगत हो जायगा।

---

१. पार्जिटर का कलिवंश पृ० ६८।

२. जर्नल बिहार ओडिसा रिसर्च सोसायटी भाग ४-१६-२१ काशीप्रसाद जायसवाल का बृहद्रथ वंश।

३. पार्जिटर पृ० १३।

४. पार्जिटर पृ० १३ तुलना करें—यह पाठ पंक्ति ३२-३३ को अयुक्त बतलाता है।

जायसवाल की व्याख्या

जायसवाल घोषणा करते हैं कि प्रथम श्लोक का तेषां ३२ भविष्यत् राजाओं के लिए नहीं कहा गया है। इन ३२ भविष्यत राजाओं के लिए 'एते' का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में भी 'एते' और 'तेषां' के प्रयोग से सिद्ध है कि दोनों पंक्तियों की दो उक्तियाँ दो विभिन्न विषयों के लिए कही गई हैं। उनका तर्क है कि पौराणिकों ने भारत-युद्ध के बाद के राजाओं के लिए १००० वर्ष गलत समझा और इस कारण गोलसंख्या में भारत युद्ध के बाद के राजाओं की कुल भुक्त वर्ष-संख्या संख्या ७०० बतलाई। जायसवाल के मत में पौराणिक युद्ध के बाद बृहद्रथवंश के कुल राजाओं की संख्या ३२ या ३३ मानते हैं और उनका मध्यमान २० वर्ष से अधिक या २१-२३ (७०० ÷ ३३) वर्ष मानते हैं।

समालोचना

मनगढ़न्त या पूर्व निर्धारित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पौराणिक पाठ में खींचातानी न करनी चाहिए। उनका शुद्ध पाठ श्रद्धा और विश्वास के साथ एकत्र करना चाहिए और तब उनसे सरल अर्थ निकालने का यत्न करना चाहिए। सभी पुराणों में राजाओं की संख्या २२ गिनाई गई है। ये राजा भारत-युद्ध के बाद गिनाये गये हैं। पौराणिक इतने मूर्ख न थे कि राजाओं के नाम तो २२ गिनावें और अंत में कह दें कि ये ३२ राजा थे।

गरुड पुराण २१ ही राजाओं के नाम देता है तथा और संख्या नहीं बतलाता; किन्तु वह कहता है—'इत्येते बार्हद्रथा स्मृताः।' सचमुच एक या दो का अंतर समझ में आ सकता है, किन्तु इतना महान् व्यतिक्रम होना असंभव है। केवल प्रमुख राजाओं के ही नाम बताये गये हैं जैसा कि पुराण से भी सूचित होता है।—

"प्रधानतः प्रवक्ष्यामि गदतो मे निबोधत।"

'मैं उन्हें प्रसिद्धि के अनुसार कहूँगा जैसा मैं कहता हूँ सुनो।'[1]

इस बात का हमें ज्ञान नहीं कि कुल कितने नाम छोड़ दिये गये हैं; किन्तु यह निश्चय है कि भारतयुद्ध के बाद बृहद्रथवंश के राजाओं की संख्या २२ से कम नहीं हो सकती। विभिन्न पाठों के आधार पर हम राजाओं की संख्या २२ से ३२ पा जाते हैं, किन्तु तो भी हम नहीं कह सकते कि राजाओं की संख्या ठीक ३२ ही है; क्योंकि यह संख्या ३२ से अधिक भी हो सकती है। द्वात्रिंशच्च' पाठ की समीक्षा हम दो प्रकार से कर सकते हैं—(क) यह नकल करनेवाले लेखकों की भूल हो सकती है; क्योंकि प्राचीन काल में विंश को त्रिंश प्राचीनलिपि भ्रम से पढ़ना सरल है। पार्जिटर[2] ने इसे कई स्थलों पर बतलाया है कि (ख) हो सकता है कि लेखकों के विचार में महाभारत पूर्व के भी दस राजा ध्यान में हों।

जायसवाल का यह तर्क कि 'तेषां' भविष्यत् बृहद्रथों के लिए नहीं किन्तु; सारे बृहद्रथवंश के लिए प्रयुक्त है, ठीक नहीं जँचता। क्योंकि खण्डान्वय के अनुसार 'तेषां भवितॄणां बृहद्रथानां' के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। अपितु यह मानना असंगत होगा कि पौराणिक केवल महाभारत युद्ध के बाद के राजाओं के नाम और भुक्त वर्ष संख्या बतावें और अन्त में योग करने के समय केवल युद्ध के बाद के ही राजाओं की भुक्त वर्ष संख्या योग करने के बदले सारे वंश के कुल राजाओं की वर्ष संख्या बतलावें, यद्यपि वे युद्ध के पूर्व के राजाओं की वर्ष संख्या भी नहीं देते।

---

१. पार्जिटर पृ० ६७।

२. पार्जिटर पृ० १४ टिप्पणी २१।

पार्जिटर ३२ राजाओं का काल (२२ युद्ध के बाद + १० युद्ध के पूर्व) ७२३ वर्ष मानता है और प्रति राज का मध्यमान २२½ या २२·६ (७२३ ÷ ३२) वर्ष मानता है। पार्जिटर का सुझाव है कि 'त्र्यो' के बदले 'वयो' पाठ होना चाहिए ; क्योंकि ऐसा करने से ३२ राजाओं का काल ७०० वर्ष हो जायगा और इस प्रकार प्रतिराज मध्यमान २२ वर्ष से कुछ कम होगा, जिसे हम 'विशांधिक' बीस से अधिक कह सकते हैं।

जायसवाल का सिद्धान्त है कि यह पाठ 'वयो' के सिवा दूसरा हो नहीं सकता और ७०० वर्ष काल भारत युद्ध बाद के राजाओं के लिए तथा १,००० वर्ष बृहद्रथवंश भर के सारे राजाओं के लिए युद्ध के पूर्व और पश्चात् प्रयुक्त हुआ है। यदि जायसवाल की व्याख्या हम मान लें तो हमें युद्ध के पश्चात् के राजाओं का मध्यमान २१·२१ (७०० ÷ ३३) वर्ष और युद्ध के पूर्व के राजाओं का मध्यमान ३० वर्ष (३०० ÷ १०) मिलता है (यदि जायसवाल ने पुराणों को ठीक से समझा है) तथा पूर्व राजाओं का मध्यमान १३·५ (२०३ ÷ १५) वर्ष होगा, क्योंकि जायसवाल बृहद्रथवंश का आरंभ क० सं० १३७४ तथा महाभारत युद्धकाल क० सं० १६७५ में मानते हैं। अतः जायसवाल की समझ में विरोधाभास है; क्योंकि वे राजाओं का मध्यमान मनमाने ढँग से निर्धारित करते हैं। यथा ३०; २१·२१;२० (३०० ÷ १५) या १३·५ वर्ष। अपितु जायसवाल राजाओं का काल गोल संख्या ७०० के बदले ६६३ वर्ष मानते हैं और राजाओं के भुक्तकाल की भी अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए मनमानी कल्पना कर लेते हैं; पुराण पाठ भले ही इसका समर्थन न करें।

भुक्तकाल का मध्यमान

राजाओं के भुक्तकाल का मध्यमान जैसा जायसवाल समझते हैं; संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। प्राच्यों के लिए यह विचार-धारा नूतन और अद्भुत है। अपितु प्राचीन काल के राजाओं के भुक्तकाल के मध्यमान को हम आधुनिक मध्यमान से नहीं माप सकते; क्योंकि यह मध्यमान प्रत्येक देश और काल की विचित्र परिस्थिति के अनुकूल बदला करता है।

मगध में गद्दी पर बैठने के लिए राजाओं का चुनाव होता था। ज्जेष्ठ पुत्र किसी विशेष दशा में ही गद्दी का अधिकारी होता था। वैदिक काल में भी हमें चुनाव प्रथा का आभास मिलता है, यद्यपि यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि लोग राजवंश में से चुनते थे या सरदारों में से[1]। अथर्ववेद[2] कहता है कि प्रजा राजा को चुनती थी। मेगास्थनीज[3] कहता है—भारतवासी अपने राजा को गुणों के आधार पर चुनते थे। राजा सौरि का[4] मंत्री कहता है—ज्येष्ठ और कनिष्ठ का कोई प्रश्न नहीं। साम्राज्य का सुख वही भोग सकता है जो भोगना चाहे। अपितु यह सर्वविदित है कि शिशुनाग, आर्यक, समुद्रगुप्त, हर्ष और गोपाल इत्यादि राजाओं को प्रजा ने सिंहासन पर बिठाया था। प्रायेण[5] सूर्यवंश में ही ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी मिलती थी।

---

१. हिंदू-पालिटी, नरेन्द्रनाथ ला विरचित, पृ० ६-१०।
२. अथर्व वेद ३-४-२।
३. मेगास्थनीज व एरियन का प्राचीन भारत वर्णन, कलकत्ता १६२६, पृ० २०६,
४. पीछे देखें—वैशालीवंश।
५. तुलना करें—'रामचरितमानस' अयोध्याकाण्ड।

विमल वंश यह अनुचित एकू।
बंधु विहाय बड़े अभिषेकू॥

प्राचीन काल में राजा राजकर्त्ताओं के[१] घर जाकर रत्नहविः पूजा करते थे। ज्येष्ठ पुत्र का गद्दी का अधिकार प्राचीन भारत में कभी भी पूर्ण रूप से मान्य नहीं था। ज्येष्ठ पुत्र को छोड़कर छोटे को राज-गद्दी पर बिठाने की प्राचीन प्रथा अनेक स्थलों में पाई जाती है। कौरव वंश में देवापि[२] गद्दी पर नहीं बैठता, उसके बदले उसका छोटा भाई शन्तनु[३] गद्दी पर बैठता है। महाभारत के एक कथानक में प्रजा राजा ययाति[४] से पूछती है कि ज्येष्ठ देवयानी के पुत्र यदु को छोड़कर पुरु को आप क्यों गद्दी पर बिठाते हैं? इसपर राजा[५] कहते हैं—'जो पुत्र पिता के समान देव, ऋषि, एवं पितरों की सेवा और यज्ञ करे और अनेक पुत्रों में जो धर्मात्मा हो, वह ज्येष्ठ पुत्र कहलाता है।' और प्रजा पुरु को स्वीकार कर लेती है।

सीतानाथ प्रधान[६] संसार के दश राजवंशों के आधर पर प्रति राज मध्यमान २८ वर्ष मानते हैं। रायचौधुरी[७] और जायसवाल[८] यथा स्थान राजाओं का मध्यमान[९] ३० वर्ष स्वीकार करते हैं। विक्रम संवत् १२५० से १५८३ तक ३३३ वर्षों के बीच दिल्ली की गद्दी पर ३५ सुलतानों ने राज्य किया, किन्तु, इसी काल में मेवाड़ में केवल १३ राजाओं ने राज्य किया। इनमें दिल्ली की गद्दी पर १६ और मेवाड़ में तीन की अस्वाभाविक मृत्यु हुई। गौड़ (बंगाल) में ३३६ वर्षों में (१२५६ विक्रम संवत्, से १५६५ वि० सं० तक) ४३ राजाओं ने राज्य किया तथा इसी बीच उड़ीसा में केवल १४ राजाओं ने ही शासन किया।[१०]

अपितु पुराणों में प्रायः, यह नहीं कहा जाता कि अमुक राजा अपने पूर्वाधिकारी का पुत्र था या अन्य सम्बन्धी। उत्तराधिकारी प्रायः पूर्वाधिकारी वंश का होता है। [तुलना करें—अन्वये, दायादा]

द्वा विंशतिनृ पाहचेते (२२ राजाओं) के बदले वायु (संवत १४६० की हस्तलिपि) का एक प्राचीन पाठ है—एते महाबलाः सर्वे (ये सभी महान् शक्तिशाली थे)। शक्तिशाली होने के कारण कुछ राजाओं का बध गद्दी के लिए किया गया होगा। अतः अनेक राजा अल्पजीवी हुए होंगे—यह तर्क मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि हम प्रतापी एवं शक्तिशाली मुगलों को ही दीर्घायु पाते हैं और उनका मध्यमान लम्बा है। किन्तु बाद के मुगलों का राज्यकाल अल्प है, यद्यपि उनकी संख्या बहुत है। हमें तो मगध के प्रत्येक राजा का अलग-अलग भुक्तराजवर्ष पुराण बतलाते हैं।

---

१. ऐतरेय ब्रा० ८-१७५; अथर्व वेद ३-५-७।
२. ऋग्वेद १०-९८-५।
३. निरुक्त २-१०।
४. महाभारत १-७६।
५. वहीं १-६५-४४।
६. प्राचीन भारत वंशावली पृ० १६६—७४।
७. पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंसियंट इण्डिया पृ० १६६-७४।
८. जर्नल वि० ओ० रि० सो० १-७०।
९. गुप्त वंश के आठ राजाओं का मध्यमान २६.५ व ७ राजाओं का मध्यमान २६.८२ वर्ष होता है। बैबिलोन (बावेरु) के शिष्कु वंश के एकादश राजाओं का काल ३६८ वर्ष होता है।
१०. (इतिहास प्रवेश, जयचन्द विद्यालंकार लिखित, १९४१ पृ० २२७)।

किसी वंश के राजाओं की लम्बी वर्ष-संख्या की परम्परा का हम समर्थन नहीं कर सकते, यद्यपि किसी एक राजा के लिए या किसी वंश-विशेष के लिए यह भले ही मानलें यदि उस वंश के अनेक राजाओं के नाम भूल से छूट गये हों। राजाओं के भुक्तकाल की मन-मानी कल्पना करके इतिहास का मेरुदण्ड तैयार करना उतना अच्छा न होगा, जितना मगधवंश के राजाओं की पौराणिक वर्ष-संख्या मान कर इतिहास को खड़ा करना। अतः पौराणिक राजवंश को यथा संभव मानने का यत्न किया गया है, यदि किसी अन्य आधार से वे खण्डित न होते हों अथवा तर्क से उनका समर्थन हो न सकता हो।

भारतयुद्ध के पूर्व राजाओं के सम्बन्ध में हमें बाध्य होकर प्रतिराज भुक्तकाल का मध्यमान २८ वर्ष मानना पड़ता है। क्योंकि हमें प्रत्येक राजा की वर्ष-संख्या नहीं मिलती। यदि कहीं-कहीं किसी राजा का राज्यकाल मिलता भी है तो इसकी अवधि इतनी लम्बी होती है कि इतिहासकार की बुद्धि चकरा जाती है। इसे कल्पनातीत समझ कर हमें केवल मध्यमान के आधार पर ही इतिहास के मेरुदण्ड को स्थिर करना पड़ता है। और यह प्रक्रिया तब तक चलानी होगी जब तक हमें कठिन भित्ति पर खड़े होने के लिए आज की अपेक्षा अधिक ठोस प्रमाण नहीं मिलते।

३२ राजाओं का १००१ वर्ष

गोलसंख्या में २२ राजाओं का काल १००० वर्ष है, किन्तु, यदि हम विष्णु पुराण का आधार लें तो पुराणों के २२ और नूतन रचित वंश के ३२ राजाओं का काल हम १००१ वर्ष कह सकते हैं। हो सकता है कि राजाओं की संख्या ३२ से अधिक भी हो। वस्तुतः गणना से ३२ राजाओं का काल ठीक १००१ वर्ष आता है। इनका मध्यमान प्रतिराज ३१·४ होता है। सेनाजित् के बाद पुराणों की गणना से १६ राजाओं का काल ७२३ वर्ष और त्रिवेद के मत में २२ राजाओं का काल ७२४ वर्ष होता है और इस प्रकार इनका मध्यमान ३२·८ वर्ष होता है। इस एक वर्ष का अंतर भी हम सरलतया समझ सकते हैं। यदि इस बात का ध्यान रखें कि विष्णु पुराण और अन्य पुराणों के १,००० के बदले १,००१ वर्ष सभी राजाओं का काल बतलाता है। यदि हम पौराणिक पाठों का ठीक से विश्लेषण करें तो हमें आश्चर्य पूर्ण समर्थन मिलता है। सचमुच, इसकाल के लिए पुराणों को छोड़ कर हमारे पास अन्य कोई भी ऐतिहासिक आधार नहीं है।

पुनःनिर्माण

काशीप्रसाद जायसवाल ने कुछ नष्ट, तुच्छ, (अप्रमुख) नामों की खोज करके इतिहास की महान् सेवा की है।

(क) आरंभ में ही हमें विभिन्न पुराणों के अनुसार दो पाठ सोमाधि और मार्जारि मिलते हैं, जिन्हें सहदेव का दायाद और पुत्र क्रमशः बतलाया गया है।

(ख) श्रुतश्रवा के बाद कुछ प्रतियों में अयुतायु और अन्यत्र अप्रतीपी पाठ मिलता है। कुछ पुराण इसका राज्यकाल ३६ वर्ष और अन्य २६ वर्ष बतलाते हैं। श्रुतश्रवा का लम्बा राज्यकाल ६४ वर्ष बताया गया है। संभव है इस वर्ष-संख्या में अयुतायु या अप्रतीपी का राज्यकाल भी सम्मिलित हो।

(ग) निरमित्र के बदले शर्ममित्र पाठ भी मिलता है। यहाँ दो राजा हो सकते हैं और

संभव है कि उनका राज्यवर्ष एक साथ मिलाकर दिया गया हो। क्योंकि किसी पुराण में इसका राज्यवर्ष ४० और अन्यत्र १०० वर्ष बताया गया है।

(घ) शत्रुञ्जय के बाद मत्स्य-पुराण विभु का नाम लेता है, किन्तु ब्रह्माण्ड पुराण रिपुञ्जय का नाम बतलाता है। विष्णु की कुछ प्रतियों में रिपु एवं रिपुञ्जय मिलता है। जायसवाल के मत में १५४० वि० सं० की वायु (जी) पुराण की हस्तलिखित प्रति के अनुसार महाबल एक विभिन्न राजा है।

(ङ) क्षेम के बाद सुव्रत या अणुव्रत के बदले कहीं पर क्षेमक पाठ भी मिलता है। इसका दीर्घ राज्यकाल ६४ वर्ष कहा गया है। संभवतः सुव्रत और क्षेमक क्षेम के पुत्र थे और वे क्रमशः एक दूसरे के बाद गद्दी पर बैठे और उनका मिश्र राज्यकाल बताया गया है।

(च) वायुपुराण निर्वृत्ति और एमन के लिए ५८ वर्ष बतलाता है। मत्स्य में एमन छूट गया है, केवल निर्वृति का नाम मिलता है। इसके विपरीत ब्रह्माण्ड में निर्वृति छूटा है; किन्तु एमन का नाम पाया जाता है। अतः एमन को भी नष्ट राजाओं में गिनना चाहिए।

(छ) त्रिनेत्र का कहीं पर २८ और कहीं पर ३८ वर्ष राज्यकाल मत्स्य पुराण में बतलाया गया है। ब्रह्माण्ड, विष्णु और गरुड़ पुराण में इसे सुश्रम कहा गया है। भागवत इसे श्रम और सुव्रत बतलाता है। अतः सुश्रम को भी नष्ट राजाओं में मानना चाहिए।

(ज) दूसरा पाठभेद है महीनेत्र एवं सुमति। अतः इन्हें भी विभिन्न राजा मानना चाहिए।

(झ) नवाँ राजा निःसन्देह शत्रुञ्जयी माना जा सकता है, जिसके विषय में वायु पुराण (डी) कहता है—

राज्यं सुचलो भोक्ष्यति अथ शत्रुञ्जयीततः

(ञ) संभवतः, सत्यजित् और सर्वजित् दो राजा एक दूसरे के बाद हुए। यहाँ सप्तजित् पाठ भी मिलता है; किन्तु सप्त' सत्यं का पाठ अशुद्ध हो सकता है। पुराण एक मत से इसका राज्य काल ८३ वर्ष बतलाते हैं। सर्व को सत्य नहीं पढ़ा जा सकता। अत: इन्हें विभिन्न राजा मानना होगा। अतः भारतयुद्ध के बाद हम ३२ राजाओं की सूचना पाते हैं। हमें शेष नष्ट राजाओं का अभी तक ज्ञान नहीं हो सका है।

कुछ विद्वानों और समालोचकों का अभिमत है कि नामों के सभी विभिन्न पाठों को विभिन्न राजाओं का नाम समझना चाहिए। किन्तु यह अभिमत मानने में कठिनाई यह है कि सभी पाठ सत्यतः पाठभेद नहीं है; किन्तु प्रतियों में बार-बार नकल करने की भूलें हैं। शतश्रवस् श्रुतश्रवस् का केवल अशुद्ध पाठ है, जिस प्रकार सुक्षर, सुक्षत्र, सुमित्र, सुनक्षत्र और स्वक्षत्र लिखनेवालों की भूलें हैं। अक्षरों का इधर-उधर हो जाना स्वाभाविक है। यदि लिखनेवाला चलता-पुरजा रहा तो अपनी बुद्धि का परिचय देने के लिए वह सरलता से अपने लेख में कुछ पर्यायवाची शब्द घुसेड़ देगा। विहर्ण का कुछ अर्थ नहीं होता और वह कर्मक का अर्थ बृहत्कर्मा से मिलता-जुलता है। यदि इस स्थान पर बृहत्सेन का अन्य कोई ऐसा शब्द होता तो उस राजा के अस्तित्व को भिन्न मानने का कुछ संभावित कारण हो सकता था। कर्मजित् और धर्मजित् भी सेनजित् से मिलते है। शत्रुञ्जय के बाद सत्यक एक विभिन्न राजा हो सकता है। अतः कुल पुराणों के विभिन्न पाठों के अध्ययन से केवल दो ही नाम और मानने की संभावना हो सकती है, किन्तु अनुमित राजवंश का मध्यमान और राजाओं की लिखित संख्या

ही हमें राजाओं की नियत संख्या निर्धारित करने में सहायक होती है। अपितु, हमें २२ द्वाविंशति के बदले ३२ द्वात्रिंशत् पाठ मिलता है; अतः हमें राजाओं की संख्या ३२ ही माननी चाहिए।

बार्हद्रथ वंश-तालिका

संख्या	राज नाम	प्रधान	जायसवाल	पार्जिटर	(अभिमत त्रिवेद)
१ २	सोमाधि मार्जारि	५०	५८	५८	५८
३ ४	श्रुतश्रवा अप्रतीपी	६	६०	६४	६०
५	अयुतायु	२६	२६	२६	३६
६ ७	निरमित्र शर्ममित्र	४०	४०	४०	४०
८	सुरक्ष या सुक्षत्र	५०	५०	५६	५८
९	बृहत्कर्मा	२३	२३	२३	२३
१०	सेनाजित्	२३	...	२३	५०
११ १२	शत्रुञ्जय महाव्रत या रिपुंजय प्रथम	३५	३५	४०	४०
१३	विभु	२८	२५	२८	२८
१४	शुचि	६	६	५८	६४
१५	क्षेम	२८	२८	२८	२८
१६ १७	क्षेमक अणुव्रत	२४	६०	६४	६४
१८	सुनेत्र	५	५	३५	३५
१९ २०	निर्वृति एमन	५८	५८	५८	५८
२१ २२	त्रिनेत्र सुश्रम	२८	२८	२८	३८
२३	द्युमत्सेन	८	८	४८	४८
२४ २५	महीनेत्र सुमति	३३	२०	३३	३३
२६ २७	सुचल शत्रुञ्जयी	२२	२२	३२	३२
२८	सुनीत	४०	४०	४०	४०
२९ ३०	सत्यजित् सर्वजित्	३०	३०	८३	८३
३१	विश्वजित्	२५	२५	२५	३५
३२	रिपुञ्जय	५०	५०	५०	५०
		६३८ वर्ष	६६७ वर्ष	६४० वर्ष[1]	१००१ वर्ष

१. ऐंशियट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, पृ० १७९।

श्री धीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायने[१] एक बेतुका सुझाव रखा है कि यद्यपि राजाओं की संख्या २२ ही दी गई तो भी कुल राजाओं की संख्या ४८ (१६ + ३२) है जिन्होंने १७२३ वर्ष (१००० + ७२३) राज्य किया। अथवा १६ राजाओं ने ७२३ वर्ष और ३२ राजाओं ने १००० वर्ष।

अन्यत्र (परिशिष्ट ख॰) दिखाया गया है कि महाभारत युद्ध कलि संवत् १२३४ में हुआ। अतः सहदेव का पुत्र सोमाधि भी क॰ सं॰ १२३४ में गद्दी पर बैठा। इसके वंश का विनाश बुरी तरह हुआ। अंतिम संतान हीन बूढ़े राजा रिपुञ्जय को इसके ब्राह्मण मंत्री एवं सेनापति पुलक ने बध (क॰ सं॰ २२३५ में) किया।

मगध के इतिहास में ब्राह्मणों का प्रमुख हाथ रहा है। वे प्रायः प्रधान मंत्री और सेनापति का पद सुशोभित करते थे। राजा प्रायः क्षत्रिय होते थे। उनके निर्बल या अपुत्र होने पर वे इसका लाभ उठाने से नहीं चूकते थे। अंतिम बृहद्रथ द्वितीय के बाद प्रद्योतों का ब्राह्मण वंश गद्दी बैठा। प्रद्योतों के बाद शिशुनागों का राज्य हुआ। उन्होंने अपने को क्षत्र बंधु घोषित किया। इसके बाद नन्दवंश का राज हुआ, जिसकी जड़ चाणक्य नामक ब्राह्मण ने खोदी। मौर्यों के अंतिम राजा बृहद्रथ का भी बध उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने किया। अतः हम पाते हैं कि ब्राह्मणों का प्रभुत्व सदा बना रहा और प्रायः वे ही वास्तविक राजकर्त्ता थे।

---

१. प्रदीप, बंगाली मासिक पत्रिका देखें।

चतुर्दश अध्याय

प्रद्योत

यह प्रायः माना[1] जाता है कि पुराणों के प्रद्योत्तवंश ने, जिसे अन्तिम बृहद्रथ राज का उत्तराधिकारी कहा गया है, मगध में राज्य न किया और मगध से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। लोग उसे अवन्तिराज प्रद्योत ही समझते हैं जो निम्नलिखित कारणों से बिम्बिसार का प्रतिस्पर्द्धी और भगवान् बुद्ध का समकालीन माना जाता है। (क) इतिहास में अवंती के राजा प्रद्योत्त का ही वर्णन मिलता है और पुराण भी प्रद्योत राजा का उल्लेख करते हैं। (ख) दोनों प्रद्योतों के पुत्र का नाम पालक है। (ग) मत्स्य पुराण में इस वंश का आरंभ निम्न लिखित प्रकार से होता है।

बृहद्रथे स्वतीतेषु बीतिहोत्रेष्ववन्तिषु

बीतिहोत्र मगध के राजा[2] थे; किन्तु, मगध राजाओं के समकालीन थे। प्रद्योत का पिता पुणक या पुलक का नाम बीतिहोत्रों के बाद आया है। अतः अपने पुत्र का अभिषेक करने के लिए उसने बीतिहोत्र वंश के राजा का वध किया। बाण[3] कहता है कि पुणक वंश के प्रद्योत्त के पुत्र कुमार सेन का वध वेताल तालजंघ ने महाकाल के मन्दिर में किया। जब वह कसाई के घर पर मनुष्य मांस बेचने के विषय में अतुक बहस या वितण्डा कर रहा था। सुरेन्द्रनाथ मजुमदार का मत है कि पुलक ने बीतिहोत्रों को मार भगाया, जिससे अंतिम राजा का बधकर अपने पुत्र को गद्दी पर बिठाये। इसपर बीतिहोत्र या ताल जंघों को क्रोध आया और पुलक के पुत्र की हत्या करके उन्होंने इसका बदला लिया। अतः प्रद्योत्तों ने बीतिहोत्रों के बाद अवन्ती में राज्य किया। यह प्रद्योत बिम्बिसार और बुद्ध का समकालीन चण्डप्रद्योत महासेन ही है।

शिशुनागों का पुछल्ला ?

पुराणों में कोई आभास नहीं, जिसके आधार पर हम प्रद्योत वंश को शिशुनाग वंश का पुछल्ला[4] मानें अथवा प्रद्योत को, जिसका वर्णन पुराण करते हैं, शैशुनाग बिम्बिसार का समकालीन मानें।

---

१. (क) ज० वि० उ० रि० सो० श्री० ह० द० भिडे व सुरेन्द्रनाथ मजुमदार का लेख भाग ७-पृ० ११३-२४।

(ख) इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता १९३० पृ० ६७८, ज्योतिर्मय सेन का प्रद्योत वंश प्रहेलिका।

(ग) जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री भाग ९, पृ० १८८ अमलानन्द घोष का अवन्ति प्रद्योत की कुछ समस्याएँ।

२. पार्जिटर का पाठ, पृ० २४।

३. हर्ष चरित षष्ठ उच्छ्वास पृ० १९९ (परबसंस्करण)।

४. ज० वि० उ० रि० सो० १·१०६।

यदि ऐसा होता तो प्रद्योत वंश के वर्णन करने का उचित स्थान होता बिम्बिसार के साथ, उसके उत्तराधिकारी के साथ या शिशुनाग वंश के अंत में। हेमचन्द्र राय चौधुरी[१] ठीक कहते हैं कि 'पुराणों में समकालीन राजाओं को कभी-कभी उत्तराधिकारी बताया गया है तथा सामंतों को उनका वंशज बताया गया है। पौरव और इक्ष्वाकु आदि पूर्ववंशों का संक्षिप्त वर्णन है, किन्तु, मगध वंश का बृहद्रथों से आरम्भ करके विस्तारपूर्ण वर्णन पाया जाता है और आवश्यकतानुसार समकालीन राजाओं का भी उसमें अलग से वर्णन है या संक्षेप में उनका उल्लेख है।'

अभय से विजीत प्रद्योत

बिम्बिसार शिशुनाग वंश का पंचम राजा है और यदि प्रद्योत ने बिम्बिसार के काल में राज्य आरम्भ किया तो शिशुनाग के भी पूर्व प्रद्योत का वर्णन असंगत है। केवल नामों की समानता से ही पुराणों की वंशपरम्परा तोड़ने का कोई कारण नहीं है, जिससे हम दोनों वंशों को एक मानें। प्रद्योतों के पूर्व बृहद्रथों ने मगध में राज्य किया। फिर इन दोनों वंशों के बीच का वंश प्रद्योत भला किस प्रकार अवन्ती में राज्य करेगा ? रैपसन का सुझाव[२] है कि अवन्ती वंश ने मगध को भी मात कर दिया और मगध के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया; इसीसे यहाँ पर मगध का वर्णन है। यह असंगत प्रतीत होता है; क्योंकि बिम्बिसार के काल में भी [जिसका समकालीन प्रद्योत्त (चण्ड) था] मगध अपनी उन्नति पर था और किसीके सामने झुकने को वह तैयार न था। प्रद्योत्त बिम्बिसार को देव[३] कहकर सम्बोधित करता है।

कुमारपाल प्रतिबोध में उज्जयिनी के प्रद्योत की कथा[४] है। इस कथा के अनुसार मगध का राजकुमार अभय प्रद्योत को बंदी बनाता है। इसने प्रद्योत का मानमर्दन किया था जिसके चरण पर उज्जयिनी में चौदह राजा शिर झुकाते थे। प्रद्योत ने श्रेणिक के कुमार अभय के पिता के चरणों पर शिर नवाया। बृहद्रथ वंश से लेकर मौर्यों तक मगध का सूर्य प्रचण्ड रूप से भारत में चमकता रहा, अतः पुराणों में मगध के ही क्रमागत वंशों का वर्णन होगा। अतः यहाँ पर प्रद्योत वंश का वर्णन तभी युक्तियुक्त होगा यदि इस वंश ने मगध में राज्य किया हो।

अन्तःकाल

देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर[५] निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं—(क) मगध की शक्ति लुप्तप्राय हो चली थी। अवन्ती के प्रद्योत का सितारा चमक रहा था, जिसने मगध का विनाश किया, अतः बृहद्रथों और शिशुनागों के बीच गड़बड़झाला हो गया। इस अन्तःकाल को वे प्रद्योत-वंश से नहीं; किन्तु वज्जियों से पूरा करते हैं। (ख) बृहद्रथों के बाद मगध में यथाशीघ्र प्रद्योतवंश का राज्य हुआ।

---

१. पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियंट इण्डिया (तृतीय संस्करण) पृ० ४१।

२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग १ पृ० ३११।

३. विनय पिटक पृ० २७१ (राहुल संस्करण)।

४. परदारगमन विषये प्रद्योत कथा, सोमप्रभाचार्य का कुमारपाल प्रतिबोध, मुनि जिनराजविजय सम्पादित, १९२० (गायकवाड़ सीरीज) भाग १४, पृ० ७९-८३।

५. कारमाइकेल लेक्चर्स भाग १ पृ० ७३।

६. पार्जिटर पृ० १८।

दोनों प्रद्योतों के पिता

पुराणों के अनुसार प्रद्योत का पिता पुलक था। किन्तु कथासरित्सागर के अनुसार चण्ड पज्जोत का पिता जयसेन था। चण्डपज्जोत की वंशावली इस प्रकार है—महेन्द्र वर्मन, जयसेन, महासेन (= चण्ड प्रद्योत)। तिब्बती[1] परम्परा पज्जोत को अनन्त नेमी का पुत्र बतलाता है और इसके अनुसार पज्जोत का जन्म ठीक उसी दिन हुआ जिस दिन भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। संभवतः, पज्जोत के पिता का ठीक नाम अनन्त नेमी था। और जयसेन केवल विरुद जिस प्रकार पज्जोत का विरुद महासेन था[2]। अधिकांश कथासरित्सागर में ऐतिहासिक नाम ठीक ही पाये जाते हैं। अतः यदि हम इसे ठीक मानें तो स्वीकार करना पड़ेगा कि अवन्ती का राजा प्रद्योत अपने पौराणिक संज्ञक राजा से भिन्न है।

दीर्घ चारायण[3] बालकपिता पुलक का घनिष्ट मित्र था। चारायण ने राजगद्दी पाने में पुलक की सहायता की। किन्तु, पालक अपने गुरु दीर्घ चारायण का अपमान करना चाहता था, अतः चारायण ने राजमाता के कहने से मगध त्याग दिया, इसलिए पुलक को नयवर्जित कहा गया है। अतः अर्थशास्त्र निश्चयपूर्वक सिद्ध करता है कि मगध के प्रद्योत वंश में पालक नामक राजा राज करता था।

उत्तराधिकारी

दोनों प्रद्योतों के उत्तराधिकारियों का नाम सचमुच एक ही है यानी पालक। भास[4] प्रद्योत के संभवतः ज्येष्ठ पुत्र को गोपाल बालक (लघुगोपाल) कहता है, किन्तु मृच्छकटिक[5] गोपालक का अर्थ गायों का चरवाहा समझता है। कथासरित्सागर[6] प्रद्योत के दो पुत्रों का नाम पालक और गोपाल बतलाता है।

मगध के पालक का उत्तराधिकारी विशाखयूप था, जिसका ज्ञान पुराणों के सिवा अन्य ग्रन्थकारों को नहीं है। सीतानाथ प्रधान[7] इस विशाखयूप को पालक का पुत्र तथा काशीप्रसाद जायसवाल[8] आर्यक का पुत्र बतलाते हैं। किन्तु इसके लिए वे प्रमाण नहीं देते। अवन्ती के पालक के उत्तराधिकारी के विषय में घोर मतभेद है। जैन ग्रन्थकार इस विषय में मौन हैं। पालक महाक्रूर[9] था। जनता ने उसे गद्दी से हटाकर गोपाल के पुत्र आर्यक को कारागार से लाकर गद्दी पर बिठाया। कथासरित्सागर अवन्ति वर्द्धन को पालक का पुत्र बतलाता है। किन्तु, इससे यह स्पष्ट नहीं है कि पालक का राज्य किस प्रकार नष्ट हुआ और अवन्तिवर्द्धन अपने पिता की मृत्यु के बाद, गद्दी पर कैसे बैठा। अतः अवन्ती के पालक के उत्तराधिकारी के विषय

---

१. क० स० सा० ११-३४।
२. राकहिल पृ० १७।
३. अर्थशास्त्र अध्याय ६५ टीका भिक्षु प्रभमति टीका।
४. हर्ष चरित ६ (पृ० ११८) उच्छ्वास तथा शंकर टीका।
५. मृच्छकटिक १०-५।
६. स्वप्न वासवदत्ता अंक ६।
७. क० स० सा० अध्याय ११२।
८. प्राचीन भारत वंशावली पृ० २३५।
९. ज० बि० उ० रि० सो० भाग १ पृ० १०६।

में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है—(क) इसका कोई उत्तराधिकारी न था। (ख) घोर विप्लव से उसका राज्य नष्ट हुआ और उसके बाद अन्य वंश का राज्य आरंभ हो गया और (ग) पालक के बाद अवन्ति वर्मा शांति से गद्दी बैठा, किन्तु इसके संबन्ध में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

किन्तु मगध के पालक का उत्तराधिकारी उसी वंश का है। उसका पुत्र शांति से गद्दी पर बैठता है, जिसका नाम है विशाखयूप न कि अवन्तिवर्द्धन। जैनों के अनुसार अवन्ति पालक ने ६० वर्ष राज्य किया, किन्तु मगध के पालक ने २४ वर्ष[3] ही राज्य किया।

भारतवर्ष में वंशों का नाम प्रायः प्रथम राजा के नाम से आरंभ होता है, यथा ऐक्ष्वाकु, ऐल, पौरव, बार्हद्रथ, गुप्तवंश इत्यादि। अवन्ती का चण्डप्रद्योत इस वंश का प्रथम राजा न था अतः यह प्रद्योत वंश का संस्थापक नहीं हो सकता।

राज्यवर्ष

सभी पुराणों में प्रद्योत का राज्यकाल २३ वर्ष बताया गया है। अवन्ती के प्रद्योत का राज्यकाल बहुत दीर्घ है, क्योंकि वह उसी दिन पैदा हुआ, जिस दिन बुद्ध का जन्म हुआ था। वह बिम्बसार का समकालीन और उसका मित्र था। बिम्बसार ने ५१ वर्ष राज्य किया। जब बिम्बसार को उसके पुत्र अजातशत्रु (राज्यकाल ३२ वर्ष) ने बध किया तब प्रद्योत ने राजगृह पर आक्रमण की तैयारी की।

अजातशत्रु के बाद दर्शक गद्दी पर बैठा जिसके राज्य के पूर्व काल में अवश्य ही चण्ड प्रद्योत्त अवंती में शासन करता था। अतः चण्ड प्रद्योत्त का काल अतिदीर्घ होना चाहिए। इसके राज्य काल में बिम्बसार, अजातशत्रु एवं दर्शक के समस्त राज्यकाल के कुछ भाग सम्मिलित हैं। संभवतः इसने ८० वर्ष से अधिक राज्य किया (५१ + ३२ + ···) और इसकी आयु १०० वर्ष से भी अधिक थी (८० वर्ष बुद्ध का जीवन काल + २४ (३२ – ८) + दर्शक के राज्यकाल का अंश)। किन्तु मगध के प्रद्योत ने केवल २३ वर्ष ही राज्य किया। अतः यह मानना स्वाभाविक है कि मगध एवं अवंती के प्रद्योत एवं पालक में नाम सादृश्य के सिवा कुछ भी समता नही है।

सभी पुराण एक मत हैं कि पुलक ने अपने स्वामी की हत्या की और अपने पुत्र को गद्दी पर बिठाया। मत्स्य, वायु और ब्रह्मांड स्वामी का नाम नहीं बतलाते। विष्णु और भागवत के अनुसार स्वामी का नाम रिपुञ्जय था जो मगध के बृहद्रथ वंश का अंतिम राजा था। मगध के राजा की हत्या कर के प्रद्योत को मगध की गद्दी पर बिठाया जाना स्वाभाविक है, न कि अवंती की गद्दी पर। विष्णु और भागवत अवंती का उल्लेख नहीं करते। अतः यह मानना होगा कि प्रद्योत का अभिषेक मगध में हुआ, न कि अवंती में।

पाठ विश्लेषण

पार्जिटर के अनुसार मत्स्य का साधारण पाठ है 'अवन्तिषु', किन्तु, मत्स्य की चार हस्तलिपियों का (एफ०, जी०, जे० के०) पाठ है अबन्धुषु।

---

१. क० स० सा० ११२-१३।

२. इण्डियन ऍटिकक्वेरी १९१४ पृ० ११८।

३. पार्जिटर पृ० १९।

इसमें (जे) मत्स्यपुराण बहुमूल्य है; क्योंकि इसमें विशिष्ट प्रकार के अनेक पाठान्तर हैं जो स्पष्टतः प्राचीन[1] है। अन्य किसी भी पुराण में 'अवन्तिषु' नहीं पाया जाता। ब्रह्माण्ड का पाठ है 'अवर्तिषु'। वायु के भी छः ग्रन्थों का पाठ यही है। अतः अवन्तिषु को सामान्य पाठ मानने में भूल समझी जा सकती है। (इ) वायु का पाठ है अवर्णिषु। यह ग्रंथ अत्यन्त बहुमूल्य है; क्योंकि इसमें मुद्रित संस्करण से विभिन्न अनेक पाठ है। अतः मत्स्य (जे) और वायु (इ) दोनों का ही प्राचीन पाठ 'अवन्तिषु' नहीं है। अवर्णिषु और अवर्तिषु का अर्थ प्रायः एक ही है—बिना बंधुओं के। अपितु पुराणों में 'अवन्ती में' के लिए यह पाठ पौराणिक प्रथा[2] से विभिन्न प्रतीत होता है। पुराणों में नगर को प्रकट करने के लिए एकवचन का प्रयोग हुआ है न कि बहुवचन का। अतः यदि "अवन्ती" शुद्ध पाठ होता तो प्रयोग 'अवंत्यां' मिलता, न कि अवन्तिषु। अवन्तिषु के प्रतिकूल अनेक प्रामाणिक आधार है। अतः अवन्तिषु पाठ अशुद्ध है और इसका शुद्धरूप है—'अबन्धुषु अवर्णिषु या अवर्तिषु' जैसा आगे के पाठ विश्लेषण से ज्ञात होगा।

साधारणतः वायु और मत्स्य के चार ग्रन्थों (सी, डी, इ, एन्) का पाठ है—वीत-होत्रेषु। (इ) वायु का पाठ है—रीतिहोत्रेषु, किन्तु ब्रह्माण्ड का पाठ है 'वीरहन्तृषु'। मत्स्य के केवल मुद्रित संस्करण का पाठ है—वीतिहोत्रेषु। किन्तु, पुराणों के पाठ का एकमत है बीतहोत्रेषु—जिनके यज्ञ समाप्त हो चुके—या वीरहन्तृषु (ब्रह्माण्ड का पाठ)—शत्रुओं के नाशक; क्योंकि वायु (जी) कहता है कि ये सभी राजा बड़े शक्तिशाली थे—'एते महाबलाः सर्वे।' अतः, यह प्रतीत होता है कि ये बार्हद्रथ राजा महान् यज्ञकर्त्ता और वीर थे। बीतहोत्र का वीतिहोत्र तथा अवर्णिषु का अवन्तिषु पाठ भ्रामक है। प्राचीन पाठ इस प्रकार प्रतीत होता है—

बृहद्रथेष्वतीतेषु वीतहोत्रेष्ववर्णिषु। इसका अर्थ होगा—(महायज्ञों के करनेवाले बृहद्रथ राजा के निर्वंश हो जाने पर) अवर्णिषु मालवा में एक नदी का भी नाम[3] है। संभवतः, भ्रम का यह भी कारण हो सकता है।

पुराणों के अनुसार महापद्म ने २० वीतिहोत्रों का नाश किया। प्रद्योतों ने अवन्ती के वीतिहोत्रों का नाश करके राज्य नहीं हड़प लिया। अतः, हम कह सकते हैं कि मगध के प्रद्योत वंश का अवन्ती से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

वंश

वैयक्तिक राजाओं की वर्ष-संख्या का योग और वंश के कुल राजाओं की भुक्त संख्या ठीक-ठीक मिलती है। इनका योग १३८ वर्ष है। इन पांच राजाओं का मध्यमान ३० वर्ष के लगभग अर्थात् २७.६ वर्ष प्रतिराज है।

बृहद्रथ वंश का अंतिम राजा रिपुंजय ५० वर्ष राज्य करने के बाद बहुत वृद्ध हो गया था। उसका कोई उत्तराधिकारी न था। उसके मंत्री पुलक ने छल से अपने स्वामी की हत्या क० सं० २२६५ में की। उसने स्वयं गद्दी पर बैठने की अपेक्षा राजा की एक मात्र कन्या से अपने

१. पार्जिटर पृ० ३२।

२ तुलना करो—गिरिव्रजे, पुरिकायां, मेकलायां, पद्मावत्यां, मथुरायां—सर्वत्र सप्तमी एकवचन प्रयुक्त है। पार्जिटर पृ० १४-१४, ४६-५१-५२-५३ देखें।

३. मार्कण्डेय पुराण ५७-२०।

पुत्र प्रद्योत का विवाह[1] करवा दिया और अपने पुत्र तथा राजा के जामाता को मगध की गद्दी पर बिठा दिया। ढाका विश्वविद्यालय पुस्तक-भंडार[2] के ब्रह्माण्ड की हस्तलिपि के अनुसार मुनिक अपने पुत्र को राजा बनाकर स्वयं राज्य करने लगा।

सभी पुराणों के अनुसार पुलक ने अपने काल के क्षत्रियों का मान-मर्दन करके खुल्लम-खुल्ला अपने पुत्र प्रद्योत को मगध का राजा बनाया। वह नयवर्जित काम साधनेवाला था। वह वैदेशिक नीति में चतुर था और पड़ोस के राजाओं को भी उसने अपने वश में किया। वह महान् धार्मिक और पुरुष श्रेष्ठ था (नरोत्तम)। इसने २३ वर्ष राज्य किया।

प्रद्योत के उत्तराधिकारी पुत्र पालक ने २४ वर्ष राज्य किया। मत्स्य के अनुसार गद्दी पर बैठने के समय वह बहुत छोटा था। पालक के पुत्र (तत्पुत्र-भागवत) विशाखयूप ने ५० वर्ष राज्य किया। पुराणों से यह स्पष्ट नहीं होता कि सूर्यक विशाखयूप का पुत्र था। सूर्यक के बाद उसका पुत्र नन्दिवर्द्धन गद्दी पर बैठा और उसने २० वर्ष तक राज्य किया। वायु का एक संस्करण इसे 'वर्त्तिवर्द्धन' कहता है। जायसवाल के मत में शिशुनागवंश का नन्दिवर्द्धन ही वर्तिवर्द्धन है। यह विचार मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि पुराणों के अनुसार नन्दिवर्द्धन प्रद्योत वंश का है। ब्राह्मणों के प्रद्योत वंश का सूर्य क० सं० २३६६ में अस्त हो गया और तब शिशुनागों का राज्योदय हुआ।

---

१. नारायण शास्त्री का 'शंकर काल' का परिशिष्ट २, 'कलियुगराजवृत्तान्त' के आधार पर।

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १६३० पृ० ६७८ हस्तलिखित ग्रन्थ संख्या २१५ पृ० १७९-४ तुलना करें—'पुत्रमभिषिच्याथ स्वयं राज्यं करिष्यति।'

पञ्चदश अध्याय

शैशुनाग वंश

प्राचीन भारत में शिशुनाग शब्द सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण[1] में पाया जाता है। वहाँ उल्लेख है कि ऋष्यमूक पर्वत की रक्षा शिशुनाग करते थे। किन्तु, यह कहना कठिन है कि यहाँ शिशुनाग किसी जाति के लिए या छोटे सर्पों के लिए अथवा छोटे हाथियों के लिए प्रयुक्त है। डाक्टर सुविमलचन्द्र सरकार के मत में रामायण कालीन वानर जाति के शिशुनाग और मगध के इतिहास के शिशुनाग राजा एक ही वंश के हैं। शिशुनाग उन बानरों[2] में से थे, जिन्होंने सुग्रीव का साथ दिया और जो अपने रण-कौशल के कारण विश्वस्त[3] माने जाते थे।

दूसरों का मत है कि शिशुनाग विदेशी थे और भारत में एलाम[4] से आये। हरित कृष्ण देव ने इस मत[5] का पूर्ण विश्लेषण किया है। मिस्र के बाइसवें वंश के राजा जैसा कि उनके नाम से सिद्ध होता है, वैदेशिक थे। शेशांक (शिशुनाक या शशांक) प्रथम ने वंश की स्थापना की। इस वंश के लोग पूर्व एशिया[6] से आये। इस वंश के अनेक राजाओं के नाम के अंत में शिशुनाक है, जो कम-से-कम चार बार पाया जाता है। अन्य नाम भी एशियाई हैं। अतः यह प्रतीत होता है कि शैशुनाग बहुत पहले ही सुदूर तक फैल चुके थे। वे भारत में बाहर से न आये होंगे; क्योंकि जब कभी कोई भी जाति बाहर से आती है तब उसका स्पष्ट लेख मिलता है जैसा कि शाकद्वीपीय[7] ब्राह्मणों के बारे में मिलता है।

महावंशटीका[8] स्पष्ट कहती है कि शिशुनाग का जन्म बैशाली में एक लिच्छवी राजा की वेश्या की कुक्षि से हुआ। इस बालक को घूरे पर फेंक दिया गया। एक नागराज इसकी

---

१. रामायण ३-७३-२९-३२।

२. संस्कृत में बानर शब्द का अर्थ जंगली होता है। वानं (वने भवं) राति खादतीति बानरः।

३. सरकार पृ० १०२-३।

४ एलाम प्रदेश ओरोटिस व टाइग्रिस नदी के बीच भारत से लेकर फारस की खाड़ी तक फैला था। इसकी राजधानी सूसा थी। कलि संवत् २४५५ या खृष्ट पूर्व ६४७ में इस राज्य का विनाश हो गया।

५. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी १९२२ पृ० १९४-७ "भारत व एलाम"।

६. इनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिया, भाग ६ पृ० ८६ (एकादश संस्करण)।

७. देवी भागवत ८-१३।

८. पाली संज्ञाकोष-सुसुनाग।

रक्षा कर रहा था। प्रातः लोग एकत्र होकर तमाशा देखने लगे और कहने लगे 'शिशु' है, अतः इस बालक का नाम शिशुनाग पड़ा। इस बालक का पालन-पोषण मंत्री के पुत्र ने किया।

जायसवाल [1] के मत में शुद्धरूप शिशुनाक है ; शिशुनाग प्राकृत रूप है। शिशुनाक का अर्थ होता है छोटा स्वर्ग और शिशुनाग का खींचातानी से यह अर्थ कर सकते हैं— सर्पद्वारा रक्षित बालक। दोनों शुद्ध संस्कृत शब्द हैं और हमें एक या अन्य रूप को स्वीकार करने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

राजाओं की संख्या

वंश का वर्णन करने में प्रायः तुच्छ राजा छोड़ दिये जाते हैं। कभी-कभी लेखक की भूल से नाम राजवर्ष या दोनों इधर-उधर हो जाते हैं। कभी-कभी विभिन्न पुराणों में एक ही राजा के विभिन्न विशेषण या विरुद पाये जाते हैं तथा उन राजाओं के नाम भी विभिन्न प्रकार से लिखे जाते हैं। पार्जिटर [2] के मत में इसवंश के राजाओं की संख्या दश है। किन्तु, विभिन्न पाठ इस प्रकार हैं। मत्स्य (सी, जी, एफ, एम) और वायु (सी, जी) दशद्वौ ; मत्स्य (ई) दशैवैते व ब्रह्माण्ड दशवैते। इस प्रकार हम लेखक की भूल से द्वादश (१२) के अनेक रूप पाते हैं। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आरंभ में द्वादश ही शुद्ध पाठ था न कि दश और राजाओं की संख्या भी १२ ही है न कि दश ; क्योंकि बौद्ध साहित्य से हमें और दो नष्ट राजाओं के नाम अनिरुद्ध और मुण्ड मिलते हैं।

भक्त वर्ष योग

पार्जिटर [3] के मत में इस वंश के राजाओं का काल १६३ वर्ष होता है, किन्तु, पार्जिटर द्वारा स्वीकृत राजाओं का भुक्तवर्ष योग ३३० वर्ष [4] होता है। पार्जिटर के विचार में—

"शतानि त्रीणि वर्षाणि षष्ठि वर्षाधि कानितु" का अर्थ सौ, तीन, साठ (१६३) वर्ष होगा, यदि हम इस पाठ का प्राकृत पद्धति से अर्थ करें। साहित्यिक संस्कृत में भले ही इसका अर्थ ३६० वर्ष हो। अपितु, राज्य वर्ष की संभावित संख्या १६३ है। किन्तु ३६० असंभव संख्या प्रतीत होती है।

वायु का साधारण पाठ है—शतानि त्रीणि वर्षाणि द्विषष्ट्यभ्यधिकानितु। वायु के पाठ का यदि हम शुद्ध संस्कृत साहित्य के अनुसार अर्थ लगावें तो इसका अर्थ होगा ३६२ वर्ष। पार्जिटर का यह मत कि पुराण पहले प्राकृत में लिखे गये थे, चिंत्य है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी यह तर्क युक्त नहीं प्रतीत होता कि शत का प्रयोग बहुवचन में क्यों हुआ, यदि इस स्थल पर बहुवचन वांछित न था। वायु और विष्णु में ३६२ वर्ष पाया जाता है। यद्यपि मत्स्य, ब्रह्माण्ड और भागवत में ३६० वर्ष ही मिलता है। ३६२ वर्ष यथातथ्य, किन्तु ३६० वर्ष गोलमटोल है। अतः, हमें भुक्तराजवर्ष ३६२ ही स्वीकर करना चाहिए, जो विभिन्न पुराणों के

---

१. ज० वि० उ० रि० सो० १-६७-८८ जायसवाल का शिशुनाग वंश।

२. पार्जिटर पृ० २२ टिप्पणी ४३।

३. कलिपाठ पृ० २२।

४. एंशियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन पृ० १७६।

पाठों के संतुलन से प्राप्त होता है। प्रायः ३००० वर्षों में बार-बार नकल करने से वैयक्तिक संख्या विकृत हो गई है। किन्तु सौभाग्यवश कुछ लिपियों में अब भी शुद्ध संख्याएँ मिल जाती हैं और हमें इनकी शुद्धता की परीक्षा के लिए पालि साहित्य से भी सहायता मिल जाती है। अपितु, पार्जिटर के अनुसार प्रतिराज हम २० वर्ष का मध्यमान लें तो शिशुनागवंश के राजाओं का काल २०० वर्ष होगा न कि १६३ वर्ष। किन्तु, यदि हम प्रतिराज ३० वर्ष मध्यमान लें तो १२ राजाओं के लिए ३६२ वर्ष प्रायः ठीक-ठीक बैठ जाता है।

वंश

हेमचन्द्र राय चौधरी[1] के मत में हर्यङ्क कुल के बिम्बिसार के बाद अंजातशत्रु, उदयी, अनिरुद्ध, मुण्ड और नागदासक ये राजा गद्दी पर बैठे। ये सभी राजा हर्यङ्कवंश के थे। हर्यङ्कवंश के बाद शिशुनागवंश का राज्य हुआ जिसका प्रथम राजा था शिशुनाग। शिशुनाग के बाद कालाशोक और उसके दश पुत्रों ने एक साथ राज्य किया। राय चौधरी का यह मत प्रद्योत्त पहेली के चक्कर में फँस गया है। यह बतलाया जा चुका है कि उज्जयिनी का प्रद्योतवंश मगध के प्रद्योत राजाओं के कई शती बाद हुआ। राय चौधुरी यह स्पष्ट नहीं बतलाते कि यहाँ किस पैतृक सिंहासन का उल्लेख है; किन्तु गेगर साफ शब्दों में कहता है कि बिम्बिसार इस वंश का संस्थापक न था। अश्वघोष के हर्यङ्क कुल का शाब्दिक अर्थ होता है—वह वंश जिसका राजचिह्न सिंह हो। तिब्बती परम्परा भी इस व्याख्या की पुष्टि करती है। सिंह चिह्न इसलिए चुना गया कि शिशुनागवंश का वैशाली से घनिष्ठ संबंध था और शिशुनाग का भी पालन-पोषण वैशाली में ही हुआ था। अतः राय चौधुरी का मत मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि पुराणों के अनुसार बिम्बिसार शैशुनागवंश का था और शिशुनाग ने ही अपने नाम से वंश चलाया, जिसका वह प्रथम राजा था।

पुराणों में शिशुनाग के वंशजों को क्षत्रबांधव कहा गया है। बन्धु तीन प्रकार के होते हैं—आत्मबंधु, पितृबंधु और मातृबंधु। रूपकों में स्त्री का भ्राता श्याला साथी होने के कारण अनेक गालियों को सहता है। अतः संभवतः इसी कारण ब्रह्मबन्धु और क्षत्रबन्धु भी निम्नार्थ में प्रयुक्त होने लगे।

वंशराजगण

१. शिशुनाग

प्रद्योतवंशी राजा अप्रिय हो गये थे; क्योंकि उन्होंने बलात् गद्दी पर अधिकार किया था और संभवतः उनको कोई भी उत्तराधिकारी न था। अतः यह संभव है कि मगधवासियों ने काशी के राजा को निमंत्रित किया हो कि वे जाकर रिक्त सिंहासन को चलावें। काशी से शिशुनाग का बलपूर्वक आने का उल्लेख नहीं है। अतः शिशुनाग ने प्रद्योत वंश के केवल यश का ही, न कि वंश का नाश किया। काशिराज ने अपने पुत्र शिशुनाग को काशी की गद्दी पर बैठाया और

१. कलिपाठ की भूमिका, परिच्छेद ४२।
२. पालिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशियंट इंडिया पृ० १५७।
३. महावंश का अनुवाद पृ० १२।

गिरिव्रज को अपनी राजधानी बनाया। देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर[1] के बिचार में इसका यह तात्पर्य है कि शिशुनाग केवल कोशल का ही नहीं, किन्तु अवन्ती का भी स्वामी हो गया तथा इसका और भी तात्पर्य होता है कि शिशुनाग ने कोशल और अबन्ती के बीच वत्सराज को अपने राज्य में मिला लिया। अतः शिशुनाग एक प्रकार से पंजाब और राजस्थान को छोड़कर सारे उत्तर भारत का राजा हो गया। महावंश टीका[2] के अनुसार क्रुद्ध जनता ने वर्त्तमान शासक को गद्दी से हटाकर शिशुनाग को गद्दी पर बैठाया। इसने महावंश[3] और दीपवंश[4] के अनुसार क्रमशः १८ तथा १० वर्ष राज्य किया। पुराणों में एक मुख से इसका राज्य काल ४० वर्ष बतलाया गया है। विष्णुपुराण इसे शिशुनाभ कहता हैं। इसने कलि सं० २३७३ से क० सं० २४१३ तक राज्य किया।[5]

२. काकवर्ण

शिशुनाग के पुत्र काकवर्ण के लिए यह स्वाभाविक था कि अपने पिता की मृत्यु के बाद मगध साम्राज्य बढ़ाने के लिए अपना ध्यान पंजाब की ओर ले जाय। बाण[6] कहता है—

जिन यवनों को अपने पराक्रम से काकवर्ण ने पराजित किया था, वे यवन[7] कृत्रिम वायुयान पर काकवर्ण को लेकर भाग गये तथा नगर के पास में छुरे से उसका गला घोंट डाला। इसपर शंकर अपनी टीका में कहते हैं—काकवर्ण ने यवनों को पराजित किया और कुछ यवनों को उपहार रूप में स्वीकार कर लिया। एक दिन यवन अपने वायुयान पर राजा को अपने देश ले गये और वहाँ उन्होंने उसका वध कर डाला। जिस स्थान पर काकवर्ण का वध हुआ, उसे नगर बताया गया है। यह नगर[8] काबुल नदी के दक्षिण तट पर जलालाबाद के समीप ही ग्रीक राज

---

१. इण्डियन कलचर भाग १, पृ० १६।
२. पाली संज्ञाकोष भाग २, पृ० १२६६।
३. महावंश ४-६।
४. दीपवंश ५-१८।
५. विष्णुपुराण ४-२४-३।
६. हर्षचरित—षष्ठोच्छ्वास तथा शंकर टीका।
७. प्राच्य देश के लोगों ने ग्रीस देश-वासियों के विषय में प्रधानता आयोनियन व्यापारियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जो एशिया माइनर के तट पर बस गये थे। ग्रीक के लिए हिब्रू में (जेनेसिस १०-२) जवन शब्द संस्कृत का यवन और प्राचीन फारसी का यौना है। यह उस काल का द्योतक है जब दिग्गामा का एक ग्रीक अक्षर प्रयोग होता था। दिग्गामा का प्रयोग ख्रिष्ट पूर्व ८८० में ही लुप्त हो चुका था। प्राकृत योन, यवन से नहीं बना है। यह दूसरे शब्द (ION) का रूपान्तर है। यह एक द्वीप का नाम है जो आयोलोब क्रेयुसा के पुत्र के नाम पर पड़ा। एच० जी० राविलसन का भारत और पश्चिमी दुनिया का सम्बन्ध, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२६, पृ० २०।
८. नन्दलाल दे, पृ० १२५।

की राजधानी था। इस नगर का उल्लेख एक खरोष्ठी अभिलेख[1] में पाया जाता है।

काकवर्ण को गांधार देश जीतने में अधिक कठिनाई न हुई। अतः उसका राज्य मगध से काबुल नदी तक फैल गया। किन्तु, काकवर्ण की नृशंस हत्या के बाद क्षेमधर्म के निर्बल राजत्व में मगध साम्राज्य संकुचित हो गया और बिम्बिसार के कालतक मगध अपना पूर्व प्रभुत्व स्थापित न कर सका और बिम्बिसार भी पंजाब को अधिकृत न कर सका।

ब्रह्माण्ड[2] पुराण में काकवर्ण राजा का उल्लेख है, जिसने कीकट में राज्य किया। वह प्रजा का अत्यन्त हितचिंतक था तथा ब्राह्मणों का विद्वेषी भी। मरने के समय उसे अपने राज्य तथा अवयस्क पुत्रों की घोर चिंता थी। अतः उसने अपने एक मित्र को अपने छोटे पुत्रों का संरक्षक नियत किया। दिनेशचन्द्र सरकार[3] के मत में काकवर्ण को लेखक नें भूल से काककर्ण लिख दिया है। भण्डारकर काकवर्ण को कालाशोक बतलाते हैं। किन्तु, यह मानने में कठिनाई है; क्योंकि बौद्धों का कालाशोक सचमुच नन्दिवर्धन है। वायु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड के अनुसार इसने ३६ वर्ष राज्य किया; किन्तु, मत्स्य के एक प्राचीन पाठ में इसका राज्य २६ वर्ष बताया गया है, जिसे जायसवाल स्वीकार करते हैं। इसने क० सं० २४१३ से २४३८ तक राज्य किया। पुराणों में कार्ष्णिवर्ण, शकवर्ण और सवर्ण इसके नाम के विभिन्न रूप पाये जाते हैं।

३. क्षेमधर्मन्

बौद्ध साहित्य से भी पौराणिक परम्परा की पुष्टि होती है। अतः क्षेमधर्मा को पुराणों के काकवर्ण का उत्तराधिकारी मानना असंगत न होगा। कलियुग-राज-वृतान्त में इसे क्षेमक कहा गया है तथा इसका राज्य काल २६ वर्ष बताया गया है। वायु और ब्रह्माण्ड इसका राज्य काल २० ही वर्ष बतलाते हैं, जिसे जायसवाल ने स्वीकार किया है; किन्तु मत्स्यपुराण में इसका राज्य काल ४० वर्ष बताया गया है, जिसे पार्जिटर स्वीकार करता है। इसे पुराणों में क्षेमधन्वा और क्षेमवर्मा कहा गया है।

४. क्षेमवित्

तारानाथ[4] इसे 'क्षेम देखनेवाला' क्षेमदर्शी कहता है, जो पुराणों का क्षेमवित् 'क्षेमजानने वाला' हो सकता है और बौद्ध लेखक भी इसे इसी नाम से जानते हैं। इसे क्षेमधर्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया गया है। (तुलना करें—क्षेत्रधर्मज)। इसे क्षेत्रज्ञ, क्षेमार्चि, क्षेमजित्,

---

१. कारपस इंसक्रिपसनम् इनडिकेरम् भाग २, अंश १, पृष्ठ ४५ और ४८, मथुरा का सिंहध्वज अभिलेख।

२. मध्यखण्ड २१-२०-२८।

३. इण्डियन कलचर, भाग ७ पृ० २५५।

४. तारानाथ धीरता से अपने स्रोत का उल्लेख कर अपनी ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय देता है। इसकी राजवंशावली पूर्ण है तथा इसमें अनेक नाम पाये जाते हैं जो अन्य आधारों से स्पष्ट नहीं हैं। यह बुद्ध धर्म का इतिहास है और जो वि० सं० १६६० में लिखा गया था। देखें इण्डियन एंटिक्वेरी, १८७५ पृ० १०१ और ३६१।

तथा चत्रौज भी कहा गया है। (डी) मत्स्यपुराण इसका काल २४ वर्ष बतलाता है। किन्तु सभी पुराणों में इसका राज्य काल ४० वर्ष बतलाया गया है। विनयपिटक की गिलगिट हस्तलिपि के अनुसार[1] इसका अन्य नाम महापद्म तथा इसकी रानी का नाम बिम्बा था। अतः इसके पुत्र का नाम बिम्बिसार हुआ।

५. बिम्बिसार

बिम्बिसार का जन्म क० सं० २४८३ में हुआ। वह १६ वर्ष की अवस्था में क० सं० २४९९ में गद्दी पर बैठा। कलि-संवत् २५१४ में इसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि बिम्बिसार क्षेमवित् का पुत्र था; क्योंकि सिंहल परम्परा में इसके पिता का नाम भट्टि बताया गया है। तिब्बती परम्परा में इसके पिता को महापदुम और माता को बिम्बि बताया गया है। गद्दी पर बैठने के पहले इसे राजगृह के एक गृहस्थ के उद्यान का बड़ा चाव था। इस कुमार ने राजा[2] होने पर इसे अपने अधिकार में ले लिया।

उस काल के राजनीतिक क्षेत्र में चार प्रधान राज्य भारत में थे। कोसल, वत्स, अवंती तथा मगध, जिनका शासन प्रसेनजित्, उदयन, चण्ड-प्रद्योत और बिम्बिसार करते थे। बिम्बिसार ही मगध साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था और इसने अपनी शक्ति को और भी दृढ करने के लिए पार्श्ववर्ती राजाओं से वैवाहिक[3] सम्बन्ध कर लिया। प्रसेनजित् की बहन कोसलदेवी का इसने पाणिग्रहण किया और इस विवाह से बिम्बिसार को काशी का प्रदेश मिला जिससे एक लाख मुद्रा की आय कोसलदेवी को स्नानार्थ दी गई। शैशुनागों ने काशी की रक्षा के लिए घोर यत्न किया। किन्तु, तो भी क्षेमवित् के दुर्बल राज्य काल में कोसल के इक्ष्वाकुवंशियों ने काशी को अपने अधिकार में कर ही लिया। विवाह में दहेज के रूप में ही वाराणसी मिली। यह राजनीतिक चाल थी। इसने गोपाल की भ्रातृजा वासवी, चेटक राज की कन्या चेल्लना और वैशाली की नर्तकी अम्बपाली का भी पाणिपीडन किया। अम्बपाली की कुक्षि से ही अभय उत्पन्न हुआ। इन विवाहों के कारण मगध को उत्तर एवं पश्चिम में बढ़ने का खूब अवसर मिला। इसने अपना ध्यान पूर्व में अंग की ओर बढ़ाया और छोटानागपुर के नागराजाओं की सहायता से अंग को भी अपने राज्य में मिला लिया। छोटानागपुर के राजा से भी संधि हो गई। इस प्रकार उसके राज्य की सीमा बंगोपसागर से काशी तथा कर्कखण्ड से गंगा के दक्षिण तट तक फैल गई।

परिवार

बौद्धों के अनुसार अजातशत्रु की माता कोसल देवी बिम्बिसार की पटमहिषी थी। किन्तु, जैनों के अनुसार यह श्रेय कोणिक की माता चेल्लना को है, जो चेटक की कन्या थी। इतिहासकार कोणिक एवं अजातशत्रु को एक ही मानते हैं। जब अजातशत्रु माता के गर्भ में था तब कोसल राजपुत्री के मन में अपने पति राजा बिम्बिसार की जांघ का खून पीने की लालसा

१. राकहिल पृ० ४२।

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९३८ पृ० ४१२ एसे आन गुणाढ्य पृ० १७१ देखें।

३. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ८।

४. थुसजातक।

हुई। राजा ने इस बात को सुनकर लक्षणज्ञों से इसका अर्थ पूछा। तब पता चला कि देवी की कोख में जो प्राणी है, वह तुम्हें मारकर राज्य लेगा। राजा ने कहा—यदि मेरा पुत्र मुझे मारकर राज्य लेगा तो इसमें क्या दोष है?[1] उसने दाहिनी जाँघ को शस्त्र से फाड़, सोने के कटोरे में खून लेकर देवी को पिलवाया। देवी ने सोचा—यदि मेरे पुत्र ने मेरे प्यारेपति का बध किया तो मुझे ऐसे पुत्र से क्या लाभ? उसने गर्भपात करवाना चाहा। राजा ने देवी से कहा—भद्रे! मेरा पुत्र मुझे मारकर राज्य लेगा। मैं अजर अमर तो हूँ नहीं। मुझे पुत्र मुख देखने दो। फिर भी वह उद्यान में जाकर कोख मलवाने के लिए तैयार हो गई। राजा को मालूम हुआ तो उसने उद्यान जाना रोकवा दिया। यथा समय देवी ने पुत्र जन्म दिया। नामकरण के दिन अजात होने पर भी पिता के प्रति शत्रुता रखने के कारण उसका नाम अजातशत्रु ही रक्खा गया।

बिम्बिसार की दूसरी रानी क्षेमा मद्रराज की दुहिता थी। क्षेमा को अपने रूप का इतना गर्व था कि वह बुद्ध के पास जाने में हिचकिचाती थी कि कहीं बुद्ध हमारे रूप की निन्दा न कर दें। आखिर वह बिल्ववन[2] में बुद्ध से मिली और भिक्षुकी हो गई।

बिम्बिसार उज्जयिनी से भी पद्मावती नामक एक सुन्दरी वेश्या को ले आया। चेल्लना के तीन पुत्र थे—कोणक, हल्ल, वेहल्ल। बिम्बिसार के अन्य पुत्रों के नाम हैं—अभय, नन्दिसेन, मेघकुमार, विमल, कोदन्न, सिलव, जयसेन और चुण्ड। चुण्डी उसकी एक कन्या थी, जिसे उसने दहेज में ५०० रथ दिये थे।

बुद्धभक्ति

राजा बिम्बिसार बुद्ध को अपना राज्य दान देना चाहता था; किन्तु बुद्ध ने उसे अस्वीकार कर दिया। जब ज्ञान-प्राप्ति के बाद बुद्ध राजगृह गये, तब बिबिम्सार १२ नहुत[3] गृहस्थों के साथ बुद्ध के अभिनन्दन के लिए गया। बिम्बिसार ने इस काल से लेकर जीवन पर्यन्त बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए तन-मन-धन से सेवा की। प्रतिमास[4] छः दिन विषय-भोग से मुक्त रहकर अपनी प्रजा को भी ऐसा ही करने का उपदेश देता था।

बुद्ध के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा थी। जब बुद्ध वैशाली जाने लगे, तब राजा ने राजगृह से गंगातट तक सड़क की अच्छी तरह मरम्मत करवा दी। प्रतियोजन पर उसने आरामगृह बनवाया। सारे मार्ग में घुटने तक रंग-विरंगे फूलों को बिछवा दिया। राजा स्वयं बुद्ध के साथ चले; जिससे मार्ग में कष्ट न हो और ग्रीवा जल तक नाव पर बुद्ध को बिठाकर विदा किया। बुद्ध के चले जाने पर राजा ने उनके प्रत्यागमन की प्रतिक्षा में गंगा तट पर खेमा डाल दिया। फिर उसी ठाट के साथ बुद्ध के साथ वे राजगृह को लौट गये।

---

१. दिव्यावदान पृ० ५४६।
२. अनेक विद्वानों ने वेलुवन को बाँस का कुंज समझा है; किन्तु चाइल्डर्स के पाली शब्द कोष के अनुसार बेलुआ या बेलु का संस्कृत रूप विल्व है। विल्व वृक्ष की सुगन्ध और सुवास तथा चन्दन-आक्षेप का शारीरिक आनन्द सर्वविदित है।
३. महानारद कस्सप जातक (संख्या ५४४) एक पर २८ शून्य रखने से एक नहुत होता है। यहाँ राजा स्वयं प्रधान था तथा २८ गृहस्थ अनुयायी उसके सामने लुप्त प्राय हो जाते थे; अतः वे शून्य के समान माने गये हैं। अतः राजा के साथ ३३६ व्यक्ति गये थे। (१२ + २८)।
४. विनय पिटक पृ० ७५ (राहुल संस्करण), तुलना करें—मनु० ४-१२८।

श्रेणिक (बिम्बिसार) जैन धर्म का भी उतना ही भक्त था। यह महान् राजाओं का चिह्न है कि उनका अपना कोई धर्म नहीं होता। वे अपने राज्य के सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों को एक दृष्टि से देखते हैं और सभी का संरक्षण करते हैं। एक बार जब कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी तब श्रेणिक चेलना के साथ महावीर[१] की पूजा के लिए गया। इसके कुछ पुत्रों (नन्दिसेन, मेघकुमार इत्यादि) ने जैन-धर्म की दीक्षा भी ली।

समृद्धि

उसके राज्य का विस्तार ३०० योजन था और इसमें ८०,००० ग्राम थे जिनके ग्रामीक (मुखिया) महती सभा में एकत्र होते थे। उसके राज्य में पाँच असंख्य धनवाले व्यक्ति (अमितभोग) थे। प्रसेनजित् के राज्य में ऐसा एक भी व्यक्ति न था। अतः प्रसेनजित् की प्रार्थना पर बिम्बिसार ने अपने यहाँ से एक मेण्डक के पुत्र धनंजय को कोसलदेश[२] में भेज दिया। बिम्बिसार अन्य राजाओं से भी मैत्री रखता था। यथा—तक्षशिला के पुक्कसति (पक्वशक्ति) उज्जयिनी के पज्जोत एवं रोरुक के रुद्रायण से। शोणकोलिविष और कोलिय इसके मंत्री थे तथा कुम्भघोष इसके कोषाध्यक्ष। जीवक इसका राजवैद्य था जिसने राजा के नासूर रोग को शीघ्र ही अच्छा कर दिया।

इसे पण्डरकेतु भी कहा गया है; अतः इसका झंडा (पताका) श्वेत था, जिसपर सिंह का लांछन था हर्यङ्क[३]—(जिसे तिब्बती भाषा में 'सेनगेसमीपाई' कहा गया है)। जहाँ-तहाँ इसे सेनीय बिम्बिसार कहा गया है। सेनीय का अर्थ होता है—जिसके बहुत अनुयायी हों या सेनीय गोत्र हो। बिम्बिसार का अर्थ होता है—सुनहले रंग का। यदि सेनीय का शुद्ध रूपान्तर श्रेणिक[४] माना जाय तो श्रेणिक बिम्बिसार का अर्थ होगा—सैनिक राजा बिम्बिसार। इस काल में राजगृह में कार्षापण सिक्का था। इसने सभी भिक्षुकों और संन्यासियों को निःशुल्क ही नदियों को पार करने का आदेश[५] दे रक्खा था। इसकी भी उपाधि[६] देवानुप्रिय थी।

दुःखद अन्त

राजा को सिलव अधिक प्रिय था। अतः राजा उसे युवराज बनाना चाहता था। किन्तु राजा का यह मनोरथ पूरा न हो सका। सिलव का वध होने को था ही कि मोग्गलान ने पहुँचकर उसकी रक्षा कर दी और वह भिक्षुक हो गया। किन्तु यह सचमुच घृणित बहुविवाह, वैध वेश्यावृत्ति और लंपटता का अभिशाप था, जिसके कारण उसपर ये सारी आपत्तियाँ आईं।

संभवतः राजा के बूढ़े होने पर उत्तराधिकार के लिए पुत्रों में वैमनस्य छिड़ गया, जैसा कि शाहजहाँ के पुत्रों के बीच छिड़ा था। इस युद्ध में देवदत्त इत्यादि की सहायता से अजातशत्रु ने सबों को परास्त कर दिया। देवदत्त ने अजातशत्रु से कहा—'महाराज! पूर्व काल में लोग दीर्घजीवी हुआ करते थे; किन्तु अब उनका जीवन अल्प होता है। संभव है कि तुम

१. त्रिशष्टिशलाकाचरित—पर्व ६।
२. विनयपिटक पृ० २४७।
३. बुद्ध-चरित ११-२।
४. दिव्यावदान पृ० १४६।
५. वहीं १२-१००।
६. इण्डियन ऐंटिक्वेरी १८८१, पृ० १०८, औपपत्तिक सूत्र।

आजीवन राजकुमार ही रह जाओ और गद्दी पर बैठने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त न हो। अतः अपने पिता का वध करके राजा बनो और मैं भगवान बुद्ध का वध करके बुद्ध बन जाता हूँ।' संभवतः इस उत्तराधिकार युद्ध में अजातशत्रु का पल्ला भारी रहा और बिम्बिसार ने अजातशत्रु के पक्ष में गद्दी छोड़ दी। फिर भी देवदत्त ने अजातशत्रु को फटकारा और कहा कि तुम मूर्ख हो, तुम ऐसा ही काम करते हो जैसे ढोलक में चूहा रख के ऊपर से चमड़ा मढ़ दिया जाता है। देवदत्त ने बिम्बिसार की हत्या करने को अजातशत्रु को प्रोत्साहित किया।

जिस प्रकार औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को मारने का यत्न किया था, उसी प्रकार अजातशत्रु ने भी अपने पिता को दाने-दाने के लिए तरसाकर मारने का निश्चय किया। बिम्बिसार को तप्त गृह में बन्दी कर दिया गया और अजातशत्रु की माँ को छोड़कर और सबको बिम्बिसार के पास जाने से मना कर दिया गया। इस भारतीय नारी ने अपने ६७ वर्षीय वृद्ध पति की निरंतर सेवा की जिस प्रकार 'जहानारा' अपने पिता की सेवा यमुना तट के दुर्ग में करती थी। स्वयं भूखी रहकर यह अपने पति को बंदी गृह में खिलाती थी; किन्तु अन्त में इसे अपने पति के पास जाने से रोक दिया गया।

तब बिम्बिसार ध्यानावस्थित चित्त से अपने कमरे में भ्रमण करके समय व्यतीत करने लगा। अजातशत्रु ने नापितों को बिम्बिसार के पास भेजा कि जाकर उसका पैर चीर दो, घाव में नमक और नीबू डालो और फिर उसपर तप्त अंगार रखो। बिम्बिसार ने चूँ तक भी न की। नापितों ने मनमानी की और तब वह शीघ्र ही चल बसा[२]।

जैन परम्परा[३] में दोष को न्यून बताने का प्रयत्न किया गया है; किन्तु मूल घटना में अन्तर नहीं पड़ता कि पुत्र ही पिता की हत्या का कारण था। बिम्बिसार की मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद अजातशत्रु की माता भी मर गई और उसके बाद कोसल से फिर युद्ध छिड़ गया।

राज्यवर्ष

मत्स्य पुराण इसका राजकाल २८ वर्ष बतलाता है और शेष २३ वर्ष बिम्बिसार और अजातशत्रु के मध्य काण्वायनवंश के दो राजाओं को घुसेड़ कर ९ वर्ष कण्वायन और १४ वर्ष भूमिमित्र के लिए बताया गया है। मत्स्य पुराण की कई प्रतियों में बिम्बिसार के ठीक पूर्व २४ वर्ष की संख्या भी संभवतः इसी भ्रम के कारण है। (२८ + २४) = ५२ वर्ष।

पाली[४] साहित्य में बिम्बिसार का जो राज्य-काल दिया है, वह वर्ष संख्या हमें केवल मत्स्यपुराण के ही आधार पर मिलती है और इसी से हमें पूरे वंश की भुक्त-वर्षसंख्या ३६२ प्राप्त होती है। पुराणों में इसे विधिसार, विन्दुसार तथा विन्ध्य सेन भी कहा गया है।

६. अजातशत्रु

अजातशत्रु ने बुद्ध की भी हत्या करवाने के प्रयास में बुद्ध के अग्र शिष्य[५] और कट्टर शत्रु देवदत्त की बहुविधि सहायता की। किन्तु, अंत में अजातशत्रु को पश्चात्ताप हुआ, उसने

---

१. सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट भाग २० पृ० २४१।

२. राकहिल, पृ० ९०-९१।

३. सी० जे० शाह का हिस्ट्री आफ जैनिज्म।

४. महावंश २, २५।

५. खण्डहाल जातक (५४२)।

अपनी भूलें स्वीकार कीं तथा क० सं० २५५४ में उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली। अब से वह बौद्ध धर्म का पक्का समर्थक बन गया। जब बुद्ध का निर्वाण[1] क० सं० २५५८ में हो गया, तब अजातशत्रु के मंत्रियों ने यह दुःखद समाचार राजा को शीघ्र न सुनाया; क्योंकि हो सकता था कि इस दुःखद संवाद से उसके हृदय पर महान् आघात पहुँचता और वह मर जाता। पीछे, इस संवाद को सुनकर उसे बड़ा खेद हुआ और उसने अपने दूतों को बुद्ध के भग्नावशेष का भाग लेने को भेजा। निर्वाण के दो मास बाद ही राज-संरक्षण मे बौद्ध धर्म की प्रथम परिषद् हुई, जिसमें सम्मिलित भिक्षुओं की अजातशत्रु ने यथाशक्ति सहायता और सेवा की।

प्रसेनजित् राजा के पिता महाकोशल ने बिम्बिसार राजा को अपनी कन्या कोसल देवी ब्याहने के समय उसके स्नानचूर्ण के मूल्य में उसे काशी गाँव दिया था। अजातशत्रु के पिता की हत्या करने पर कोसल देवी भी शोकाभिभूत होकर मर गई। तब प्रसेनजित ने सोचा—मैं इस पितृ-घातक को काशी गाँव नहीं दूँगा। उस गाँव के कारण उन दोनों का समय-समय पर युद्ध होता रहा। अजाशत्रु तरुण था, प्रसेनजित था बढ़ा।

अजातशत्रु को पकड़ने के लिए प्रसेनजित् ने पर्वत के अंचल में दो पर्वतों की ओट में मनुष्यों को छिपा आगे दुर्बल सेना दिखाई। फिर शत्रु को पर्वत में पा प्रवेश मार्ग को बन्द कर दिया। इस प्रकार आगे और पीछे दोनों ओर पर्वत की ओट से कूदकर शोर मचाते हुए उसे घेर लिया जैसे जाल में मछली। प्रसेनजित ने इस प्रकार का शकटव्यूह बना अजातशत्रु को बन्दी किया और पुनः अपनी कन्या वजिर कुमारी को भांजे से ब्याह दिया और स्नानमूल्य स्वरूप पुनः काशी गाँव देकर बिदा किया[2]।

बुद्ध की मृत्यु के एक वर्ष पूर्व अजातशत्रु ने अपने मंत्री वस्सकार को बुद्ध के पास भेजा कि लिच्छवियों पर आक्रमण करने में मुझे कहाँ तक सफलता मिलेगी। लिच्छवियों के विनाश का कारण (क० सं० २५७६ में) वर्षकार ही था।

धम्मपद टीका[3] के अनुसार अजातशत्रु ने ५०० निगन्थों को दुर्ग के आँगन में कमर भर गढ़े खोदकर गड़वा दिया और सब के सिर उतरवा दिये; क्योंकि इन्होंने मोगल्लान की हत्या के लिए लोगों को उकसाया था।

स्मिथ[4] का मत है कि अजातशत्रु ने अपनी विजयसेना प्राकृतिक सीमा हिमाचल की तराई तक पहुँचाई और इस काल से गंगा नदी से लेकर हिमालय तक का सारा भाग मगध के अधीन हो गया। किन्तु, मंजुश्री मूल कल्प[5] के अनुसार वह अंग और मगध का राजा था और उसका राज्य वाराणसी से वैशाली तक फैला हुआ था।

---

१. बुद्ध निर्वाण के विभिन्न ४८ तिथियों के विषय में देखें, हिंदुस्तानी १९४८ पृ० ४३-५९।

२. बढ़की सूकर जातक देखें। व्यूह तीन प्रकार के होते हैं—पद्मव्यूह, चक्रव्यूह, शकटव्यूह।

३. धम्मपद ३,६६, पालीशब्द कोष 1,३५।

४. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० ३७।

५. जायसवाल का इम्पीरियल हिस्ट्री पृ० १०।

मूर्त्ति

पटने की दो मूर्त्तियाँ जो आजकल कलकत्ते के भारतीय प्रदर्शन-गृह में हैं तथा मथुरा पुरातत्त्व प्रदर्शन की पारखम मूर्त्ति, यक्षों की है (जैसा कि पूर्व पुरातत्त्ववेत्ता मानते थे) या शिशु नागवंशी राजाओं की है, इस विषय में बहुत मतभेद है। लोगों ने दूसरे मत का इस आधार पर खंडन किया है कि इन मूर्त्तियों पर राजाओं के नाम नहीं पाये जाते। अमियचन्द्र गांगुली[1] का मत है कि ये मूर्त्तियाँ पूर्वदेश के प्रिय मणिभद्र यक्ष से इतनी मिलती-जुलती है कि यक्षों के सिवा राजाओं की मूर्त्ति हो ही नहीं सकतीं। जायसवाल के मत में इनके अक्षर अतिप्राचीन हैं तथा अशोक कालीन अक्षरों से इनमें विचित्र विभिन्नता है। अपितु पारखम मूर्त्ति के अभिलेख में एक शिशुनाग राजा का नाम पाया जाता है, जिसके दो नाम कुणिक और अजातशत्रु इसपर उत्कीर्ण हैं। अतः यह राजा की प्रतिमूर्त्ति है जो राजमूर्त्तिशाला में संग्रह के लिए बनाई गई थी। जायसवाल के पाठ और व्याख्या को सैद्धान्तिक रूप में हरप्रसाद शास्त्री, गौरीशंकर हीराचंद ओझा तथा राखालदास बनर्जी इत्यादि धुरंधरों ने स्वीकार किया। आधुनिक भारतीय इतिहास के जन्मदाता विंसेंट आर्थर स्मिथ ने इस गहन विषय पर जायसवाल से एकमत प्रकट किया। स्मिथ के विचार में ये मूर्त्तियाँ प्राङ्मौर्य हैं तथा संभवतः वि० पू० ३५० के बाद की नहीं है, तथा इनके उत्कीर्ण अभिलेख उसी काल के हैं जब ये मूर्त्तियाँ बनी थीं। किन्तु, वारनेट, रामप्रसाद चन्दा[2] का मत इस सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। विभिन्न विद्वानों के प्राप्त विभिन्न पाठों से कोई अर्थ नहीं निकलता, किन्तु, जायसवाल का पाठ अत्यन्त सुखद है और इससे हमें शिशुनागवंश के इतिहास के पुनःनिर्माण में बड़ी सहायता मिलती है। हेमचन्द्र राय चौधरी के मत में इस प्रश्न को अभी पूर्णरूप से सुलझा हुआ नहीं समझना चाहिए। अभी तक जो परम्परा चली आ रही है कि ये मूर्त्तियाँ यक्षों की हैं, उसमें शंका यह है कि हमें इसका ज्ञान नहीं है कि ये यक्ष कौन थे, यद्यपि मंजुश्रीमूलकल्प कनिष्क और उसके वंशजों को यक्ष बतलाता है। किन्तु यह वंश प्रथम शती विक्रम में हुआ और इन मूर्त्तियों पर उत्कीर्ण अक्षर और उनके पालिश से स्पष्ट है कि ये मूर्त्तियाँ प्राङ्मौर्य काल की हैं।

जायसवाल[3] के अनुसार अजातशत्रु की इस मूर्त्ति पर निम्नलिखित पाठ[4] उत्कीर्ण हैं। निभद प्रसेनि अजा (ा) सत्तु रा जो (सि) (ि) र कुनिक से वसि नगो मगध मामू राज ४ २० (थ) १० (द) ८ (हिया हि)।

इसका अर्थ होता है निभृत प्रयेनि अजातशत्रु राजा श्री कुणिक सेवसिनाग मगधानां राजा २४ (वर्ष) ८ मास १० दिन (राज्यकाल)।

---

१. माडर्न रिव्यू, अक्टूबर, १९१९।

२. जर्नल डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स भाग ४, पृ० ४७—८४ 'चार प्राचीन यक्षमूर्त्तियाँ।

३. ज० वि० उ० रि० सो० भाग ५ पृ० १७३ आजातशत्रु कुणिक की मूर्त्ति।

४. वागेल के अनुसार इसका पाठ इस प्रकार है। (नि) भदुपुगरिन (क) ग अथ···पि कुनि (क) ते वासिना (गो मित केन) कता।
स्टेन कोनो पढ़ता है—
ओं भद पुग रिका ग रज अथ हेते वा नि ना गोमतकेन कता।

स्वर्गवासी श्रेणिक का वंशज राजा अजातशत्रु श्री कुणिक मगध-वासियों का सेवसिनागवंशी राजा जिसने २० वर्ष ८ मास १० दिन राज्य किया।

यदि हम इस अभिलेख में बुद्ध संवत् मानें तो यह प्रतीत होता है कि अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध का असीम भक्त होने के कारण इस मूर्त्ति को अपनी मृत्यु के कुछ वर्ष पहले ही बनवाकर तैयार करवाया और उपर्युक्त अभिलेख भी उसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही उत्कीर्ण हुआ। क० सं० (२५५८ + २४) २५८२ का यह अभिलेख हो सकता है, यदि हम बुद्धनिर्वाण में २४ वर्ष जोड़ दें। और २५८२ में अजातशत्रु का राज्य समाप्त हो गया। अतः हम कह सकते हैं कि उत्कीर्ण होने के बाद क० सं० २५८३ में यह मूर्त्ति राजमूर्त्तिशाला में भेज दी गई। संभवतः कनिष्क के काल में यह मूर्त्ति मथुरा पहुँची; क्योंकि कनिष्क[1] अपने साथ अनेक उपहार मगध से ले गया था।

राज्यकाल

ब्रह्माण्ड और वायुपुराण के अनुसार अजातशत्रु ने २५ वर्ष राज्य किया जिसे पार्जिटर स्वीकार करता है।

मत्स्य, महावंश और बर्मी परम्परा के अनुसार इसने क्रमशः २७,३२ और ८५ वर्ष राज्य किया। जायसवाल ब्रह्माण्ड के आधार पर इसका राज्य वर्ष ३५ वर्ष मानते हैं; किन्तु हमें उनके ज्ञान के स्रोत का पता नहीं। हस्तलिखित प्रति या किस पुराण संस्करण में उन्हें यह पाठ मिला ? किन्तु, पार्जिटर द्वारा प्रस्तुत कलिपाठ में उल्लिखित किसी भी हस्तलिपि या पुराण में यह पाठ नहीं मिलता। अजातशत्रु ने ३२ वर्ष राज्य किया; क्योंकि बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के आठवें वर्ष में हुआ और अजातशत्रु ने अपनी मूर्त्ति बुद्धनिर्वाण के २४वें वर्ष में बनवाई और शीघ्र ही उसकी मृत्यु के बाद उसपर अभिलेख भी उत्कीर्ण हुआ। इसने क० सं० २५५० से २५८२ तक राज्य किया।

आर्यमंजुश्री मूलकल्प[2] के अनुसार अजातशत्रु की मृत्यु अर्द्धरात्रि में गात्रज रोग (फोड़ों) के कारण २६ दिन बीमार होने के बाद हुई। महावंश भ्रम से कहता है कि इसके पुत्र ने इसका वध किया।

७. दर्शक

सीतानाथ प्रधान दर्शक को छाँट देते हैं; क्योंकि बौद्ध और जैन परम्परा के अनुसार अजातशत्रु का पुत्र तथा उत्तराधिकारी उदयी था न कि दर्शक। किन्तु, दर्शक का वास्तविक अस्तित्व भास के (विक्रम पूर्व चौथी शती) स्वप्नवासवदत्तम् से सिद्ध है। जायसवाल के मत में पाली नाग दासक ही पुराणों का दर्शक है। विनयपिटक का प्रधान दर्शक दक्षिण बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है और यह अपने नाम के अनुरूप राजा दासक का समकालीन है। इस भ्रम से दूर रहने के लिए प्राचीन लेखकों ने राजाओं को विभिन्न बताने के लिए उनका वंश नाम भी इन राजाओं के नाम के साथ जोड़ना आरम्भ किया और इसे शिशुनागवंशी नागदासक कहने लगे। तारानाथ की वंशावली में यही दर्शक अजातशत्रु का पुत्र सुबाहु कहा गया है। इसने वायु, मत्स्य, दीपवंश और बर्मी[1] परम्परा के अनुसार क्रमशः २५,३५,२४ तथा ४ वर्ष

१. कनिष्क का काल, कलिसंवत् १७४१, अनाल्स भंडार इंस्टीटयूट देखें।
२. आर्यमंजुश्री मूलकल्प ३२७-८।

राज्य किया। सिंहल परम्परा में भूल से इस राजा को मुण्ड का पुत्र कहा गया है तथा बतलाया गया है कि जनता ने इसे गद्दी से हटाकर सुसुनाग को इसके स्थान पर राजा बनाया।

भण्डारकर[1] भी दर्शक एवं नागदासक की समता मानते हैं; किन्तु वह भास के कथानक को शंका की दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि यदि उदयन ने दर्शक की बहन पद्मावती का पाणिग्रहण किया तो उदयन अवश्य ही कम से कम ५६ वर्ष का होगा; क्योंकि उदयन अजातशत्रु का पुत्र था। किन्तु, यदि एक ६० वर्ष के बूढ़े ने १६ वर्ष की सुन्दरी से विवाह किया तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। राजा प्रसेनजित् अजातशत्रु से युद्ध करके रणभूमि से लौटता है और एक सेठ की सुन्दरी षोडशी कन्या का पाणिपीडन करता है जो स्वेच्छा से राजा की संगिनी होना चाहती थी। दर्शक अजातशत्रु का कनिष्ठ भ्राता था तथा पद्मावती दर्शक की सबसे छोटी बहन थी।

८. उदयी

महावंश के अनुसार अजातशत्रु की हत्या उसके पुत्र उदयिभद्र ने की। किन्तु स्थविरावली चरित कहता है कि अपने पिता अजातशत्रु की मृत्यु के बाद उदयी को घोर पश्चात्ताप हुआ। इसलिए उसने अपनी राजधानी चम्पा से पाटलिपुत्र को बदल दी। अजातशत्रु से लेकर नागदासक तक पितृहत्या की कथा केवल अजातशत्रु के दोष को पहाड़ बनाती है। किन्तु, स्मिथ पार्थिया के इतिहास का उदाहरण देता है जहाँ तीन राजकुमारों ने गद्दी पर बैठकर एक दूसरे के बाद अपने-अपने पिता की हत्या की है, यथा—ओरोडस, फ्राटस चतुर्थ तथा फ्राटस पंचम।

अजातशत्रु के बाद उदयी गद्दी पर न बैठा। अतः उदयी के लिए अपने पिता अजातशत्रु का वध करना असंभव है। गर्गसंहिता में इसे धर्मात्मा कहा गया है। वायुपुराण की पुष्टि जैन परम्परा से भी होती है जहाँ कहा गया है कि उदयी ने अपने राजकाल के चतुर्थ वर्ष में क० सं० २६२० में पाटलीपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। राज्य के विस्तार हो जाने पर पाटलिपुत्र ऐसे स्थान को राज्य के केन्द्र के लिए चुनना आवश्यक था। अपितु पाटलिपुत्र गंगा और शोण के संगम पर होने के कारण व्यापार का विशाल केन्द्र हो गया था तथा इसकी महत्ता युद्ध कौशल की दृष्टि से भी कम न थी; क्योंकि पाटलिपुत्र को अधिकृत करने के बाद सारे राज्य को हड़प लेना सरल था। इस राजा को एक राजकुमार ने भिक्षुक का वेष धारण करके वध कर दिया; क्योंकि उदयी ने उस राजकुमार के पिता को राजच्युत किया था। वायु, ब्रह्म और मत्स्यपुराण के अनुसार इसने ३३ वर्ष राज्य किया। बौद्ध साहित्य में इसे उदयिभद्र कहा गया है और राजकाल १६ वर्ष बताया गया है। अनिरुद्ध और मुण्ड दो राजाओं का काल उदयी के राजकाल में सम्मिलित है। क्योंकि पुराणों में इसका राज वर्ष ३३ वर्ष

---

१. कारमाइकल लेक्चर्स, पृ० ६६-७०।
२. जातक ३-४०५—६।
३. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (चतुर्थ संस्करण) पृ० ३६ टिप्पणी २।

तथा पाली साहित्य में १६ वर्ष ही है। ३३ वर्ष राजवर्ष संख्या का विवरण इस प्रकार है।

उदयी	१६ वर्ष
अनिरुद्ध	६ ,,
मुरण्ड	८ ,,
	कुल ३३ वर्ष

बौद्ध-धर्म के प्रति इसकी प्रवणता थी और इसने बुद्ध की शिक्षाओं को लेखबद्ध[1] करवाया।

मूर्त्ति

राजा उदयी की इस मूर्त्ति से शान्ति, सौम्यता एवं विशालता अब भी टपकती है और यह प्राचीन भारतीय कला के उच्च आदर्शों में स्थान[2] पा सकती है। विद्वज्जगत् स्वर्गीय काशी-प्रसाद जायसवाल का चिर ऋणी रहेगा; क्योंकि इन्होंने ही इस मूर्त्ति की ठीक पहचान[3] की जो इतने दिनों तक अज्ञात अवस्था में पड़ी थी।

ये तीनों मूर्त्तियाँ[4] एक ही प्रकार की हैं, सुचारु बनी हैं तथा साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा लम्बी हैं। ये प्रायः सजीव मालूम होती हैं। केवल देवमूर्त्ति की तरह आदर्श रूपिणी नहीं। अतः ये यक्ष की मूर्त्तियाँ नहीं हो सकतीं। कालान्तर में लोग इसका ज्ञान भूल गये तो भ्रम से इन्हें यक्ष मूर्त्ति मानने लगे। कम-से-कम एक को लोगों ने इतिहास में नन्दिवर्द्धन के नाम से स्मरण रखा, यद्यपि यक्ष सूची में इस नाम का कोई यक्ष नहीं मिलता।

जायसवाल का पाठ[5] इस प्रकार है—

भगे अचो छोनीधीशे

(भगवान अज क्षोणी अधीश) पृथ्वी के स्वामी राजा अज या अजातशत्रु।

स्थपति शास्त्र-विदों के अनुसार राजा उदयी की दो ठुड्डियाँ थीं। वह बालों को ऊपर चढ़ाकर सँवारता था और दाढ़ी-मूँछ सफाचट रखता था। मूर्त्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि वह छः फीट लम्बा था। पुराणों में इसे अजक या अज भी कहा गया है। अज या उदयी दोनों का अर्थ सूर्य होता है। इस मूर्त्ति में शृंगार के प्रायः सभी चिह्न पाये जाते हैं जो कात्यायन ने व्रात्यों के लिए बतलाये[6] हैं।

१. जायसवाल का एम्पिरियल हिस्ट्री पृ० १०।

२. कनिंघम का आरकियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग ६५ पृ० २-३।

३. ज० वि० उ० रि० सो० भाग ५।

४. भारतीय मूर्त्तिकला रायकृष्णदास रचित, काशी, १९९६ वै० सं०, पृ० १४-१५।

५. वारनेट पढ़ता है। भगे अचे छनिवि के। किन्तु इसके अर्थ के विषय में मौन है। रामप्रसाद चन्दा पढ़ते हैं। भ (१) ग अच्छ निविक। इसका अर्थ करते हैं। असंख्य धन का स्वामी अर्थात् वैश्रवण या कुबेर। (देखें इण्डियन एंटिकेरी) १९१९, पृ० २८। रमेशचन्द्र मजूमदार पढ़ते हैं—गते (मखे १) लेच्छई (वि) ४०.४। (लिच्छवियों के ४४ वर्ष व्यतीत काल)। देखें इण्डियन एंटिकेरी १९१९ पृ० ३२१।

६. ज० वि० उ० रि० सो० १९१९ पृ० ५५४-५६ हरप्रसाद शास्त्री का लेख शिशुनाग मूर्त्तियाँ।

९. अनिरुद्ध

महावंश[1] के अनुसार अनिरुद्ध ने अपने पिता उदयी भद्दक का वध किया और इसका वध मुण्ड ने किया। महावंश में सुसुनाग का राजकाल १८ वर्ष बताया गया है, यद्यपि दीपवंश में १० वर्ष है। इन १८ वर्षों में अनिरुद्ध के ८ वर्ष सन्निहित है। यह अनिरुद्ध तारानाथ की वंशावली में महेन्द्र है, जिसका राजवर्ष ६ वर्ष बताया गया है।

१०. मुण्ड

अंगुत्तर निकाय में इसका राज्य पाटलिपुत्र में बताया गया है। अतः यह निश्चय पूर्वक उदयी के बाद गद्दी पर बैठा होगा। इसने पाटलिपुत्र नगर की नींव डाली। अपनी स्त्री भद्दा के मर जाने पर यह एकदम हताश हो गया और रानी का मृत शरीर इसने तैल में डुबा कर रक्खा। राजा का कोषाध्यक्ष डिंभक नारद को राजा के पास ले गया और तब इसका शोक दूर हुआ। इसे गद्दी से हटाकर लोगों ने नन्दिवर्द्धन (=कालाशोक) को गद्दी पर बिठाया; क्योंकि तारानाथ स्पष्ट कहते हैं कि चमस (=मुण्ड ?) के १२ पुत्रों को ठुकरा कर चम्पारण का कामाशोक मगध का राजा चुना गया। इसने कलि-संवत् २६४२ से क० स० २६५० तक, सिर्फ आठ वर्ष, राज्य किया।

११. नन्दिवर्द्धन

यही नन्दिवर्द्धन कालाशोक है; क्योंकि पाली साहित्य[1] के आधार पर द्वितीय बौद्ध परिषद् बुद्ध निर्वाण के १०० वर्ष बाद कालाशोक की संरक्षकता में हुई जो नन्दिवर्द्धन के राजकाल में पड़ता है। केवल तिब्बती परम्परा में ही यह परिषद् बुद्ध-निर्वाण संवत् १६० में बताई गई है। अपितु तारानाथ का कहना है कि यशः ने ७०० भिक्षुओं को वैशाली के 'कुसुमपुर' विहार में बुलाकर राजा नन्दी के संरक्षण में सभा की। पाली ग्रन्थों में राजा को कालाशोक कहा गया है तथा तारानाथ उसे नन्दी कहते हैं। संभवतः, वर्द्धन (बढ़ानेवाला) उपाधि इसे इतिहासकारों ने बाद में दी। हेमचन्द्र कहते हैं कि उदयी के बाद नन्द गद्दी पर बैठा और इसका अभिषेक महानिर्वाण के ६०वें वर्ष में हुआ। इस कारण नन्दिवर्द्धन का राज्याधिकार कलिसंवत् (२५७४ + ६०) = २६३४ में आरंभ हुआ तथा उदयी का राज्यकाल क० सं० २६३२ में समाप्त हो गया। यदि हम अनिरुद्ध और मुण्ड का अस्तित्व न मानें तो भी यह कहा जा सकता है कि नन्दिवर्द्धन महावीर-निर्वाण के लगभग ६० वर्ष बाद ही राज्य करने लगा।

यह द्वितीय परिषद् वैशाली में बुद्ध-निर्वाण के १०३ वर्ष बाद क० सं० २६६१ में हुआ जिसमें पाषण्डियों की पराजय हुई। दिव्यावदान में इसे सहलिन् (= संहारिन = नाश करनेवाला) कहा गया है। यह तारानाथ के दिये विशेषण से मिलता है; क्योंकि इसे अनेक जीवों का विनाशक बताया गया है।

काशीप्रसाद जायसवाल के मत[2] में मुण्ड और अनिरुद्ध नन्दी के बड़े भाई थे। भागवत पुराण इसे पिता के नाम पर अजेय कहता है। मत्स्य और ब्रह्माण्ड में इसकी राज्य-वर्ष-संख्या

---

१. महावंश ४-७।

२. ज० वि० उ० रि० सो० भाग १ पृ० ८८।

गोल-मटोल ४० वष दी गई है। किन्तु वायु इसका भुक्तवर्ष काल ४२ वर्ष देता है, जिसे असम संख्या होने के कारण मैं स्वीकार करने के योग्य समझता हूँ।

मूर्त्ति

इसकी मूर्त्ति पर निम्नलिखित पाठ[1] उत्कीर्ण पाया जाता है–'सप खते वट नन्दि' (सर्वक्षत्र वर्त नन्दी)—सभी क्षत्रियों में प्रमुख नन्दि। सम्राट् नन्दी उदयी की अपेक्षा कुछ लम्बा, मोटा, चौड़ा और तगड़ा था। वर्त का अर्थ लोहा भी होता है और संभव है कि यह उपाधि उसके माँ-बाप ने इसकी शारीरिक शक्ति के कारण दी हो। मूर्त्ति से ही इसकी विशाल शक्ति तथा लोहे के समान इसका शरीर स्पष्ट है।

अभिलेखों की भाषा

इन तीनों अभिलेखों की भाषा को अत्यन्त लघु होने पर भी पाली धर्मग्रन्थों की प्रचलित भाषा कह सकते हैं। अतः एक देशीय भाषा[2] ही (जिसे पाली, प्राकृत, अपभ्रंश या मागधी जो भी कहें) शिशुनाग राजाओं की राजभाषा थी न कि संस्कृत। राजशेखर[3] (नवमशती विक्रम) भी कहता है कि मगध में शिशुनामक राजा ने अपने अन्तःपुर के लिए एक नियम बनाया, जिसमें आठ अक्षर कठिन उच्चारण होने के कारण छाँट दिये गये थे। ये आठ अक्षर हैं—ट, ठ ङ, ढ, श, स, ह तथा क्ष।

---

१. राखालदास बनर्जी 'य' के बदले 'ब' पढ़ते हैं। ज० वि० उ० रि० सो० भाग ५, पृ० २११।

रामप्रसादचन्दा पढ़ते हैं यखे स (१) वतं नन्दि। इण्डियन एँटिक्वेरी, १९१९, पृ० २७।

रमेशचन्द्र मजुमदार पढ़ते हैं—यखे सं वजिनम्, ७० यक्ष की मूर्त्ति जो वज्जियों के ७० वें वर्ष में बनी।

अतः यह अभिलेख खृष्ट संवत् १८० (११० + ७०) का है। (हेम चन्द्र राय का डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नर्दर्न इण्डिया, भाग, १ पृ० १८८)। मजुमदार और चन्दा के मत में ये मूर्त्तियाँ कुषाण काल की हैं (इण्डियन एँटिक्वेरी १९०९, पृ० ३३-३६)। लिच्छवि संवत् का आरंभ खृ० सं० ११० से मानने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता; किन्तु यदि हम लिच्छवी संवत् (यदि कोई ऐसा संवत् प्रचलित था जो विवादास्पद है) लिच्छवी-विनाश-काल से क० सं० २५७६ से मानें तो कहा जा सकता है कि नन्दिवर्द्धन की मूर्त्ति क० सं० २६१६ की है तथा उदयी की मूर्त्ति क० सं० २६२० की है। इस कल्पना के अनुसार ये मूर्त्तियाँ निश्चित रूप से प्राङ्मौर्य काल की कही जा सकती हैं।

२. जर्नल अमेरिकन ओरियटल सोसायटी १९१५, पृ० ७२ हरितकृष्ण देव का लेख।

३. काव्यमीमांसा पृ० ५० (गायकवाड़ ओरियटल सीरीज)।

१२. महानन्दी

भविष्य पुराण[1] में इसे महानन्दी कहा गया है और कात्यायन का समकालीन बताया गया है। तारानाथ कहते हैं कि महापद्म का पिता नन्द, पाणिनि का मित्र था तथा नन्द ने पिशाचों के राजा पिलु को भी अपने वश में किया था। अतः हम कह सकते हैं कि महानन्दी का राजनीतिक प्रताप सुदूर पश्चिम भारत की सीमा तक विराजता था और तक्षशिला तथा पाटलिपुत्र का सम्बन्ध बहुत ही प्रगाढ़ था। इसके राजकाल में पाटलिपुत्र में विद्वानों की परीक्षा होती थी।

दिव्यावदान में सहलिन् के बाद जो तुलकुचि नाम पाया जाता है, वही महानन्दी है। दिव्यावदान के छन्द प्रकरण में इसे तुरकुरि लिखा गया है। इसका संस्कृत रूपान्तर तुरकुडि ही हो सकता है, जिसका अर्थ होता है फुर्तीला शरीरवाला। हो सकता है कि यही इसका लड़कपन का नाम हो या उसके शरीर गठन के कारण ऐसा नाम पड़ा हो। इसने ४३ वर्ष तक क० सं० २६६२ से २७३५ तक राज्य किया।

महाभारत युद्ध के बाद हम सर्वत्र छोटे-छोटे राज्यों को बिखरा हुआ पाते हैं। उस महायुद्ध से साम्राज्यवाद को गहरा धक्का लगा था। मगध में भारतयुद्ध के बहुत पहले ही राजत्व स्थापित हो चुका था और युद्ध के एक सहस्र वर्ष से अधिक दिनों तक वह चलता रहा, जो दिनानुदिन शक्तिशाली होता गया। पार्श्ववर्त्ती राजाओं को कुचलकर साम्राज्य स्थापित करने की मनोवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। शासकों को अपने छोटे राज्य से संतोष नहीं दिखाई देता, किन्तु, सतत युद्ध और षड्यंत्र[2] चलता हुआ दीख पड़ता है। सीमाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, राजाओं का वध होता है और कभी-कभी गणराजों के नेता अधिक शक्तिशाली राजाओं के अत्याचार से अपनी रक्षा के लिए संघ बनाते हैं। किन्तु, महाशक्तिशाली राजाओं का सामना करने में वे अपनेको निर्बल और असमर्थ पाते हैं। कालान्तर में नन्द प्रायः सारे भारत का एकच्छत्र सम्राट् हो जाता है और अनेक शतियों तक केवल मगध-वंश ही राज्य करते हुए प्रसिद्ध रहता है।

---

१. भविष्य पुराण २-५-१०।

२. अपने तथा शत्रु के मित्र, अमित्र और उदासीन इस प्रकार छओं को भिड़ाने के उपाय का नाम षड्यंत्र पड़ा।

षोडश अध्याय

नन्द-परीक्षिताभ्यन्तर-काल

निम्नलिखित श्लोक प्रायः सभी ऐतिहासिक पुराणों में कुछ पाठ-भेद के साथ पाया जाता है-

महापद्मा[1]भिषेकान्तु[2] जन्म यावत्[3] परीक्षितः ।
आरभ्य[4] भवतो जन्म यावन्नन्दा-भिषेचनम्
एतद्[5] वर्ष[6] सहस्रं तु शतं[7] पञ्चदशोत्तरम्[8] ।

(विष्णुपुराण, ४।२४।३२ ; श्रीमद्भागवत १२।२।३६)

पार्जिटर महोदय उपर्युक्त श्लोक के चतुर्थपाद में 'ज्ञेयंपञ्चाशदुत्तरम्' पाठ स्वीकर करते हैं, और इसका अर्थ करते हैं[9]—'अब महापद्म के अभिषेक और परीक्षित् के जन्म तक यह काल सचमुच १०५० वर्ष जानना चाहिए'।

उपर्युक्त श्लोक महाभारत-युद्ध तिथि निश्चित करने के लिए इतिहासकारों की एक पहेली है। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध में अंत तक लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। परीक्षित् उसका पुत्र था। इसी युद्ध के समय अभिमन्यु की भार्या उत्तरा ने शोक के कारण गर्भ के छठे मास में ही अपने प्राणपति की मृत्यु सुनकर परीक्षित् को जन्म दिया। इस अभिमन्यु को, सात महारथियों ने मिलकर छल से वध किया। अभिमन्यु की दुखद मृत्यु की कथा हिंदुओं में प्रसिद्ध हो गई। श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से परीक्षित् को जीवित किया। अतः दो प्रसिद्ध घटनाएँ—परीक्षित् का जन्म और धर्मावतार युधिष्ठिर का राज्याभिषेक-

---

१. यह पाठ मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड में पाया जाता है। मत्स्य-महानन्द, वायु-महादेव = महापद्म।

२. ब्रह्माण्ड—षेकान्तम्।

३. इसी प्रकार मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड—जन्मयावत्।

४. यह पंक्ति विष्णु और भागवत में है—यथा, आरभ्यभवतो।

५. मत्स्य, एव ; एल. एन मत्स्य, एकं ; विष्णु इत्यादि, एतद के रोमन संकेताक्षर पार्जिटर के ग्रन्थ में व्याख्यात है।

६. सी, ई, एल, एन मत्स्य, एव ; बी मत्स्य, एक।

७. भागवत शतं ; j भागवत चतम्।

८. वायु, ब्रह्माण्ड, सी, ई, जे मत्स्य, शतोत्तरम्; बी, मत्स्य, शतोत्रयम् ; बी, पू, मत्स्य, बी,ए, विष्णु पञ्चशतोत्तरम्। किन्तु ऐ वायु, विष्णु, भागवत, पञ्चदशोत्तरम्।

९. 'दि पुराण टेक्स्ट आफ दि डायनेस्टीज आफ कलिएज' पार्जिटर सम्पादित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१३, पृ० ७४।

ऐतिहासिक तिथि निश्चित करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त हुई। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ विभिन्न विद्वानों ने ५१५,५५०,८५०,९५१,१०१५,१०५०,१११५,१५००,१५०१,१५०३,१५१० और २५०० वर्ष किया है।

पार्जिटर का सिद्धान्त और सरकार की व्याख्या

डाक्टर सुविमलचन्द्र सरकार[1] पार्जिटर के शिष्य रह चुके हैं। इसी पार्जिटर ने 'कलियुगवंश' का सम्पादन किया। अपने आचार्य के सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए आप कहते हैं कि तृतीय पाद में 'सहस्रं तु' को सहस्रार्द्ध' में पारिवर्तित कर दिया जाय, क्योंकि ऐसा करने से पार्जिटर की तिथि ठीक बैठ जाती है, अन्यथा 'तु' पादपूर्त्ति के सिवा किसी कार्य में नहीं आता और 'तु' के स्थान में 'अर्द्ध' कर देने से पादपूर्ण भी हो जाता है और पार्जिटर के अनुकूल महाभारत-युद्ध की तिथि भी प्रायेण ठीक हो जाती है। इस कल्पना के आधार पर परीक्षित् का जन्म या महाभारत अथवा महाभारतयुद्ध का प्रारंभ कलि-संवत् २१७१ या विक्रम पूर्व ८७३ (३५८+५१५) या कलि-संवत् २०३६ अथवा विक्रम पूर्व ९०८ (३५८+५५०) में हुआ। क्योंकि नन्द का अभिषेक वि० पू० ३५८ में हुआ। इस के लिए डाक्टर सरकार समकालिक राजाओं के विनाश के लिए १० वर्ष अलग रखकर नन्दों का काल १०० वर्ष के बदले ९० वर्ष मानते हैं, यद्यपि उनके गुरु पार्जिटर महोदय २० वर्ष अलग रख कर नन्दों का भोगकाल ८० वर्ष ही मानते हैं। इस सिद्धान्त के माननेवाले चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण-काल खि० पू० ३२५ या विक्रम पूर्व २६८ वर्ष मानते हैं। २६८ में ९० योग करने से ३५८ वर्ष वि० पू० आ जाते हैं, जब नन्द का अभिषेक हुआ। पार्जिटर के अनुसार महाभारत का युद्ध वि० पू० ८७३ में हुआ। अतः यद्यपि डाक्टर सरकार के पाठ-भेद करने से हम पार्जिटर के नियत किये हुए महाभारतयुद्ध काल के समीप पहुँच जाते हैं। यथा—वि० पू० ८७३ या ९०८, तथापि हम उनके शिष्य का पाठ-परिवर्तन स्वीकार नहीं कर सकते; क्योंकि ऐसा पाठ मानने के लिए हमारे पास कोई भी हस्तलिपि नहीं और हमें अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिए पाठ-भ्रष्ट नहीं करना चाहिए। ऐसा पाठभ्रष्ट करनेवाला महापातकी माना गया है। अपितु जब प्राकृत पाठ से ही युक्त अर्थ निकल जाय तो हम व्यर्थ की खींचातानी क्यों करें? उनके अनुसार 'सहस्रार्द्ध' का अर्थ ५०० हुआ और 'पञ्चोदशोत्तरं' का अर्थ १५ या पञ्चाशदुत्तरं' का ५० हुआ, इस प्रकार इसका अर्थ ५१५ या ५५० हुआ।

८५० वर्ष का काल

स्वर्गीय डा० शामशास्त्री कहते हैं[2] कि परीक्षित् और नन्द का आभ्यन्तर काल मत्स्य पुराण के अनुसार १५० वर्ष कम एक सहस्रवर्ष है, अथवा ८५० वर्ष (विलसन-अनूदित 'विष्णु पुराण', भाग ३।२५, पृ० २३०) संभवतः इस पाठ में 'ज्ञेयं' के स्थान पर 'न्यून' पाठ हो, किन्तु इससे वंश-वर्ष-योग ठीक नहीं बैठता।

१. पटना कालिज के भूतपूर्व अध्यापक।
२. गवायनम्—वैदिकयुग, मैसूर, १९०८ पृ० '५१।

जायसवाल की व्याख्या

डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल[1] के विचार से जहाँ पुराणों में नंदाभिषेक वर्ष के संबंध में महाभारत युद्ध तिथि की गणना की गई है। वहाँ अंतिम नन्द से तात्पर्य नहीं; किन्तु महानंद से तात्पर्य है। यह अभ्यंतर काल १०१५ वर्षों का है। वायु और मत्स्यपुराण में क्रमशः महादेव और महापद्म के अभिषेक काल तक वह अभ्यंतर १०५० वर्षों का है (वायु ३७।४०६, मत्स्य २७३।३५)। अतः यह स्पष्ट है कि परीक्षित् और महापद्म के तथा परीक्षित् और नंद के आभ्यंतर काल से परीक्षित् और महापद्म का आभ्यंतर काल अधिक है (१०५० और १०१५)। अंतः नन्द, महापद्म के बाद का नहीं हो सकता; किन्तु नन्दवंश के आदि का होना चाहिए। वेंक्टेश्वरप्रेस के ब्रह्माण्ड पुराण के संस्करण में नंद के स्थान पर महानंद पाठ है (ब्रह्माण्ड ३।७४।२२६)। अतः ब्रह्माण्ड, विष्णु और भागवत पुराणों में महानंद के अभिषेक कालतक आभ्यंतर काल १०१५ वर्ष और वायु (= महादेव) और मत्स्य पुराणों में (= महापद्म) महापद्म कालतक १०५० वर्ष बतलाया गया है।

वियोग की व्याख्या

अतः दोनों राजाओं के अभिषेक काल में ३५ वर्ष का अन्तर है (१०५०-१०१५)। पुराणों में महानन्द का भोगकाल ४३ वर्ष दिया गया है—स्मरण रहे, महानन्द पाठ कहीं भी नहीं है, इस पाठ को बलात् जायसवाल ने बिना किसी आधार के मान लिया है। विभिन्न पाठ है—महानंदी (एन मत्स्य), महिनंदी (एफ वायु), या सहनंदी (ब्रह्माण्ड)। जायसवाल आठ वर्षों की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से करते हैं (४३-३५ = ८)। वह कहते हैं कि महापद्म आठ वर्षों तक अभिभावक के रूप में सच्चा शासक रहा। वह मत्स्य के 'महापद्माभिषेकात्' का अर्थ करते हैं महापद्म का अभिभावक के रूप में अभिषेक, न कि राजा के रूप में। अपितु, वह महानंद को नंद द्वितीय कहकर पुकारते हैं, और उसका राज्यारोहण कलिसंवत् २६६२ में मानते हैं। अतः—

नंद द्वितीय, राज्यकाल ३५ वर्ष, कलिसंवत् २६६२ से २७२७ कलिसंवत् तक;

नंदतृतीय
नंद चतुर्थ
अनामअवयस्क } राज्य काल ८ वर्ष, कलिसंवत् २७२७ से २७३५ क०सं० तक;

नंद पंचम = महापद्म, राज्यकाल २८ वर्ष, क० सं० २७३५ से क० सं० २७६३ तक;

नन्द षष्ठ (= सुमाल्य लोभी) राज्यकाल १२ वर्ष, क० सं० २७६३ से क० सं० २७७५ तक।

डाक्टर जायसवाल पश्चाद् महाभारत बृहद्रथ वंश के लिए केवल ६६७ वर्ष मानते हैं, यद्यपि मेरे अनुसार उनका काल १००१ वर्ष है। वे शिशुनाग वंश को बार्हद्रथों का उत्तराधिकारी मानते हैं जो अयुक्त है। पुराणों में शिशुनाग राजाओं का काल ३६२ वर्ष है। जायसवाल जी ३६१ वर्ष ही रखते हैं, तथा जिस राजा के अभिषेक का उल्लेख किया है, उसे वे नंद वंश का नहीं, किन्तु शिशुनागवंश का राजा मानते हैं। सभी पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि महानंद या महापद्म नंदवंश के प्रथम सम्राट का द्योतक है, जिसने अपने सभी समकालिक

---

१ 'जर्नल बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी,' भाग १, पृ० १०६।

नृपों का नाश किया और अपने आठ पुत्रों के साथ मिलकर जिसके वंश ने १०० वर्ष राज्य किया।

किन्तु सबसे आश्चर्य की बात है अभिभावक का अभिषेक। भला आज तक किसी ने अभिभावक के अभिषेक को भी सुना है, तथा भुक्त राजकाल-गणना में अभिभावक काल भी सम्मिलित किया जाता है? क्या संसार के इतिहास में ऐसा भी कोई उदाहरण है जहाँ अवयस्क के अभिभावक-काल को उसके भुक्तराज काल से अलग कर दिया गया हो? तथाकथित अवयस्क राजा के संबंध में अभिभावक-काल मानने का हमारे पास क्या प्रमाण है, जिसके आधार पर अवयस्क अनामनन्द चतुर्थ के काल में अभिभावक काल माना जाय? इस सूचना के लिए डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल की विचारधारा जानने में हम असमर्थ हैं।

मुखोपाध्याय के २५०० वर्ष

श्रीधीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय[१] इसका अर्थ २५०० (१०००+१५००) वर्ष करते हैं। वह अपना अर्थ बोडलिअन पुस्तकालय के मत्स्यपुराण की एक हस्तलिपि के आधार पर करते हैं, जो पार्जिटर की सूची की नं० ६५ बी मत्स्य है। यहाँ मुखोपाध्याय के अनुसार पाठ इस प्रकार है—

'एवंवर्षं सहस्रंत, ज्ञेयं पञ्चशतत्रयम्'।

अतः पञ्चशतत्रयं का अर्थ १,५०० (५००×३) हुआ। वह नन्द का अभिषेक कलि संवत् २,५०० में मानते हैं, अथवा बि० पू० ५४५ (३,०४४–२,५००) या खि० पू० ६०२ में।

चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण-काल क० सं० २७७६ है। नन्दवंश ने १०० वर्ष राज्य किया, अतः नन्द का अधिरोहण काल क० सं० २६७६ है। नन्दवंश के पूर्वाधिकारी शिशुनाग वंश ने १६३ वर्ष राज्य किया (पार्जिटर, पृ० ६६), अतः शिशुनागों का काल क० सं० २५१३ (२६७६-१६३) में आरम्भ हुआ। इसके पहले प्रद्योतों का राज्य था। प्रद्योत वंश के अन्तिम राजा नन्दिवर्द्धन ने २० वर्ष राज्य किया, अतः वह २४६३ क० सं० में सिंहासन पर बैठा। अतः मुखोपाध्यायजी के अनुसार पुराणों ने 'गोलसंख्या' में नन्द और परीक्षित का आभ्यन्तर काल २,५०० बतलाया। वह २,५०० वर्षों का निम्नलिखित प्रकार से लेखा देते हैं—

इनके अनुसार बृहद्रथों ने १,७२३ (१०००+७२३) वर्ष राज्य किया। डायोनिसियस से लेकर संद्राकोतस तक भारतीय १५३ राजाओं के ६,०४२ वर्ष गिनते हैं, किन्तु, इन कालों में तीन बार गणराज्य स्थापित हो चुके थे।……दूसरा ३०० वर्ष तथा अन्य १२० वर्षों का। (मिक्रिडल संपादित एरियन-वर्णित 'प्राचीन भारत', पृ० २०३-४) अतः दो गणराज्यों का काल ४२० (३००+१२०) है, और यदि हम नन्दिवर्धन को हटा दें तो प्रद्योतों का काल ११८ (१३८-२०) वर्ष है। अतः सबों का योग २२६१ वर्ष (१७२३+४२०+११८) हुआ और २३६ वर्ष (२५००–२२६१) तृतीय गणराज्य की अवधि हुई।

अपितु वह समझते हैं कि—'बृहद्रथेस्वतीतेषु वीतिहोत्रेस्ववन्तीषु' पाठ वीतिहोत्र और मालवों का मगध में गणराज्य सूचित करता है। किन्तु इस पाठ को छोड़कर जिसका अर्थ उन्होंने अशुद्ध समझा है, कोई भी प्रमाण नहीं कि मगध में वीतिहोत्रों और मालव

---

१. 'प्रदीप', बंगाली मासिक पत्रिका, भाग ४ पृ० १-१३।

का राज्य समझा जाय। इस श्लोक का ठीक अर्थ हमने बृहद्रथों के प्रकरण में किया है। ग्रीक का प्रमाण जो वह उपस्थित करते हैं, उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह डायोनिसियस कौन है? संद्राकोतस्' कौन है, यह भी विवादास्पद है।

यदि हम डायोनिसियस् को हरकुलीश = कृष्ण का पचीसवाँ पूर्वाधिकारी मानें तो शूरसेनों का मगध में राज्य नहीं था, और संद्राकोतस मगध में राज्य करता था। अपितु अपना अर्थ सिद्ध करने के लिए जो पाठ आप उपस्थित करते हैं वह पाठ ही नहीं है। सत्यपाठ है 'शतोत्रयम्' न कि 'शतत्रयम्'। पुराणों तथा जायसवाल इत्यादि आधुनिक विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि शिशुनाग वंश का राज्य ३६१ या ३६२ वर्ष है, न कि १६३ वर्ष, जैसा कि पार्जिटर महोदय कोष्ठ में संकेत करते हैं, और मुखोपाध्याय जी मानते हैं। कभी तो आप नन्दवर्द्धन को कलिसंवत् २४६३ में और कभी कलिसंवत् २४६६ में मानते हैं, जो युक्त नहीं ज्ञात होता। सारे मगध के इतिहास में पुराणों ने कहीं भी गणराज्य का उल्लेख नहीं किया, जैसा कि अन्य प्रदेशों के विषय में किया गया है। अतः इनका सिद्धान्त माननीय नहीं।

पौराणिक टीकाकार

सभी पौराणिक टीकाकार इस श्लोक का अर्थ करने में चकरा गये हैं। वे अपनी बुद्धि के अनुसार यथासंभव इसका स्पष्ट अभिप्राय निकालने का यत्न करते हैं। वे समझते हैं कि इसका अर्थ १,५०० वर्ष होना चाहिए। दूसरा अर्थ नहीं किया जा सकता। श्रीधर[२] के अनुसार १,११५ वर्ष का किसी प्रकार भी समाधान नहीं किया जा सकता। सत्यतः परीक्षित् और नन्द का आभ्यंतर काल दो कम एक सहस्र पाँच सौ वर्ष या १४६८ वर्ष होता है; क्योंकि नवम स्कन्ध में कहा गया है कि परीक्षित् के समकालिक मगध के मार्जारि से लेकर रिपुंजय तक २३ राजाओं ने १,००० वर्ष राज्य किया। अतः पाँच प्रद्योतों का राज्य १३८ वर्ष और शिशुनागों का काल १६० वर्ष होगा।

श्री वीर राघव[3] श्रीधर के तर्कों की आवृत्ति करते हैं और कहते हैं कि यह श्लोक इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि मेरे जन्म से कितने काल तक चन्द्रवंश का राज्य रहेगा। नन्द के अभिषेक का उल्लेख इसलिए किया गया है कि नन्द के अभिषेक होते ही चन्द्रवंश के राज्य का विनाश हो गया। इसका अर्थ १,११५ वर्ष है।

---

१. 'भारतीय इतिहास के अध्ययन का शिलान्यास', हिन्दुस्तानी, जनवरी-मार्च १९४६।

२. कलियुगान्तर विशेषं वक्तुमाह — आरभ्येत्यादिना वर्षं सहस्रं पञ्चदशोत्तरम्। शतं चेति कयापि विवक्षयावांतर संख्येयम्। वस्तुतः परीक्षिन्नंदयोरंतरं द्वाभ्यां न्यूनं वर्षाणां सार्द्धसहस्रं भवति यतः परीक्षितं कालं मागधं मार्जारिमारभ्य रिपुंजयांता द्वाविंशति राजानः सहस्रं संवत्सरं भोक्ष्यन्ति इत्युक्तं नवम स्कन्धे ये बार्हद्रथ भूपाला भाव्याः सहस्र वत्सरमिति। तत परं पञ्च प्रद्योतनाः अष्टत्रिंशोत्तरंशतं शिशुनागाश्च षष्ठ्युत्तरशतत्रयंभोक्ष्यंति— पृथिवी मित्यत्रोक्तत्वात्—'श्रीधर'।

३. मज्जन्म प्रभृति यावती सोमवंश समाप्तिः कियान् कालो भविष्यतीत्यभिप्रायमात्रं लक्ष्याह। नन्दाभिषेचन पर्यन्तैव सोमवंशस्यानुवृत्तिरतो यावन्नन्दाभिषेचनमित्युक्तम्। एतदंतरंवर्षाणां पञ्चदशोत्तरंशतंसहस्रंचेत्यर्थः श्री वीर राघव।

श्री शुकदेव[1] के 'सिद्धान्त प्रदीप' के अनुसार इसका अर्थ दश अधिक एक सहस्र वर्ष तथा पञ्चगुणित शतवर्ष है; अतः इसका अर्थ १,५१० हुआ। जरासंध का पुत्र सहदेव अभिमन्यु का समकालिक था और सहदेव का पुत्र मार्जारि परिक्षित् का समकालिक था, अतः बार्हद्रथ, प्रद्योत और शिशुनागों के भोगकाल का योग (१००० + १३८ + ३६०) = १,४९८ होता है। शिशुनागवंश के नाश और नन्द के अभिषेक के मध्य में जो काल व्यतीत हुआ, उसका ध्यान रखने से ठीक काल का निश्चय हो जाता है। यदि पंच को पंचगुणित के रूप में अर्थ न करें तो संख्या का विरोध होगा।

ज्यौतिष गणना का आधार

पौराणिक वंशकारों को इस बात का ध्यान था कि कहीं कालान्तर में अर्थ की गड़बड़ी न हो जाय, अतः उन्होंने दूसरी गणना को भी ध्यान में रखा, जिससे एक के द्वारा दूसरे की परीक्षा हो जाय—वह ज्यौतिष गणना थी। सभी लेखक इस विषय पर एकमत हैं कि परिक्षित के जन्म के समय सप्तर्षि-मंडल मघा नक्षत्र पर था और नन्द के समय वह पूर्वाषाढा नक्षत्र में था। निम्नलिखित श्लोक पुराणों में पाया जाता है।

प्रयास्यन्ति यदा चैते पूर्वाषाढां महर्षयः।
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदानंदात्प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ (पार्जिटर, पृ० ६२)

'जब ये सप्तर्षि मघा से पूर्वाषाढा को पहुँचेंगे तब नंद से आरंभ होकर यह कलियुग अधिक बढ़ जायगा।'

सप्तर्षिचाल

सप्तर्षियों की चाल के सम्बन्ध में प्राचीन ज्यौतिषकार[2] और पौराणिकों के विभिन्न मत हैं। काशी विश्वविद्यालय के गणित के प्रधान प्रोफेसर श्री वा० वि० नारलिकर जी कृपया सूचित करते हैं कि पृथिवी की धूरि आजकल प्रायेण उत्तरध्रुव की ओर झुकी है। पृथिवी की दैनिक प्रगति के कारण सभी नक्षत्र ध्रुवतारे की परिक्रमा करते ज्ञात होते हैं। पृथ्वी की अयन गति के कारण प्रगति की धूरि २५८६८$\frac{४४}{६६७}$ वर्ष में २३.२७ अंश का कोण बना लेती है। इससे स्वाभाविक फल निकलेगा कि आकाशमंडल के तारों की स्पष्ट चाल है और इनमें सप्तर्षि-मंडल के प्रधान होने के कारण लोगों ने इसे सप्तर्षि-मंडल की चाल समझा। विभिन्न अयुतवर्षों में इनकी चाल का निश्चय हुआ। अयन की गति ठीक ज्ञात न होने के कारण सप्तर्षि के स्थान और दैनिक गति के सम्बन्ध में लोगों ने विभिन्न कल्पनाएँ[3] कीं।

---

१. वर्षाणां सहस्रं दशोत्तरं पञ्चगुणा शतं चैतत् दशाधिकं पादिसहस्रं वर्षाणां भवतीत्यर्थः। अभिमन्यु समकालो जरासंधसुतः सहदेवः परिक्षितं कालः सहदेवसुतः मार्जारिस्तम् आरभ्य रिपुंजयांता (यथा श्रीधर) शिशुनाग राज्य-भ्रंश नन्दाभिषेचनयोरंतरालिक त्वाचोक्तं वत्सर संख्या सम्यक संगच्छते। पञ्चशब्दस्य पञ्च गुणे लक्षणां विनोक्त संख्या विरोधः स्यात्। श्री शुकदेव।

२. विभिन्न विद्वानों के मत के सम्बन्ध में मेरा लेख देखें—'जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री', मद्रास भाग १८, पृ० ८।

३. 'अयनचलनम्' लेख श्रीकृष्णमिश्र का देखें—सरस्वतीसुषमा, काशी, संवत् २००७ पृ० ३६-४३।

चाल की प्रक्रिया

अन्ताराष्ट्रीय तथ्याध्ययन सम्मेलन के अनुसार[1] संवत् १९५७ के लिए अयनगति ५०'२५६४ प्रतिवर्ष[1] है। सप्तर्षिमंडल की यही काल्पनिक प्रगति है। यदि हम सप्तर्षि की वसंतसंपाति चाल से तुलना करें तो यह ठीक है।

श्री धीरेन्द्रनाथ मुखर्जी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि प्राचीन भारतीय ज्यौतिषकारों के अनुसार अयनगतिचक्र २७,००० वर्षों में पूरा होता है। किन्तु, इसे मानने के लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं कि सप्तर्षि की चाल २७,००० वर्षों में पूरी होती थी, यद्यपि मत्स्य और वायु पुराण[2] से ज्ञात होता है कि इनकी चाल ७० दिव्यवर्ष और ६० दिव्यमास में पूर्ण होती थी, अतः ७५ दिव्य वर्ष = २७,००० (७५ × ३६०) वर्षों के संपात की गति हुई। ब्रेनेण्ड[3] के अनुसार प्राचीन हिंदुओं को वह गति ज्ञात थी और वे सत्य के अति समीप थे; किन्तु बाद के ज्यौतिषकारों को इसका पता न चला। इसलिए उन्होंने विभिन्न मत प्रकट किया और २७,००० के बदले भूल से शून्य लिखना भूल गये, अतः उन्होंने बतलाया कि सप्तर्षि की गति २,७०० वर्षों में पूरी होती है। किन्तु शून्य के भूल जाने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्राचीन ज्यौतिषकार पुस्तकों में संख्या को अंकों में नहीं, किन्तु शब्दों में लिखते थे, प्रायेण पुस्तकें गद्य या पद्य में लिखी जाती थीं, अतः शून्य का विनाश संभव नहीं। बराह मिहिर स्पष्ट कहते हैं—'एकस्मिन् ऋचे शतं शतं ते चरन्ति वर्षाणाम।' शाकल्यमुनि[5] के अनुसार सप्तर्षि की वार्षिक गति आठ लिप्ता या मिनट है। सूर्य सिद्धान्त, आधुनिक टीकाकारों के अनुसार,५४'' प्रतिवर्ष अयन चाल बतलाता है। अतः स्पष्ट है कि सप्तर्षिचाल एक रहस्य है,जिसकी आधुनिक खोज से हम व्याख्या नहीं कर सकते।

प्रतिकूलगति

श्री सतीशचन्द्रविद्यार्णव, जायसवाल इत्यादि अनेक विद्वानों ने सोचा कि सप्तर्षिगण नक्षत्रों के अनुकूल ही चलते हैं और क्रमागत गणना से यथा मघा, पूर्वा फाल्गुणी उत्तरा फाल्गुणी, हस्ता, चित्रा, स्वातिका, विशाखा, अनुराधा, जेष्ठा, मूला और पूर्वाषाढा केवल ११ ही नक्षत्र आते हैं और चूँकि एक नक्षत्र पर सप्तर्षिगण, प्राचीन भारतीय ज्यौतिषकारों के अनुसार, केवल १०० वर्ष स्थिर रहते हैं, अतः परिक्षित से नंद तक का आभ्यंतर काल केवल १,१०० वर्षों का हुआ। पुराण लेखक तथा टीकाकार भी प्रायेण ज्योतिर्गणना से अनभिज्ञ होने के कारण केवल वंशकाल के आधार पर इसकी प्रतिलिपि और व्याख्या करने लगे।

किन्तु सत्यतः इनकी चाल प्रतिकूल है, जैसा कमलाकर भट्ट कहते हैं—प्रत्यब्दं प्राङ्गति-स्तेषाम्। अंग्रेजी का 'प्रिसेशन' शब्द भी इसी बात को सूचित करता है। यंग महोदय भी कहते हैं कि इनकी चाल सूर्य की गति के प्रतिकूल है। अतः यदि हम प्रतिकूल गणना करें तो मघा, अश्लेषा, पुष्य, पुनर्वसु, आर्द्रा, मृगशिराः, रोहिणी, कृत्तिका, भरणी, अश्विनी, रेवती उत्तरा-

---

१. 'जनंल डिपार्टमेंट आफ लेटर्स,' भाग १ पृ० २१०।

२. पार्जिटर पृ० ६०।

३. ब्रेनेण्डकृत 'हिन्दू एष्ट्रानोमी' (१८९६), पृ० १८ और बाद के पृष्ठ।

४. सप्तर्षिचार बृहत् संहिता।

५. 'सिद्धान्त विवेक,' कमलाकर भट्ट कृत ; भग्रहयुताधिकार, २५।

भाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद, शतभिज्, धनिष्ठा, श्रवण, उत्तराषाढा, पूर्वाषाढा नक्षत्र आते हैं। यदि हम मघा जो प्रायः बीत चुका था और पूर्वाषाढा, जो अभी प्रारम्भ हुआ था, छोड़ दें तो दोनों के आभ्यंतर काल में केवल १६ नक्षत्रों का अन्तर आता है। अतः नन्द और परिक्षित के काल में १,६०० वर्षों का अन्तर होना चाहिए, जो गोल संख्यक है; किन्तु श्री शुकदेव के मत में अभ्यंतर काल १,५१० वर्ष तथा त्रिवेद के मत में यह काल १,५०१ वर्षों का है, यथा—

३२ बार्हद्रथ राजाओं का काल	१,००१
५ प्रद्योत	१३८
१२ शिशुनाग	३६२
४६ राजाओं का काल	१,५०१ वर्ष

इन राजाओं का यह मध्यमान ३०·६ वर्ष प्रति राजा है।

सप्तदश अध्याय

नन्दवंश

महापद्म या महापद्मपति (प्रचुर धन का स्वामी) महानन्दी का पुत्र था, जो एक शूद्रा से जन्मा था। जैन परम्परा[1] के अनुसार वह एक नापित का पुत्र था, जो वेश्या से जन्मा था। जायसवाल[2] का मत है कि वह मगध के राजकुमारों का संरक्षक नियुक्त किया गया था। करटियल[3] कहता है—'उसका (अग्रमस अर्थात् अन्तिम नन्द का) पिता (प्रथम नन्द) सचमुच नापित था। पहले किसी प्रकार मजदूरी करके अपना जीवन यापन करता था; किन्तु देखने में वह रूपवान् और सुन्दर था। वह मगध की रानी का विश्वासपात्र बन गया। रानी के प्रभाव से वह धीरे-धीरे राजा के भी समीप पहुँचने लगा और उसका अत्यन्त विश्वासभाजन हो गया बाद को चलकर उसने धोखे से राजा का वध कर डाला। फिर कुमारों का संरक्षक होने के बहाने उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में करली। पुनः राजकुमारों का भी उसने वध कर दिया और उसी रानी से उसने अपना पुत्र उत्पन्न किया जो आजकल राजा है।' अग्रमस नाम संभवतः उग्रसेन[4] का अपभ्रंश है, जो महाबोधि वंश के अनुसार प्रथम नन्द का नाम है, न कि औग्रसेन का अपभ्रंश (औग्रसेनि), जैसा रायचौधरी मानते हैं।

सिंहासनासीन

जैन-परम्परा[5] के अनुसार एक बार नन्द को स्वप्न हुआ कि सारा नगर मेरे पुरीष से आच्छादित है। उसने दूसरे दिन अपना स्वप्न अपने पुरोहित से कहा। पुरोहित ने इस शकुन का अभिप्राय समझकर झट से अपनी कन्या का विवाह नन्द से कर दिया। बरात (वर यात्रा) उसी समय निकली जब उदयी का देहान्त हुआ, जिसका कोई उत्तराधिकारी न था (हेमचन्द्र के अनुसार)। मंत्रियों ने पंचराज चिह्नों का अभिषेक किया और सारे नगर के पथों पर जुलूस निकाला। दोनों जुलूस मार्ग में मिले तो नागराज ने नन्द को अपनी पीठ पर बैठा लिया। अतः सभी ने मान लिया कि यही उदयी का उत्तराधिकारी हो सकता है। इसलिए वह राजा घोषित हुआ और सिंहासन पर बैठा।

---

१. परिशिष्ट पर्व ६-२३१-३२।
२. ज० वि० उ० रि० सो० १-८८।
३. मिक्रिंडल का 'सिकन्दर का भारत आक्रमण' पृ० २२२।
४. इण्डियन हिस्ट्री कौंग्रेस का विवरण भाग १, पृ० ४९; बृहद्रथ से मौर्यों तक मगध के राजा—क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय लिखित।
५. परिशिष्ट पर्व ६-२३१-४३।

संभवतः जैन ग्रन्थों में घटनास्थल से सुदूर होने के कारण उनके लेख में नाम में भ्रम हो गया है। अतः उन्होंने भूल से महापद्म को उदयी का उत्तराधिकारी लिख दिया। आर्य मंजुश्री मूलकल्प[1] के अनुसार महापद्म नन्द राजा होने के पहले प्रधान मंत्री था।

तिरष्कृत शासन

ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने जनता को भड़काने के लिए नन्द की निन्दा[2] शुरू की तथा उसे भूतपूर्व राजकुमारों का हत्यारा बतलाया। संभवतः तत्कालीन राजवंशों ने एक षडयंत्र रचा, जिसका उद्देश्य अक्षत्रिय राजा को सिंहासन से हटा देना था। भला लोग कैसे सह सकते थे कि एक अक्षत्रिय[3] गद्दी पर बैठे? अतः, उसे सभी क्षत्रियों के विनाश करने का अवसर मिला। हेमचन्द्र[4] भी संकेत करता है कि नन्द के आश्रित सामंतों और रक्षकों ने उसका उचित आदर करना भी छोड़ दिया था। उन्होंने उसकी अवज्ञा की; किन्तु अभक्त सरदारों को दैवीशक्ति ने विनष्ट कर दिया और इस प्रकार सभी राजा की आज्ञा मानने लगे तथा उसका प्रभुत्व सर्वव्यापी हो गया।

मंत्री

कपिल का पुत्र कल्पक[5] महाविद्वान् था। वह पवित्र जीवन व्यतीत करने के कारण सर्वप्रिय भी था। वह विवाह नहीं करना चाहता था; किन्तु उसे लाचार होकर ब्याह करना पड़ा। जानबूझकर एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या को कूप में डाल दिया और स्वयं ही वह शोर भी करने लगा। तय यह था कि जो कोई भी उसे कूप से निकालेगा, उसीसे उसका विवाह होगा। कल्पक उसी मार्ग से जा रहा था और कन्या को कूप से बाहर निकालने के कारण कल्पक को उसका पाणिग्रहण भी करना पड़ा। नन्द उसे अपना मंत्री बनाना चाहता था; किन्तु कल्पक इसके लिए तैयार नहीं हुआ। राजा ने एक धोबिन से यह हल्ला करवा दिया कि कल्पक ने उसके पति की हत्या कर दी है। इस पर कल्पक शीघ्र ही राजा को प्रसन्न करने तथा उससे क्षमा माँगने के लिए राजसभा में पहुँचा। राजा ने उसका स्वागत किया और उसे अपना मंत्री होने को बाध्य किया। कल्पक के मंत्रित्व में नन्द का प्रभुत्व, यश तथा पराक्रम सबकी वृद्धि हुई।

लेकिन कल्पक का पूर्वाधिकारी कल्पक को अपदस्थ करने पर तुला हुआ था। एक बार कल्पक ने अपने पुत्र के विवाहोत्सव पर राजपरिवार को अपने घर बुलाकर राजा को राजचिह्न समर्पित करना चाहा। विस्थापित मंत्री ने राजा से कल्पक की मनोवृत्ति को दुष्ट बताया और उसकी निन्दा की कि वह स्वयं राज्य हथियाना चाहता है। राजा ने इसे सत्य समझकर कल्पक और उसके पुत्रों को खाई में डलवा दिया। खाई में पुत्रों ने अपना भोजन देकर अपने पिता को जीवित रक्खा, जिससे कल्पक इस अन्याय का प्रतिशोध ले सकें। नन्द के सामन्तों ने कल्पक को मृत समझकर राजनगर को घेर लिया और जनता को घोर कष्ट पहुँचाया। नन्द ने

---

१. जायसवाल का इम्पिरियल हिस्ट्री, भूमिका।
२. सीतानाथ प्रधान की वंशावली पृ० २२६।
३. ज० वि० उ० रि० सो० भाग १८८-९।
४. पारिशिष्ट पर्व ६-२४४-२२।
५. वही ७-७०-१२८।

इस दुरवस्था में कल्पक की सेवाओं का स्मरण किया और उसे पुनः मंत्रिपद पर नियुक्त कर दिया। कल्पक ने शत्रुओं को मार भगाया और नन्द का पूर्व प्रभुत्व स्थापित हो गया। परशुराम ने क्षत्रियों को अनेक बार संहार किया था। नंद ने भी कम-से-कम दो बार क्षत्रियों को मानमर्दित कर डाला। महाभारत युद्ध के बाद देश में १२ वंशों का राज्य था; किन्तु नन्द ने सब का विनाश कर दिया। तुलना करें—'द्वितीय इव भार्गवः' (मत्स्य पुराण)।

विजय

परिस्थिति से विवश होकर नन्द को अपने मान और स्थान (राज्य) की रक्षा करने के लिए अपने तत्कालीन सभी राजाओं को पराजित करने का भार लेना पड़ा। सभी क्षत्रिय राजा मिलकर उसको कुचलना चाहते थे; किन्तु वे स्वयं ही नष्ट हो गये। कौशाम्बी के पौरववंशी राजाओं का शैशुनाग राजाओं ने इसलिए नाश नहीं किया कि कौशाम्बी का उदयन मगध के दर्शक राजा का आवुत्त (बहनोई) था। महापद्म ने कौशाम्बी[१] का नाश करके वहाँ का राज्य अपने राज्य में मिला लिया। कोसल का इक्ष्वाकुवंश भी मगध में सम्मिलित हो गया; क्योंकि कथा सारित्सागर में नन्द के स्कंधावार का वर्णन अयोध्या में पाया जाता है। इस काल तक इक्ष्वाकुवंश के कुल २५ राजाओं ने राज्य किया था। बत्तीसवीं पीढ़ी में कलिंगवंश का राज्य सम्मिलित कर लिया गया। खारवेल[३] के हाथी गुफावाले अभिलेख भी (प्रथम शती विक्रम संवत्) नंदराज का उल्लेख करते हैं कि 'नन्द प्रथम उनका चरण-चिह्न और कलिंग राजाओं का चमर मगध ले गया।' जायसवाल तथा राखालदास बनर्जी नन्दराज को शिशुनागवंश का नन्दिवर्द्धन मानते हैं; किन्तु यह विचार सौम्य नहीं प्रतीत होता; क्योंकि पुराणों में स्पष्ट कहा गया है कि जब मगध में शैशुनाग और उनके उत्तराधिकारियों का राज्य था तब ३२ कलिंग राजाओं का राज्य लगातार चल रहा था। कलिंग अधिकृत करने के बाद पच्चीसवीं पीढ़ी में अश्मकों का (गोदावरी और माहिष्मती के बीच नर्मदा के तटपर) तथा उस प्रदेश के अन्य वंशों का नाश हुआ ही, यह संभव है। गोदावरी के तटपर 'नौनंद देहरा' नगर[४] भी इसका द्योतक है कि नन्द के राज्य में दक्षिण भारत का भी अधिकांश सम्मिलित था। महीशूर के अनेक अभिलेखों[५] से प्रकट है कि कुन्तल देश पर नन्दों का राज्य था।

अन्य राजवंश जिसका नन्द ने विनाश किया निम्नलिखित है। पाञ्चाल (रुहेलखंड २७ वीं पीढ़ी में), काशी २४ राजाओं के बाद, हैहय[६] (खान देश, औरंगाबाद के कुछ भाग तथा दक्षिण मालवा)—राजधानी माहिष्मती २८ शासक; कुरु (३६ राजा), मैथिल (२८ राजा); शूरसेन—राजधानी मथुरा—(२३ राजा); तथा अवंती के वीतिहोत्र २०

१. ज० वि० उ० रि० सो० १-८१।
२. टानी का अनुवाद पृ० २१।
३. ज० वि० उ० रि० सो० ३-४२५।
४. मकौलिफका का सिक्खरेलिजन, भाग ५,२१६; पा० हि० आफ ए० इण्डिया पृ० १८१।
५. राइस का मैसूर व कुर्ग के अभिलेख पृ० ३।
६. इस राज्य की उत्तरीसीमा नर्मदा, दक्षिण में तुंगभद्रा, पश्चिम में अरबसागर तथा पूर्व में गोदावरी तथा पूर्वी घाट था—नन्दलाल दे।

राजाओं के बाद। इन सभी राजाओं की गणना महाभारत युद्धकाल से है और यह गणना केवल प्रमुख राजाओं की है। तुच्छ राजाओं को छोड़ दिया गया है। विष्णुपुराण[1] कहता है—इस प्रकार मैंने तुमसे सम्पूर्ण राजवंशों का संक्षिप्त वर्णन कर दिया है, इनका पूर्णतया वर्णन तो सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता। अतः इससे हमें राजाओं का मध्य वर्ष निकालने में विशेष सहायता नहीं मिल सकती। नन्द का राज्य अत्यन्त विस्तीर्ण था; क्योंकि पुराणों के अनुसार वह एकच्छत्र राजा था (एकराट् तथा एकच्छत्र)। दिव्यावदान के अनुसार वह महामंडलेश था।

राज्यवर्ष

पुराणों में प्रायः नन्दवंश का राज्य १०० वर्ष बताया गया है; किन्तु नन्द का राज्य केवल ८८ वर्ष[2] या २८ वर्ष बताया गया है। पार्जिटर[3] के मत में महापद्म की काल-संख्या उसके दीर्घजीवन का द्योतक है, जैसा मत्स्य भी बतलाता है। जायसवाल[4] के अनुसार यह भोग इस प्रकार है—

१. महानन्दी के पुत्र	८ वर्ष
२. महानन्दी	३५ ,,
३. नन्दिवर्द्धन	४० ,,
४. मुण्ड	८ ,,
५. अनिरुद्ध	९ ,,
कुल	१०० वर्ष

जैनाधारों से भी यही प्रतीत होता है कि नन्दवंश ने प्रायः १०० वर्ष अर्थात् ९५ वर्ष[5] राज्य किया; किन्तु चार ग्रन्थों में (वायु सी, इ, के० एल) अष्टाविंशति पाठ है। रायचौधरी के विचार में अष्टाशीति अष्टाविंशति का शुद्ध पाठ है। तारानाथ के अनुसार नन्द ने २९ वर्ष राज्य किया। सिंहल-परम्परा नवनन्दों का काल केवल २२ वर्ष बतलाती है। नन्द ने क० सं० २७३५ से २७६३ तक २८ वर्ष राज्य किया।

विद्या-संरक्षक

आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के अनुसार महापद्म नन्द विद्वानों का महान् संरक्षक था। वररुचि उसका मंत्री था तथा पाणिनि उसका प्रिय-पात्र था। तोभी राजा को मंत्रि-मंडल से पटती नहीं थी; क्योंकि राजा प्रतापी होने पर भी सत्यसंध था। भाग्यवश राजा बुढ़ापे में बीमार होकर चल बसा और इस प्रकार के विचार-वैमनस्य[6] का बुरा प्रभाव न हो सका। मरने के बाद इसका कोष पूर्ण था और सेना विशाल थी। इसने वह नई तौल[7] चलाई, जिसे

१. एष तूद्देशतो वंशस्तवोक्तो भूभुजां मया।
निखिलो गदितुं शक्यो नैष वर्षशतैरपि॥ विष्णु ४-२४-१२२।

२. अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिव्यांवै भोक्ष्यति पाठान्तर अष्टाविंशति।

३. पार्जिटर पृ० २४।

४. ज० वि० उ० रि० सो० ५-१८।

५. परिशिष्ट पर्व ६-२३१-२; ८-३२६-३९।

६. इम्पिरियल हिस्ट्री पृ० १५।

७. पाणिनि २-४-२१ (लक्ष्य)।

नन्दमान कहते हैं। यह वररुचि को प्रतिदिन १०८ दिनार देता था। वररुचि[1] कवि, दार्शनिक तथा वैयाकरण था और स्वरचित १०८ श्लोक प्रतिदिन राजा को सुनाया करता था।

उत्तराधिकारी

पुराणों के अनुसार नन्द के आठ पुत्र थे, जिनमें सुकल्प, सहल्य, सुमात्य या सुमाल्य ज्येष्ठ था। इन्होंने महापद्म के बाद क्रमशः कुल मिलाकर १२ वर्ष राज्य किया। महाबोधिवंश[2] उनका नाम इस प्रकार बतलाता है। उग्रसेन, महापद्म, पण्डुक, पाण्डुगति, राष्ट्रपाल, गोविषांक्क, दशसिद्धक, कैवर्त तथा धननन्द। हेमचन्द्र[3] के अनुसार नन्द के केवल सात ही पुत्र गद्दी पर बैठे। इनके मंत्री भी कल्पक के वंशज थे; क्योंकि कल्पक ने पुनः विवाह करके संतान उत्पन्न की। नवम नन्द का मंत्री शकटार भी कल्पक का पुत्र था।

सबसे छोटे भाई का नाम धननन्द था; क्योंकि उसे धन एकत्र करने का शौक था। किन्तु सत्य बात तो यह है कि सारे भारत को जीतने के बाद नन्द ने अनेक राजाओं से प्रचुर धन एकत्र किया था। अतः इसे धन का लोभी[4] कहा गया है और यह निन्नानबे करोड़ स्वर्णमुद्रा का स्वामी था। इसने गंगानदी की धारा में ८८ करोड़ रुपये गड़वा दिये, जिससे चोर सहसा न ले सकें, जिस प्रकार आज कल बैंक आफ इंगलण्ड का खजाना तपसा नदी के पास विद्युत् शक्ति लगाकर रक्खा जाता है। तमिल[5] ग्रन्थों में भी नन्द के पाटलिपुत्र एवं गंगा की धारा में गड़े धन का वर्णन है। हुएनसंग[6] नन्द के सप्तरत्नों के पाँच खजानों का वर्णन करता है। नन्द ने चमड़ा, गोंद, पेड़ और पत्थरों पर भी कर लगाया था।

पूर्व एवं नवनन्द

जायसवाल[8] तथा हरित कृष्णदेव[9] नवनन्द का अर्थ नव (९) नन्द नहीं, वरन् नूतन या नया नन्द करते हैं। जायसवाल पूर्व नन्द वंश में निम्नलिखित राजाओं को गिनते हैं—

अनिरुद्ध, मुण्ड, नन्द प्रथम, (वर्द्धन), नन्द द्वितीय, (महानन्द), नन्द तृतीय (महादेव) तथा नन्द चतुर्थ (अनाम अवयस्क)। जायसवाल के मत में इन नामों को ठीक इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रन्थों में लिखा गया है; किन्तु पार्जिटर द्वारा एकत्रित किसी भी हस्तलिपि से इसका समर्थन नहीं होता।

क्षेमेन्द्र चन्द्रगुप्त को पूर्वनन्द का पुत्र बतलाता है; किन्तु क्षेमेन्द्र[10] की कथामंजरी तथा

---

१. परिशिष्ट पर्व ८-११-१६।
२. पाली संज्ञाकोष।
३. परिशिष्ट पर्व ८-१-१०।
४. मुद्राराक्षस १; ३-२७।
५. कृष्णास्वामी ऐयंगर का दक्षिण भारतीय इतिहास का आरंभ पृ० ८९।
६. वाटर्स २-९६।
७. टूरनर का महावंश, भूमिका ३९।
८. ज० बि० उ० रि० सो० १-८७।
९. ज० बि० उ० रि० सो० ४-९१ 'नन्द अर्जियर व लेटर'।
१०. बृहत्कथा मंजरी कथापीठ, २४। तुलना करें—'योगानन्दे यशः शेषे पूर्वनन्द सुतस्ततः। चन्द्रगुप्तो वृतो राज्ये चाणक्येन महौजसा।'

सोमदेव के कथासरित्सागर में पूर्वनन्द को योगानन्द से भिन्न बतलाया गया है, जो मृत नन्दराज के शरीर में प्रवेश करके नंद नामधारी हो गया था। पुराण, जैन एवं सिंहल की परम्पराएँ केवल एक ही वंश का परिचय कराती हैं और वे नव का अर्थ ६ ही करती हैं न कि नूतन। अतः जायसवाल का मत भ्रमात्मक प्रतीत होता है।

नन्दों का अन्त

ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन परम्पराओं के अनुसार चाणक्य ने ही नन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक करवाया। उस प्रयास में महायुद्ध भी हुआ। नन्द राजवंश का पक्ष लेकर सेनापति भद्दसाल रणक्षेत्र में चन्द्रगुप्त से मुठभेड़ के लिए आ डटा; किन्तु वह हार गया और विजयश्री चन्द्रगुप्त के हाथ लगी।

इस प्रकार नन्दकाल में मगध का सारे भारत पर प्रभुत्व छा गया और नन्दों के बाद मगध पर मौर्य राज्य करने लगे। चन्द्रगुप्त के शासनकाल में यूनानियों का छक्का छूट गया। चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को भारत की सीमा से सुदूर बाहर भगा दिया। प्रियदर्शी राजा के शासनकाल में भारत कृपाण के बल पर नहीं, प्रत्युत् धर्म के कारण विजयी[1] होकर सर्वत्र ख्यात हो गया तथा जगद्गुरु कहलाने लगा।

उपसंहार

इस प्रकार पुराणों[2] के अध्ययन से हम पाते हैं कि अनेक राजाओं का वर्णन किसी उद्देश्य या लक्ष्य को लेकर किया गया है। इन पुराणों में महाबलवान्, महावीर्यशाली, अनन्त धनसंचय करनेवाले अनेक राजाओं का वर्णन है, जिनका कथामात्र ही काल ने आज शेष रक्खा है। जो राजा अपने शत्रुसमूह को जीतकर स्वच्छन्द गति से समस्त लोकों में विचरते थे, आज वे ही राजा काल-वायु की प्रेरणा से सेमर की रूई के ढेर के समान अग्नि में भस्मीभूत हो गये हैं। उनका वर्णन करते समय यह सन्देह होता है कि वास्तव में वे हुए थे या नहीं। किन्तु पुराणों में जिनका वर्णन हुआ है, वे पहले हो गये हैं। यह बात सर्वथा सत्य है, किसी प्रकार भी मिथ्या नहीं है, किन्तु अब वे कहाँ है। इसका हमें पता नहीं।[3]

---

१. अशोक का एटरनल रेलिजन, हिन्दुस्तान रिव्यू, अप्रिल १९५१।

२ महाबलान्महावीर्याननन्तधनसंचयान्।
कृतान्तेनाद्य बलिना कथाशेषान्नराधिपान् ४-२४-१४२।

३. सत्यं न मिथ्या क्वनु ते न विद्मः।.४-२४-१४६।

अष्टादश अध्याय

धार्मिक एवं बौद्धिक स्थान

(क) गया

गया भारत का एक प्रमुख तीर्थस्थान तथा मगध का सर्वोत्तम तीर्थस्थान है। गया में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान विष्णुपद[1] है। महाभारत अनेक तीर्थ स्थानों का वर्णन करता है; किन्तु विष्णुपद का नहीं। 'सावित्र्यांस्तु पदम्' या इससे विभिन्न पाठ 'सावित्रास्तुपदं' महाभारत[2] में पाया जाता है ऋग्वेद में विष्णु सूर्य के लिए प्रयुक्त है तथा सवितृ उदयमान सूर्य के लिए। ऋग्वेद[3] में विष्णु के तीन पदों का वर्णन मिलता है। सवितृपद या विष्णुपद इसी पर्वतशिला पर था, जहाँ ब्रह्मयोनि या योनिद्वार बतलाया गया है।

विष्णु के तीन पदों में प्रथम पद पूर्व में विष्णुपद पर था। द्वितीय पद व्यास (विपाशा) के तट पर, गुरुदासपुर एवं कांगड़ा जिले के मध्य, जहाँ नदी घूमती है, एक पर्वतशिखर पर था। तृतीय पद श्वेत द्वीप में संभल (वलक्ख) के पास था, जहाँ तिब्बती साहित्य के अनुसार सूर्य-पूजा की खूब धूम थी। इस दशा में तीनों पद एक रेखा में होंगे।

महाभारत में युधिष्ठिर को 'उदयन्तं पर्वतं' जाने को कहा जाता है, जहाँ 'सवितृपदं' दिखाई देगा। रामायण[6] में इसे उदयगिरि कहा गया है। यास्क[7] 'त्रेधा निदधे पदं' की व्याख्या करते हुए कहता है कि उदय होने पर एक पद गया के 'विष्णुपद' पर रहता है। इससे स्पष्ट है कि गया को भारतभूमि या आर्यावर्त्त की पूर्व सीमा माना जाता था। 'गया माहात्म्य' में कहा गया है कि 'गय' का शरीर कोलाहल पर्वत के समकक्ष था। कोलाहल का अर्थ होता है शब्द-पूर्ण और संभवतः इसीको महाभारत में 'गीत नादितम्' कहा है।

---

१. वायु २-१०५।

२. महाभारत ३-८२-८२; ३-८३; १२-२८-८८।

३. ऋग्वेद १-२२-१७।

४. ज० बि० उ० रि०सो० १९३८ पृ० ८३-१११ गया की प्राचीनता, ज्योतिषचन्द्र घोष लिखित।

५. इण्डियन कल्चर, भाग १ पृ० ५१५-१९, ज० बि० उ० रि० सो० १९३४ पृ० ९७-१००।

६. रामायण २-६८ १८-१९; ७-३६-४४।

७. निरुक्त १२-१९।

राजेन्द्रलाल मित्र के मत में गयासुर की कथा बौद्धों के ऊपर ब्राह्मणविजय का द्योतक है। वेणीमाधव बरुआ[1] के मत में इस कथा की दो पृष्ठभूमियाँ हैं—(क) दैनिक सूर्यभ्रमण चक्र में प्रथम किरण का दर्शन तथा (ख) कोलाहल पर्वत या गया-पर्वतमाला की भूकम्पादि से पुनर्निर्माण। प्रथम तो खगोल और द्वितीय भूगर्भ की प्रतिक्रिया है।

अमूर्तरयस् के पुत्र राजर्षि 'गय' ने गया नगर बसाया। यह महायज्ञकर्त्ता मान्धाता का समकालिक था। गयप्लात ऋग्वेद का ऋषि[2] है तथा गय आत्रेय भी ऋग्वेद ५-९-१० का ऋषि है।

(ख) हरिहरक्षेत्र

यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा के समय मेला लगता है। कहा जाता है कि यहीं पर गज-ग्राह संग्राम हुआ था, जब विष्णु ने वाराह-रूप में गज की रक्षा की थी। पाण्डवों ने भी अपने पर्यटन[3] में इसका दर्शन किया था। पहले इसी स्थान के पास शोणभद्र गंगा से मिलती थी। इसीसे इसे शोणपुर (सोनपुर) भी कहते हैं। यहाँ शैव एवं वैष्णवों का मेल हुआ था। गंगा शैवों की द्योतक है तथा गण्डकी वैष्णवों की, जहाँ शालिग्राम की असंख्य मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं। इस सम्मिलन की प्रसन्नता में गंगा, सरयू, गंडकी, शोण और पुनपुन (पुनःपुनः) पाँच नदियों के संगम पर प्रतिवर्ष मेला लगने की प्रथा का आरम्भ हुआ होगा।

(ग) नालन्दा

नालन्दा पटना जिले में राजगिरि के पास है। बुद्धघोष[4] के अनुसार यह राजगिरि से एक योजन पर था। हुएनसंग कहता है कि आम्रकुंज के मध्य तडाग में एक नाग रहता था। उसीके नाम पर इसे नालन्दा कहने लगे। दूसरी व्याख्या को वह स्वयं स्वीकार करता है और कहता है कि यहाँ बोधिसत्त्व ने प्रचुर दान दिया। इसीसे इसका नाम नालन्दा पड़ा—'न अलं ददाति नालन्दा'।

यहाँ पहले आम का घना जंगल था, जिसे ५०० श्रेष्ठियों ने दशकोटि में क्रय करके बुद्ध को दान दिया। बुद्ध-निर्वाण के बाद शक्रादित्य[6] नामक एक राजा ने यहाँ विहार बनाया। बुद्धकाल में यह नगर खूब घना बसा था। किन्तु बुद्ध के काल में ही यहाँ दुर्भिक्ष[7] भी हुआ था। बुद्ध ने यहाँ अनेक बार विश्राम किया। पार्श्व के शिष्य उदक[8] निगंठ से बुद्ध ने नालन्दा में शास्त्रार्थ किया। महावीर[9] ने भी यहाँ चौदह चातुर्मास्य बिताये। राजगिरि से एक पथ नालन्दा होकर पाटलिपुत्र[10] जाता था।

---

१. गया और बुद्धगया, कलकत्ता, १९३१ पृ० ५९।
२. ऋग्वेद १०-६३-६४।
३. महाभारत ३-८२ १२०-१२५।
४. दीघनिकाय टीका १-१३५।
५. वाटर्स २-१६६; २-१६४।
६. दीघनिकाय ७८ (राहुल सम्पादित)।
७. संयुत्त निकाय ४-३२२।
८. सैक्रेड बुक आफ ईस्ट, भाग २ पृ० ४१९-२०।
९. कल्पसूत्र ६।
१०. दीघनिकाय पृ० १२२, २४६ (राहुल संपादित)।

(घ) पाटलिपुत्र

बुद्ध ने भविष्यवाणी[१] की थी कि प्रसिद्ध स्थानों, हाटों और नगरों में पाटलिपुत्र सर्वश्रेष्ठ होगा ; किन्तु अग्नि, जल एवं आन्तरिक कलहों से इसे संकट होगा। बुद्ध के समय यह एक छोटा पाटलि गाँव था। बुद्ध ने इस स्थान पर दुर्ग बनाने की योजना पर अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार की दूरदर्शिता के लिए प्रशंसा की। बुद्ध ने यहाँ के एक विशाल भवन में प्रवचन किया। जिस मार्ग से बुद्ध ने नगर छोड़ा, उसे गौतम द्वार तथा घाट को गौतमतीर्थ कहते थे। बुद्ध का कमण्डल और कमरबन्द मृत्यु के बाद पाटलिपुत्र में गाड़ा गया था।

हुयेनसंग[२] के अनुसार एक ब्राह्मण शिष्य का विवाह, खेल के रूप में एक पाटली की शाखा से कर दिया गया। सन्ध्या समय कोई वृद्ध मनुष्य एक स्त्री एवं श्यामा कन्या के साथ यहाँ पहुँचा और पाटली के नीचे उसने रात भर विश्राम किया। ब्राह्मणकुमार ने इसी कन्या से पुत्र उत्पन्न किया और तभी से इस ग्राम का नाम पाटलिपुत्र हुआ। अन्य मत यह है कि एक आर्य ने मातृपूजकवंश की कन्या से विवाह किया और वंश-परम्परा के अनुसार नगर का नाम पाटलिपुत्र रक्खा।

वाडेल[३] का मत है कि पाटल नरकविशेष है और पाटलिपुत्र का अर्थ होता है—नरक से पिता का उद्धार करनेवाला पुत्र। इस नगर के प्राचीन नाम[४] कुसुमपुर और पुष्पपुर भी पाये जाते हैं। यूनानी लोग इसे पलिबोथरा तथा चीनी इसे प-लिन-तो कहते हैं।

जब तक्षशिला में विदेशियों के आक्रमण के कारण ब्रह्मविद्या की प्रबलता घटने लगी तब लोग पूर्व की ओर चले और भारत की तत्कालीन राजधानी पाटलिपुत्र को आने लगे। राजशेखर[५] कहता है—पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों की परीक्षा होती थी, ऐसा सुना जाता है। यहीं उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ख्यात हुए। हरप्रसाद शास्त्री[६] के मत में ये नाम काल-परम्परा के अनुकूल हैं ; क्योंकि मगध-वासियों का कालक्रम और ऐतिहासिक ज्ञान अच्छा था। व्याकरण की दृष्टि से भी यह कालक्रम से प्रतीत होता है ; क्योंकि वर्षोपवर्षौ होना चाहिए ; किन्तु हम 'उपवर्षवर्षौ' पाठ पाते हैं।

उपवर्ष

उपवर्ष मीमांसक था। इसकी सभी रचनाएँ नष्टप्राय हैं। कृष्णदेवतंत्र चूड़ामणि में कहता है कि इसने मीमांसासूत्र की वृत्ति लिखी थी। शाबरभाष्य[७] में उपवर्ष का एक उद्धरण मिलता है। कथासरित्सागर[८] कहता है कि कात्यायन ने इसकी कन्या उपकोशा का पाणिपीडन किया।

---

१. महावग्ग ६-२८७ ; महापरिनिब्बाण सुत्त, दीघनिकाय पृ० १२३ (राहुल)।
२. वाटर्स २-८१।
३. रिपोर्ट आन एक्सकेवेशन ऐट पाटलिपुत्र, आई० ए० वाडेल, कलकत्ता १९०३।
४. त्रिकाण्ड शेष।
५. काव्यमीमांसा पृ० ५५ (गायकवाड़ सिरीज)।
६. मगधन लिटरेचर, कलकत्ता १९२३ पृ० २३।
७. भाष्य १-१।
८. कथासरित्सागर १-४।

भोज[1] भी इसका समर्थन करता है और प्रेमियों तथा प्रेमिकाओं के बीच दूत किस प्रकार काम करते हैं, इसका वर्णन करते हुए कहता है कि वररुचि के गुरु उपवर्ष ने अपनी कन्या उपकोषा का विवाह वररुचि या कात्यायन से ठीक किया। अवन्तीसुन्दरीकथासार भी व्याडि, इन्द्रदत्त एवं उपवर्ष का एक साथ उल्लेख करता है।

वर्ष

वर्ष के संबंध में कथासरित्सागर से केवल इतना ही हम जानते हैं कि वह पाणिनि का गुरु था। अतः यह भी पश्चिमोत्तर से यहाँ आया। संभवतः यह आजातशत्रु का मंत्री वर्षकार हो सकता है।

पाणिनि

संस्कृत भाषा का प्रकाण्ड विद्वान् पाणिनि पाठान था और शलातुर[2] का रहनेवाला था। इसकी माता का नाम दाक्षी था। हुवेनसंग इसकी मूर्त्ति का शलातुर में उल्लेख करता है। पतंजलि के अनुसार कौत्स इसका शिष्य था। इस पाठान ने अष्टाध्यायी, गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और शिक्षा लिखी, जिसकी समता आजतक किसी अन्य भारतीय ने नहीं की। इसने अपने पूर्व वैयाकरणआपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चक्रवर्मा, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सोनक एवं स्फोटायन सभी को मात कर दिया।

इस पाठान वैयाकरण का काल विवादास्पद है। गोल्डस्टूकर इसे संहिता - निर्माण के समीप का बतलाता है। सत्यव्रत भट्टाचार्य तो इसे यास्क से पूर्व मानते हैं। कौटल्य केवल ६३ अक्षर एवं चार पदों का वर्णन करता है। पाणिनि ६४ एवं सुबन्त-तिङन्त दो ही पदों का उल्लेख करता है। सायण अपने तैत्तिरीय ब्राह्मण भाष्य में कहता है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग निपात और चतुस्पद व्याख्या श्रौत है, जिनका यास्क भी अनुशरण करता है, यद्यपि वे पाणिनि विहित नहीं है। कौटल्य ने पाणिनि का अनुसरण न किया, इससे सिद्ध है कि पाणिनि की तबतक जड़ नहीं जमी थी, जिसे इन्हें प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता। अपितु पाणिनि बुद्ध के समकालीन मस्करी[3] का उल्लेख करता है। आर्य मंजुश्रीमूलकल्प[4] कहता है कि वररुचि नन्द का मंत्री था तथा पाणिनि इसका प्रेमभाजन था। बौद्ध साहित्य में इसे बौद्ध बतलाया गया है। क० सं० २७०० में यह ख्यात हो चुका था।

पिंगल

पिंगल ने छन्दःशास्त्र के लिए वही काम किया, जो पाणिनि ने व्याकरण के लिए किया। यदि अशोकावदान विश्वस्त माना जाय तो विन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को पिंगल नाग के आश्रम में शिक्षा के लिए भेजा था।

---

१. शृँगारप्रकाश दूताध्याय (२७ अध्याय)।
२. त्रिनेत्र के उत्तरपश्चिम लाहु (लाहुल) ग्राम इसे आजकल बताते हैं— नन्दलाल दे।
३. पाणिनि।
४. जायसवाल का इम्पिरियल हिस्ट्री पृ० १२।

व्याडि

व्याडि भी पाठान था और अपने मामा पाणिनि के वंश का प्रनप्ता था, क्योंकि इसे भी दाक्षायण कहा गया है। इसने लक्षश्लोकों का संग्रह तैयार किया, जिसे पतंजलि[1] अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। भर्तृहरि-वाक्यपदीय में भी कहा गया है कि संग्रह में १४,००० पदों में व्याकरण है। कुछ विद्वानों का मत है कि पतंजलि ने संग्रह के ऊपर ही भाष्य किया, क्योंकि प्रथम सूत्र 'अथशब्दानुशासनम्' जिसपर पतंजलि भाष्य करता है, न तो पाणिनि का ही प्रथम सूत्र है और न वार्तिक का ही। इस प्रकार, हम देखते हैं कि पाणिनि, व्याडि, वर्ष इत्यादि पाठान पंडितों ने संस्कृत की जो सेवा की, वह दुर्लभ है।

वररुचि

वररुचि कात्यायन गोत्र का था। इसने पाणिनि सूत्रों पर वार्तिक लिखा। वार्तिकों की कुल संख्या ५०३२ है, जो महाभाष्य में पाये जाते हैं। कैयट अपनी महाभाष्य टीका में ३४ और वार्तिकों का उल्लेख करता है। पाणिनि पश्चिम का था और कात्यायन पूर्व का। अतः भाषा की विषमता दूर करने के लिए वार्तिक की आवश्यकता हुई। नन्द की सभा में दोनों का विवाद हुआ था। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग का समकालीन था।

यद्यपि बौद्धों एवं जैनों ने अपने मत प्रचार के लिए प्रचलित भाषा क्रमशः पाली एवं प्राकृत को अपनाया, तो भी यह मानना भूल होगा कि इन मतों के प्रचार से संस्कृत को धक्का लगा। पूर्वकथित विद्वान् प्रायः इन मतों के प्रचार के बाद ही हुए, जिन्होंने संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों को समृद्ध किया। जनता में प्रचार के लिए ये भले ही चलती भाषा का प्रयोग करें; किन्तु ये सभी भारत की साधारण राष्ट्रभाषा संस्कृत के पोषक थे। इन्होंने ही बौद्धों की उत्तर शाखावाले संस्कृत वाङ्मय को जन्म दिया। सत्यतः इन मतों के प्रचार से संस्कृत को धक्का न लगा, प्रत्युत इसी काल में संस्कृत भाषा और साहित्य परिपक्व हुए।

भास

भास अपने नाटक में वत्सराज उदयन, मगधराज दर्शक तथा उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत का उल्लेख करता है। अतः यह नाटक या तो दर्शक के शासनकाल में या उसके उत्तराधिकारी उदयी (क०सं० २६१५-२६३१) के शासनकाल में लिखा गया है। सभी नाटकों के भरतवाक्य में राजसिंह[2] का उल्लेख है जो सिंहों के राजा शिशुनागवंश[3] का द्योतक है, जिनका लांच्छन सिंह था। गुप्तों का भी लांच्छन सिंह था; किन्तु भास कालिदास के पूर्व के हैं। अतः शिशुनाग काल में ही भास को मानना संगत होगा। अतः हम पाते हैं कि रूपक, व्याकरण, छन्द इत्यादि अनेक क्षेत्रों में साहित्य की प्रचुर उन्नति हुई।

---

१. पाणिनि २-३-६६।
२. स्वप्नवासवदत्तम् ६-१९।
३. पाणिनि २-२-३१।

एकोनविंश अध्याय

वैदिक साहित्य

प्राचीनकाल से श्रुति दो प्रकार की मानी गई है—वैदिकी और तांत्रिकी। इन दोनों में कौन अधिक प्राचीन[1] है, यह कहना कठिन है। किन्तु निःसन्देह वैदिक साहित्य सर्वमत से संसार के सभी धर्मग्रंथों की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है।

वैदिक साहित्य की रचना कब और कहाँ हुई, इसके संबंध में ठीक-ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। यद्यपि इतिहासकार के लिए तिथि एवं स्थान अत्यावश्यक है। आजकल भी लेखक का नाम और स्थान प्रायः आदि और अंत में लिखा जाता है। ये पृष्ठ बहुधा नष्ट हो जाते हैं या इनकी स्याही फीकी पड़ जाती है। इस दशा में इन हस्तलिपियों के लेखकों के काल और स्थान का ठीक पता लगाना कठिन हो जाता है।

पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों ने भारतीय साहित्य की महती सेवा की। किन्तु उनकी सेवा निःस्वार्थ न थी। हम उनके विद्याव्यसन, अनुसंधान, विचित्र सूझ, लगन और धुन की प्रशंसा भले ही करें, किन्तु यह सब केवल ज्ञान के लिए, ज्ञान की उच्च भावना से प्रेरित नहीं है। हमारे ग्रंथों का अनुवाद करना, उनपर प्रायः लम्बी-चौड़ी आलोचना लिखना, इन सबका प्रायः एक ही उद्देश्य[2] था—इनकी पोल खोलकर धार्मिक या राजनीतिक स्वार्थसिद्ध करना। निष्पक्षता का ढोंग रचने के लिए बीच में यत्र-तत्र प्रशंसावाक्य भी डाल दिये जाते। इसी कारण पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी पौरस्त्य विद्वानों की भी प्रवणता यूनानी और रोमन साहित्य की ओर होती है। ये विद्वान् किसी भी दशा में वैदिक साहित्य को बाइबिल के अनुसार जगदुत्पत्ति का आदि काल ४००४ खृष्ट पूर्व से पहले मानने को तैयार नहीं।

विभिन्न विद्वानों ने वेदरचना का निम्नलिखित काल[3] बतलाया है। यथा—

विद्वन्नाम	निम्नकाल	उच्चकाल
मोक्षमूलर	क० सं० २३००	क० सं० १६००
मुग्धानल	,, ,, २१००	,, ,, ११००
हॉग	,, ,, १७००	,, ,, ११००
विलसन्ग्रिफिथ	,, ,, १६००	,, ,, ११००
पार्जिटर	,, ,, ११००	,, ,, ६००
तिलक	क० पू० ३०००	क० पू० ३०००

---

१. इण्डियन कल्चर ४-१४६-७१ ऋग्वेद व मोहनजोदड़ो, लक्ष्मण स्वरूप लिखित।
२. कल्याण वर्ष १७ संख्या १ पृ० ३६-४० 'महाभारतांक' महाभारत और पाश्चात्य-विद्वान्: गंगाशंकरमिश्र लिखित।
३. संस्कृतरत्नाकर - वेदाङ्क १९९२ वि० सं० पृ० १३७, वेदकाल - निर्णय— श्री विद्याधर लिखित।

विद्वन्नाम	निम्नकाल	उच्चकाल
अविनाशचन्द्र दास	क० पू० २७,०००	क० पू० ३०,०००
दीनानाथ शास्त्री चुलैट	,, ,, २०,०००	,, ,, ३०,०००
नारायण भावनपागी	२,४०,०००	६०,००,००,००
दयानन्द	१,६७,२६,४६,६८४ वर्ष पूर्व	

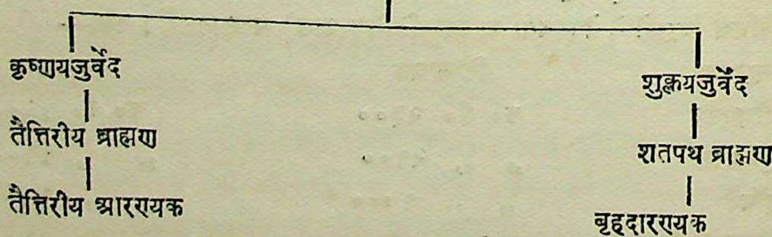
रचयिता

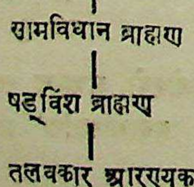
वेदान्तिक सारे वैदिक साहित्य को सनातन अनादि एवं अपौरुषेय मानते हैं। इस दशा में इनके रचयिता, काल और स्थान का प्रश्न ही नहीं उठता। नैयायिक एवं नैरुक्तक इन्हें पौरुषेय मानते हैं। महाभारत[1] लिखित भारतीय परम्परा के अनुसार कृष्णद्वैपायन पराशर सुत ने वेदों का सम्पादन किया। इसी कारण इन्हें वेदव्यास कहते हैं। वेदव्यास महाभारत युद्ध के समकालीन थे। अतः इनका काल प्रायः कलिसंवत् १२०० है।

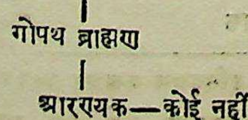
वेद चार हैं। प्रत्येक की अनेक शाखाएँ हैं। प्रत्येक वेद का ब्राह्मण (व्याख्या ग्रंथ) होता है। अथर्ववेद को छोड़कर प्रत्येक के आरण्यक होते हैं, जिन्हें जंगल में वानप्रस्थों को पढ़ाया जाता था। प्रत्येक वेद की उपनिषद् भी होती है। वेदसाहित्य-क्रम इस प्रकार है।

वेद संहिता के चार भेद हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेद।









---

१. महाभारत १-२।

वेदोद्गम

सारे वेदों की उत्पत्ति एक स्थान पर नहीं हुई; क्योंकि आधुनिक वैदिक साहित्य अनेक स्थान एवं विभिन्न कालों में निर्मित छंदों का संग्रहमात्र है। अतः यह कहना दुस्साहस होगा कि किस स्थान या प्रदेश में वेदों का निर्माण हुआ। यहाँ केवल यही दिखलाने का यत्न किया जायगा कि अधिकांश वैदिक साहित्य की रचना किस प्रदेश में हुई।

वैदिक इंडेक्स[1] के रचयिताओं के मत में आदिकाल के भारतीय आर्य या ऋग्वेद का स्थान सिंधु नदी से सिक्त वह प्रदेश है, जो ३५ और १३८ उत्तरी अक्षांश तथा ७० और ७८ पूर्व देशान्तर के मध्य है। यह आजकल की पंचनद भूमि एवं सीमान्त पश्चिमोत्तर प्रदेश का क्षेत्र है। 'मुग्धानल' कहता है कि आजकल का पंजाब विशाल बंजरप्रदेश है, जहाँ रावलपिंडी के पास उत्तर-पश्चिम कोण को छोड़कर अन्यत्र कहीं से भी पर्वत नहीं दिखाई देते और न मौसिमी हवा ही टकराती है। इधर कहीं भी प्रकृति का भयंकर उत्पात नहीं दिखाई देता, केवल शीततुं में अल्पवृष्टि हो जाती है। उषःकाल का दृश्य उत्तर में अन्य किसी स्थान की अपेक्षा भव्य होता है। अतः हापकिन्स का तर्क बुद्धिसंगत प्रतीत होता है कि केवल प्राचीन मंत्र ही (यथा वरुण एवं उषः के मंत्र) पंजाब में रचे गये तथा शेष मंत्रों की रचना अम्बाला के दक्षिण, सरस्वती के समीप, पूतक्षेत्र में हुई, जहाँ ऋग्वेद के अनुकूल सभी परिस्थितियाँ मिलती हैं।

उत्तर पंजाब

बुलनर[2] कहता है कि आर्यों के अम्बाला के दक्षिण प्रदेश में रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। ऋग्वेद[3] में नदियों के घर्घर शब्द करने का उल्लेख है तथा वृक्षों के शीत के कारण पत्रहीन[4] होने का उल्लेख है। अतः बुलनर के मत में पत्रविहीन वृक्ष पहाड़ों या उत्तर पंजाब का संकेत करते हैं। बुलनर के मत में अनेक मंत्र इस बात के द्योतक हैं कि वैदिक ऋषियों को इस बात का ज्ञान था कि नदियाँ पहाड़ों को काटकर बहती हैं, अतः अधिकांश वैदिक मंत्रों का निर्माण अम्बाला क्षेत्र में हुआ, ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है।

प्रयाग

पार्जिटर[5] का मत है कि ऋग्वेद का अधिकांश उस प्रदेश में रचा गया जहाँ ब्राह्मण धर्म का विकास हुआ है तथा जहाँ राजा भरत के उत्तराधिकारियों ने गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी के मैदान में राज्य किया था। ऋग्वेद की भाषा, जार्ज ग्रियर्सन के मत में, अन्तर्वेद की प्राचीनतम भाषा की द्योतक है, जहाँ आर्य-भाषा शुद्धतम थी और यहीं से वह सर्वत्र फैली।

---

१. वैदिक इंडेक्स भाग १।

२. बुलेटिन आफ स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज. लन्दन, भाग १०।

३. ऋग्वेद २-२५-५ तथा ४-२६-२।

४. ऋग्वेद १०-६८-१०।

५. ऐंशयिंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन लिखित एफ० ई० पार्जिटर।

जहाँ तक पंजाब का प्रश्न है, यह आर्यों के उत्तर-पश्चिम से भारत में आने के सिद्धान्त पर निर्धारित है। इन लोगों का मत है कि आर्य बाहर से आये और पंजाब में बस गये और यहीं वेद-मंत्रों का प्रथम उच्चारण हुआ। यहीं पहले-पहल यज्ञाग्नि धूम से आकाश अच्छादित हो उठा और यहीं से आर्य, पूर्व एवं दक्षिण की ओर गये जिन प्रदेशों के नाम वैदिक साहित्य में हम पाते हैं। आर्यों का बाहर से भारत में आक्रमणकारी के रूप में आने की बात केवल भ्रम है और किसी उर्वर मस्तिष्क की कोरी कल्पना मात्र है, जिसका सारे भारतीय साहित्य में या किसी अन्य देश के प्राचीन साहित्य में कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। सभी प्राचीन साहित्य इस विषय में मौन हैं। इसके पक्ष या विपक्ष में कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

पंजाब एवं ब्राह्मण दृष्टिकोण

अन्यत्र[१] यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि सृष्टि का प्रथम मनुष्य मूलस्थान (मुलतान) में पैदा हुआ। वह रेखागणित के अनुपात (Geometrical progression) से बढ़ने लगा और क्रमशः सारे उत्तर भारत में फैल गया।

वेदों का निर्माण आर्य सभ्यता के आरंभ में ही न हुआ होगा। सीमान्त पश्चिमोत्तर प्रदेश एवं पंजाब में कोई तीर्थ स्थान नहीं है। इसे आर्य श्रद्धा की दृष्टि से भी नहीं देखते थे।

महाभारत[२] में कर्ण ने पंचनद के लोगों को जो फटकार सुनाई है, वह सचमुच ब्राह्मणों की दृष्टि का द्योतक है कि वे पंजाब को कैसा समझते थे। इनका[३] वचन पौरुष एवं अभद्र होता है। इनका संगीत गर्दभ, खच्चर और ऊँट की बोली से मिलता-जुलता है। वाल्हीक (कांगड़ा प्रदेश) एवं मद्रवासी (रावी तथा चनाव का भाग) गो-मांस भक्षण करते हैं।

ये पलाण्डु के साथ गौड मदिरा, भेड़ का मांस, जंगली शूकर, कुक्कुट, गोमांस, गर्दभ और ऊँट निगल जाते हैं। ये हिमाचल, गंगा, जमुना सरस्वती तथा कुरुक्षेत्र से दूर रहते हैं और स्मृतियों के आचार से अनभिज्ञ हैं।

ब्राह्मण-मांस

सारे भारतीय साहित्य में केवल पंजाब में ही ब्राह्मणमांस ब्राह्मणों के सम्मुख परोसने का उल्लेख है। भले ही यह छल से किया गया हो। तुलसीदास की रामायण में भी वर्णन[४] है कि

१. ओरिजनल होम आफ आर्यन्स, त्रिवेद लिखित, एनाल्स, भण्डारकर ओ० रि० इन्स्टीटयूट, पूना, भाग २० पृ० ४१।

२. जर्नल आफ यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, भाग १६ पृ० ७-६२।
डाक्टर मोतीचन्द का महाभारत में भौगोलिक और आर्थिक अध्ययन।

३. महाभारत ८-४०-२०।

४. रामचरितमानस—

विश्वविदित एक कैकय देसू,
सत्यकेतु तँह बसइ नरेसू।
विविध मृगन्ह कइ आमिष राँधा,
तेहि महँ विप्र मांस खल साधा।

राजा भानुप्रताप के पाचक ने अनेक जानवरों के मांस के साथ ब्राह्मणों को ब्राह्मण का ही मांस परोस दिया और इससे ब्राह्मणों ने असप्रन्न होकर राजा को राक्षस होने का शाप दिया।

मध्यदेश को लोगों ने अभी तक वैदिक साहित्योद्गम की भूमि नहीं माना है। किसी प्रकार लोग पंचनद को ही वेदगर्भ मानते आये हैं। बिहार वैदिक साहित्य की उद्गम भूमि है या नहीं, इस प्रस्ताव को भी प्रमाणों की कसौटी पर कसना चाहिए। केवल पूर्व धारणा से प्रभावित न होना, शोधक का धर्म है।

वेद और अंगिरस

आदि में केवल चार गोत्र थे—भृगु, अंगिरा, वसिष्ठ तथा कश्यप। ऋग्वेद के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ एवं अष्टम मंडल में केवल गृत्समद, गौतम, भरद्वाज तथा कण्व ऋषि के ही मंत्र क्रमशः पाये जाते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् अष्टम मंडल को वंश का द्योतक नहीं मानते; किन्तु, अश्वलायन इस मंडल को वंश का ही द्योतक मानता है और इस मंडल को ऋषियों की प्रगाथा बतलाता है। इस मंडल के ११ बालखिल्यों को मिलाकर कुल १०३ सूक्त काण्वों के हैं। शेष ९२ सूक्तों में आधे से अधिक ५० सूक्तों अन्य काण्वों के हैं। अश्वलायन इसे प्रगाथा इसलिए कहता है कि इस मंडल के प्रथम सूक्त का ऋषि प्रगाथ है। किन्तु, प्रगाथ भी कण्व[1] वंशी है। गौतम और भरद्वाज अंगिरा वंश के हैं तथा काण्व भी अंगिरस हैं। इस प्रकार हम पाँच मंडलों में केवल अंगिरस[2] की ही प्रधानता पाते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के कुल १९१ सूक्तों में ११७ सूक्त अंगिरस के ही हैं।

ऋग्वेद[3] में अंगिरस और उसके वंशजों की स्तुति है। यह होता एवं इन्द्र का मित्र है। पहले-पहल इसी को यज्ञ प्रक्रिया सूझी और इसी ने समझा कि यज्ञाग्नि काष्ठ में सन्निहित है। यह इन्द्र का लंगोटिया यार है। ऋग्वेद के चतुर्थांश मंत्र केवल इन्द्र के लिए हैं। अंगरा ने इन्द्र के अनुयायियों का सर्वप्रथम साथ दिया। इसी कारण अंगिरामन्यु अवेस्ता में पारसियों का शैतान है। इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ अंगिरा अर्थात् अंगिरस्तम कहा गया है। अतः हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद के आधे से भी अधिक मन्त्रों की रचना अंगिरा और उसके वंशजों ने की।

अथर्ववेद

महाभारत[4] कहता है कि अंगिरा ने सारे अथर्ववेद की रचना और इन्द्र की स्तुति की। इस पर इन्द्र ने घोषणा की कि इस वेद को अथर्वांगिरस कहा जायगा तथा यज्ञ में अंगिरा को बलि भाग मिलेगा। याज्ञवल्क्य का भागिनेय पैप्पलाद ने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा की रचना की। सचमुच, पैप्पलाद ने अपने मातुल की देखा-देखी ही ऐसा साहस किया। याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन का तिरस्कार किया और शुक्ल यजुर्वेद की रचना की। महाभारत में तो अथर्ववेद को अत्युच्चस्थान मिला है और कई स्थानों पर इसे ही वेदों का प्रतिनिधि माना गया है। अतः

---

१. ऋग्वेद ८-४८ तथा सद्गुरु शिष्यटीका।
२. जर्नल बिहार रिसर्च सोसायटी, भाग २८ 'अंगरिस'।
३. ऋग्वेद १०-६२।
४. महाभारत ५-१८-५८।

हम देखते हैं कि सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा अधिकांश ऋग्वेद की रचना आंगिरसों के द्वारा पूर्व में हुई। अथर्ववेद तो सम्भवतः मगध की ही रचना है। इसमें रुद्र की पूरी स्तुति है, क्योंकि रुद्र व्रात्यों का प्रधान देवता था। संभवतः इसी कारण अथर्ववेद को कुछ लोग कुदृष्टि से देखते हैं।

वैशाली राजा

हमें ज्ञात है कि आधुनिक बिहार में स्थित वैशाली के राजा अवीक्षित, मरुत् इत्यादि के पुरोहित अंगिरा वंश के थे। दीर्घतमस्[1] भी इसी वंश का था जिसने बली की स्त्री से पाँच क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न किया था। अतः हम कह सकते हैं कि आंगिरस प्राचीन या आधुनिक बिहार के थे। बिहार के अनेक राजाओं ने भी वेदमंत्रों की रचना की, यथा—वत्सप्री, भलन्दन, आदि। विश्वामित्र का पवित्र स्थान आज के शाहाबाद जिले के अन्तर्गत बक्सर में था। कौशिक से सम्बद्ध कौशिकी तट भी बिहार प्रदेश में ही है।

रुद्र-महिमा

याज्ञवल्क्य अपने शुक्ल यजुर्वेद में रुद्र की महिमा सर्वोपरि बतलाता है; क्योंकि रुद्र मगध देश के व्रात्यों का प्रधान देवता था और वही जनता में अधिक प्रिय भी था। चिन्तामणि विनायक वैद्य[2] का अनुमान है कि अथर्ववेद काल में ही मगध में लिंग-पूजा और रुद्र-पूजा का एकीकरण हुआ, जो काशी से अधिक दूर नहीं है। इसी कारण काशी के शिव सारे भारत में सर्वश्रेष्ठ माने गये।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी हम प्राचीन बिहार के याज्ञवल्क्य को ही शतपथ ब्राह्मण का रचयिता पाते हैं। इसी ब्राह्मण ग्रंथ का अनुकरण करते हुए अनेक ऋषियों ने विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की। ध्यान रहे कि शतपथ ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा बृहत् है।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्य के लिए अपने शुक्ल यजुर्वेद को जनता में प्रतिष्ठित करना कठिन था। तत्कालीन वैदिक विद्वान् यजुर्वेद की महत्ता स्वीकार करने को तैयार न थे। याज्ञवल्क्य के शिष्यों ने अपना समर्थक तथा पोषक परीक्षित् पुत्र जनमेजय में पाया जिसने वाजसनेय ब्राह्मणों को प्रतिष्ठित किया। इससे वैशम्पायन चिढ़ गया और उसने क्रोध में कहा[3]—"रे मूर्ख! जब तक मैं संसार में जीवित हूँ तुम्हारे वचन मान्य न होंगे और तुम्हारा शुक्ल यजुर्वेद प्रतिष्ठित होने पर भी स्तुत्य न होगा।" अतः राजा जनमेजय ने पौर्णमास यज्ञ किया; किन्तु इस यज्ञ में भी वही बाधा रही। अतः जनमेजय ने वाजसनेय ब्राह्मणों को जनता में प्रतिष्ठित करने के लिए दो अन्य यज्ञ किये तथा उसने अपने बाहुबल से अश्मक, मध्य देश तथा अन्य क्षेत्रों में शुक्ल यजुर्वेद की मान्यता दिलवाई।

---

१. ऋग्वेद १·६८।

२. हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर भाग १ देखें।

३. वायुपुराण, अनुषंगपाद, २-३७-१।

उपनिषद् का निर्माण

ब्रह्मविद्या या उपनिषदों का भी देश विदेह-मगध ही है जहाँ चिरकाल से लोग इस विद्या में पारंगत थे। मक्डुनल का मत है कि उपनिषदों का स्थान कुरुपांचाल देश है न कि पूर्व देश; क्योंकि याज्ञवल्क्य का गुरु उद्दालक आरुणि कुरु-पांचाल का रहनेवाला था। किन्तु, स्मृति में याज्ञवल्क्य को मिथिलावासी बताया गया है। अपितु शाकल्य याज्ञवल्क्य को कुरु-पांचाल ब्राह्मणों के निरादर का दोषी ठहराता है। इससे सिद्ध है कि याज्ञवल्क्य स्वयं कुरु-पांचाल का ब्राह्मण न था। याज्ञवल्क्य का कार्यक्षेत्र प्रधानतः विदेह ही है। काशी का राजा अजातशत्रु भी जनकसभा को ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है, जहाँ लोग ब्रह्मविद्या के लिए टूट पड़ते थे।

जनक की सभा में भी याज्ञवल्क्य अपने तथाकथित गुरु उद्दालक आरुणि को निरुत्तर कर देता है। व्यास अपने पुत्र शुक[1] को जनक के पास मोक्ष विद्या ज्ञान के लिए भेजता है। अतः इससे प्रकट है कि मोक्ष विद्या का स्थान भी प्राचीन बिहार ही है।

आस्तिक्य भ्रंश

अपितु उपनिषदों में अस्तिक ब्राह्मण सभ्यता के विरुद्ध भाव पाये जाते हैं। इनमें यज्ञों का परिहास किया गया है। इनमें विचार स्वातंत्र्य की भरमार है। इनका स्रोत हम अथर्ववेद में भी खोज सकते हैं,जहाँ ब्राह्मणों ने अपना अलग मार्ग ही ढूँढ़ निकाला है। प्राची के इतिहास में हम बौद्ध और जैन काल में क्षत्रियों के प्रभुत्व से इस अन्तराल को बृहत्तर पाते हैं। संभवतः यहाँ की भूमि में ही यह गुण है और यहीं के लोग इस साँचे में ढले हुए हैं कि यहाँ परम स्वतंत्र स्वच्छन्द विचारों का पोषण होता है, जो उपनिषद, बौद्ध एवं जैनागम से भी सिद्ध है। ज्ञान की दृष्टि से यहीं के लोग भारत के विभिन्न समुदायों के जन्म देने की योग्यता रखते थे। व्रात्य, बौद्ध, जैन तथा अन्य अनेक लघु सम्प्रदाय जो स्वाधीन चिंतन को लक्ष्य बनाकर चले; मगध में ही जन्मे थे। संस्कृत साहित्य निर्माण काल में भी हम बिहार के पाटलिपुत्र को सारे भारत में विद्या का केन्द्र पाते हैं, जहाँ लोग बाहर से आकर परीक्षा देकर समुत्तीर्ण होने पर ख्यात होते थे। वर्त्तमान काल में महात्मागांधी को भी राजनीतिक क्षेत्र में सर्वप्रथम बिहार में ही ख्याति मिली। गुरु गोविन्द सिंह का जन्म भी बिहार में ही हुआ था। जिन्होंने सिक्खों को लड़ाका बनाया और इस प्रकार सिक्ख सम्प्रदाय की राज्य-शक्ति को स्थिर करने में सहायता दी।

संभवतः,वैदिक धर्म का प्रादुर्भाव भी सर्वप्रथम प्राची[2] में ही हुआ था; जहाँ से कुरु-पांचाल में जाकर इसकी जड़ जमी, जिस प्रकार जैनों का अड्डा गुजरात और कर्णाटक हुआ। इसी प्रदेश में फिर औपनिषद ज्ञान का आविर्भाव हुआ, जिसने क्रमशः बौद्ध और जैन दर्शनों को जन्म दिया और विचार स्वातंत्र्य को प्रोत्साहित करके, मनुष्य को कट्टरता के पाश से मुक्त रखा। महाभारत में कर्ण जिस प्रकार पञ्चनद भूमि की निन्दा करता है, वह इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मण लोग पंचनद को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। अतः यह अनुमान भी निराधार नहीं है कि वेदों का सही उच्चारण भी पंजाब में नहीं होता होगा; वेदों की रचना तो दूर की बात है।

स्मृतियों में मगध यात्रा के निषेध का कारण इस प्रांत में बौद्ध एवं जैन इन दो नास्तिक धर्मों का उदय था और इस निषेध का उल्लेख बाद के साहित्य में पाया जाता है। ऋग्वेद के

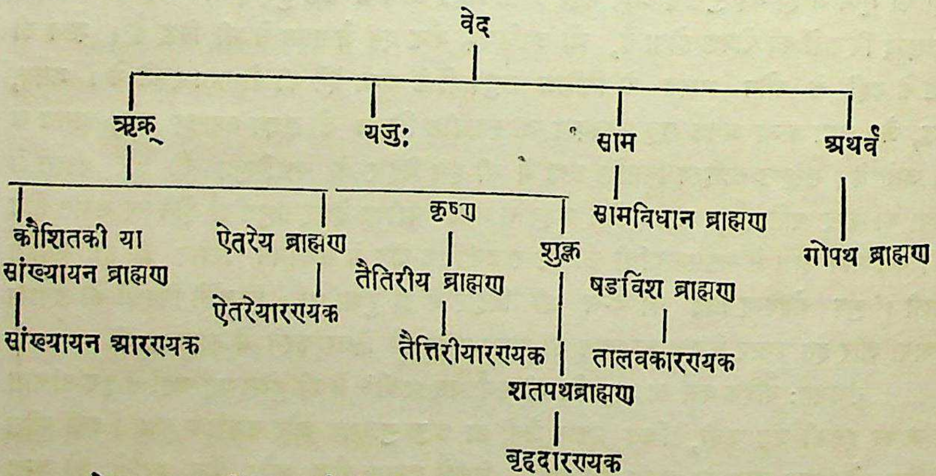
१. भागवत ४-१३-२७।

२. हूसे होम आफ उपनिषद् उमेशचन्द्र भट्टाचार्यलिखित इण्डियन ऐंटिक्वेरी, १९२८ पृ० १६६-१७३ तथा १८५-१८१।

तथाकथित मगध परिहास को इन लोगों ने ठीक से नहीं समझा है। नैचा शाख का अर्थ सोमलता और प्रमगन्द का अर्थ ज्योतिर्देश होता है। अपितु यह मंत्र बिहार के किसी ऋषि की रचना नहीं है। विश्वामित्र और रावी का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। किन्तु, विश्वामित्र की प्रिय भूमि तो बिहार ही है। ऋषि तो सारे भारत में पर्यटन करते थे। ऋग्वेद की सभी नदियाँ पंजाब की नहीं हैं। इनमें गंगा तो निःसन्देह बिहार से होकर बहती है। अपितु, गंगा का ही नाम नदियों में सर्वप्रथम आता है और यह उल्लेख ऋग्वेद के दशम मंडल में है, जिसे आधुनिक विद्वान् कालान्तर की रचना मानते हैं। कीथ[1] कहता है कि ऋग्वेद का दशम मंडल छंदों के विचार और भाषा की दृष्टि से अन्य मंडलों की अपेक्षा बहुत बाद का है। ऋग्वेद (१०-२०-२६) का एक ऋषि तो प्रथम मंडल का आरम्भ ही अपने मंत्र को आदि में रखता है और इस प्रकार वह अपने पूर्व ऋषियों के ऊपर अपनी निर्भरता प्रकट करता है।

इस प्रकार हम वैदिक साहित्य के आंतरिक अध्ययन और उनके ऋषियों की तुलना से इस निष्कर्ष[2] पर पहुँचते हैं कि संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का अधिकांश बिहार प्रदेश में ही रचा गया था, न कि भारत के अन्य भागों में। विद्वानों में इस विषय पर मतभेद भले ही हो; किन्तु, यदि शान्त और निष्पक्ष दृष्टि से इस विषय का अध्ययन किया जाय तो वे भी इसी निर्णय पर पहुँचेंगे।

वेद-प्रक्रिया



वेद एक पुरुष के समान है जिसके विभिन्न अंग शरीर में होते हैं। अतः वेद के भी छः प्रधान अंग हैं जिन्हें वेदांग कहते हैं। पाणिनि[3] के अनुसार छन्द (पाद), कल्प (हस्त), ज्योतिष (चक्षु), निरुक्त (कर्ण), शिक्षा (नासिका) तथा व्याकरण (मुख) है। उपवेद भी चार हैं। यथा—स्थापत्यवेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और आयुर्वेद। इनके सिवा उपनिषद् भी वेद समझे जाते हैं।

---

१. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० ७७

२. होम आफ वेद, त्रिवेदलिखित, देखें—अनाल्स भण्डारकर ओ० टि० इंस्टीट्यूट, पूना, सन् १९४२।

३. शिक्षा ४१-४२

विंश अध्याय

तन्त्र शास्त्र

ऋग्वेद में देवी सूक्त और यजुर्वेद में लक्ष्मी सूक्त मिलता है। केनोपनिषद्[1] में पर्वत कन्या उमा सिंहवाहिनी इन्द्रादि देवों के संमुख तेज पूर्ण होकर प्रकट होती है और कहती है कि संसार में जो कुछ भी होता है, उसका कारण महाशक्ति है। शाक्यसिंहगौतम[2] भी कहता है कि मूर्ख लोग देवी, कात्यायनी, गणपति इत्यादि देवों की उपासना श्मशान और चौराहे पर करते हैं। रामायण में विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को बला और अतिबला तांत्रिक विद्याओं की शिक्षा देते हैं। स्मृति पुराणों में तंत्र शास्त्र का उल्लेख मिलता है। किंतु तंत्र शास्त्रों में कहीं भी इनका उल्लेख नहीं है। महाभारत कहता है कि सत्ययुग में योगाधीन रुद्र ने तंत्र-शास्त्र की शिक्षा बालखिल्यों को दी ; किन्तु कालान्तर में यह लुप्त हो गया।

मोहनजोदारों और हड़प्पा की खुदाई से पता चलता है कि भारत की शक्तिपूजा एशिया-माइनर एवं भूमध्य सागर के प्रदेशों में प्रचलित मातृ-पूजा से बहुत मिलती-जुलती है तथा चालकोथिक काल में भारत एवं पश्चिम एशिया की सभ्यता एक समान थी। कुछ लोगों का यह मत है कि यहाँ के आदिवासी शक्ति, प्रेत, सांप तथा वृक्ष की पूजा करते हैं, जो शक्ति सम्प्रदाय के मूल हैं ; क्योंकि शक्ति की पूजा सारे भारत में होती है। डाक्टर हटन[3] कहते हैं कि आधुनिक हिंदू धर्म वैदिक धर्म से प्राचीन है। इसी कारण इस धर्म में अनेक परम्पराएँ ऐसी हैं जो वैदिक साहित्य में कहीं भी नहीं मिलती। इसकी उपलब्ध संहिता अति प्राचीन नहीं है ; क्योंकि यह सर्वदा वर्धमान और परिवर्त्तनशील रही है।

तंत्र-शास्त्र अद्वैत मत का प्रचारक है। यह प्रायः शिव-पार्वती या भैरव-भैरवी संवाद के रूप में मिलता है। इसमें संसार की सभी वस्तुओं और विषयों का वर्णन है। इसका अध्ययन एवं मनन, आबाल-वृद्ध-वनिता सभी देश और काल के लोग कर सकते हैं। स्त्री भी गुरु हो सकती है। यह गुप्त विद्या है, जो पुस्तक से नहीं; किन्तु, गुरु से ही सीखी जा सकती है। यह प्रत्यक्ष शास्त्र है।

गुणों के अनुसार तंत्र के तीन भाग (तन्त्र, यामल और डामर) भारत के तीन प्रदेशों में (अश्वक्रान्त, रथक्रान्त और विष्णुक्रान्त में) पाये जाते हैं। प्रत्येक के ६४ ग्रन्थ हैं। इस प्रकार तंत्रों की कुल संख्या १९२ हैं। ये तीन प्रदेश कौन है, ठीक नहीं कहा जा सकता। शक्तिमंगलातंत्र के अनुसार विष्णुक्रान्त विन्ध्यपर्वत श्रेणी से चट्टल (चट्टग्राम) तक फैला है। रथक्रान्त चट्टल से महाचीन तक तथा अश्वक्रान्त विन्ध्य से महासमुद्र तक फैला है।

बिहार में वैद्यनाथ, गण्डकी, शोण देश, करतोया तट, मिथिला और मगध देवी के ५२ पीठों में से हैं। इसके सिवा गया एवं शोण संगम भी पूज्य स्थान हैं। कहा जाता है कि पटना में देवी का सिर गिरा था, जहां पटनदेवी की पूजा होती है।

---

१. केन उपनिषद् ३-१२।

२. ललितविस्तर, अध्याय १७।

३. सन् १९३१ की सेंसररिपोर्ट भूमिका।

एकविंश अध्याय

बौद्धिक क्रान्ति-युग

भारत का प्राचीन धर्म लुप्तप्राय हो रहा था। धर्म का तत्त्व लोग भूल गये थे। केवल बाहरी उपचार ही धर्म मात्र था। ब्राह्मण लोभी, अनपढ़ तथा आडम्बर और दंभ के स्रोत मात्र रह गये थे। अतः स्वयं ब्राह्मण स्मृतिकारों ने ही इस पद्धति की घोर निन्दा की। वसिष्ठ[1] कहता है—जो ब्राह्मण वेदाध्ययन या अध्यापन नहीं करता या आहुताग्नि नहीं रखता, वह शूद्रपाय हो जाता है। राजा उस ग्राम को दण्ड दे, जहाँ के ब्राह्मण वेदविहित स्वधर्म का पालन नहीं करते और भिक्षाटन से अपना पेट पालते हैं। ऐसे ब्राह्मणों को अन्न देना डाकुओं का पालन करना है।

विक्रम की उन्नीसवीं शती में फ्रांस की प्रथम राज्य-क्रान्ति के दो प्रमुख कारण बताये गये हैं—राजाओं का अत्याचार तथा दार्शनिकों का बौद्धिक उत्पात। भारत में भी बौद्ध और जैन-क्रान्तियाँ इन्हीं कारणों[2] से हुईं।

मूर्खता की पराकाष्ठा तो तब हो गई जब जरासंध इत्यादि राजाओं ने पुरुषमेध करना आरंभ किया। उसके यज्ञ पारस्परिक कलह के कारण हो गये। उत्तराध्ययन[3] सूत्र कहता है कि पशुओं का बध वेद, और यज्ञ, पाप के कारण होने के कारण पापी की रक्षा नहीं कर सकते।

यह क्रांति क्षत्रियों का ब्राह्मणों के प्रति वर्ण-व्यवस्था के कारण न था। नये-नये मतों के प्रचारकों ने यज्ञ क्रिया, उपनिषद् और तर्क से शिक्षा ली तथा दर्शन का संबन्ध उन्होंने लोगों के नित्य कर्म के साथ स्थापित कर दिया।

यह मानना भ्रम होगा कि इन मतों का पृथक् अस्तित्व था। विंसेंट[4] स्मिथ सत्य कहता है—"बौद्ध धर्म कभी भी किसी काल में भारत का प्रचलित धर्म न था। बौद्ध काल की संज्ञा भ्रम और भूल है; क्योंकि बौद्ध या जैन धर्म का दबदबा कभी भी इतना नहीं बैठा कि उनके सामने ब्राह्मण धर्म लुप्तप्राय हो गया हो।"

ब्राह्मण अपना श्रेष्ठत्व एवं यज्ञ का कारण वेद को बतलाते थे, जो ईश्वरकृत कहे जाते थे। अतः इन नूतन मत-प्रवर्तकों ने वेद एवं ईश्वर दोनों के अस्तित्व को गवाक्ष पर रख दिया।

---

१. वसिष्ठ स्मृति ३-१; ३-४।

२. रमेशचन्द्रदत्त का एंशियंट इंडिया, कलकत्ता, १८९० पृ० २२५।

३. सैक्रेड बुक ऑफ इस्ट भाग ४५ पृ० ३७।

४. आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया; १९२५ पृ० ५५।

जैनमत

जैनमत ने अहिंसा को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। जैन शब्द 'जिन' से बना है, जिसका अर्थ होता है जीतनेवाला। यदि किसी अनादि देव को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानना ही नास्तिकता है तो जैन महा नास्तिक हैं। इनके गुरु या तीर्थंकर ही सब कुछ हैं, जिनकी मूर्त्तियाँ मंदिरों में पूजी जाती हैं[1]। वे सृष्टि को अनादि मानते हैं, जीव को भी अनन्त मानते हैं, कर्म में विश्वास करते हैं तथा सद्ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति मानते हैं। मनुष्य अपने पूर्वजन्म के कर्मानुसार उच्च या नीच वर्णों में उत्पन्न होता है, तथापि प्रेम और पवित्र जीवन से वह सर्वोच्च स्थान पा सकता है। किन्तु दिगम्बरों के मत में शूद्रों और स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिल सकता।

जैनमत का प्रादुर्भाव कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जैन-परम्परा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण, माघ कृष्ण चतुर्दशी को आज से अनेक वर्ष पूर्व हुआ था। उस संख्या को जैन लोग ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४६५१२१ के आगे ४५ बार ६ लिखकर प्रकट करते हैं। जैन जनता का विश्वास है कि ऐसा लिखने से जो संख्या बनती है, उतने ही वर्ष पूर्व ऋषभदेव का निर्वाण हुआ था। श्रीमद्भागवत[2] के अनुसार ये विष्णु के २४ अवतारों में से एक अवतार थे। ये ऋषभदेव राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित होकर अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने जड़ों की भाँति योगचर्या का आचरण किया। ऋषभदेव और नेमिनाथ को छोड़कर सभी तीर्थंकरों[3] का निर्वाण बिहार प्रदेश में ही हुआ। वासुपूज्य का निर्वाण चम्पा में, महावीर का मध्यम पावा में और शेष तीर्थंकरों का निर्वाण सम्मेद-शिखर (पार्श्वनाथ पर्वत) पर हुआ।

हिन्दुओं के २४ अवतार के समान जैनों के २४ तीर्थंकर हैं। जिस प्रकार बौद्धों के कुल पचीस बुद्ध हैं, जिनमें शाक्यमुनि अंतिम बुद्ध हुए। जैनों के १२ चक्रवर्त्ती राजा हुए और प्रायः प्रत्येक चक्रवर्त्ती के काल में दो तीर्थंकर हुए। ये चक्रवर्त्ती हिन्दुओं के १४ मनु के समान हैं। तीर्थंकरों का जीवन-चरित्र महावीर के जीवन से बहुत मेल खाता है; किन्तु धीरे-धीरे प्रत्येक तीर्थंकर की आयु क्षीण होती जाती है। प्रत्येक तीर्थंकर की माता गर्भधारण के समय एक ही प्रकार की १४ स्वप्न देखती है।

बाइसवें तीर्थंकर नेमि भगवान् श्रीकृष्ण के समकालीन हैं। जैनों के ६३ महापुरुषों में (तुलना करें—त्रिषष्ठिशलाका चरित) २७ श्रीकृष्ण के समकालीन हैं।

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ[4] के जीवन-सम्बन्धी पवित्र कार्य विशाखा नक्षत्र में हुए। इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे तथा इनकी माता का नाम वामा था। घातकी वृक्ष के नीचे इन्हें कैवल्य

१. हापकिन्स रेलिजन्स आफ इण्डिया, लन्दन १८९०, पृ० २८५-६.

२. भागवत ३-७-१०।

३. तुलना करें—लातिन भाषा का पांटिफेक्स (pontifex)। जिस प्रकार रोमवासी सेतु की मूर्त्ति का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार भारतीय तीर्थ (बन्दरगाह) का प्रयोग करते हैं।

४. सेक्रेड बुक आफ इस्ट, पृ० २७१-७४ (कल्पसूत्र)।

प्राप्त हुआ। इनके अनेक शिष्य थे, जिनमें १६००० श्रमण, ३८००० भिक्षुणियाँ तथा १६४,००० उपासक थे। इनका जन्म पौष कृष्ण चतुर्दशी को अर्द्धरात्रि के समय तथा देहावसान १०० वर्ष की अवस्था में श्रावण शुक्लाष्टमी क० सं० २२५१ में हुआ। सूर्य इनका लाञ्छन था। इनके जन्म के पूर्व इनकी माता ने पार्श्व में एक सर्प देखा था, इसीसे इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा। ये ७० वर्ष तक श्रमण रहे। पार्श्वनाथ के पूर्व सभी तीर्थंकरों का जीवन कल्पना-क्षेत्र का विषय प्रतीत होता है। पार्श्वनाथ ने महावीर-जन्म के २५० वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर

भगवान् महावीर के जीवन की पाँच प्रमुख घटनाएँ—गर्भप्रवेश, गर्भस्थानान्तरण, जन्म, श्रामण्य और कैवल्य—उस नक्षत्र में हुई जब चन्द्र उत्तराफाल्गुणी में था। किन्तु, इनका निर्वाण स्वातिका में हुआ।

परम्परा के अनुसार इन्होंने वैशाली के पास कुण्डग्राम के एक ब्राह्मण ऋषभदत्त की भार्या देवनन्दा के गर्भ में आधी रात को प्रवेश किया। इनका जन्म चैत्र शुक्ल १४ को कलि संवत् २५०२ में पार्श्वनाथ के निर्वाण के ठीक २५० वर्ष बाद हुआ। कल्पसूत्र[1] के अनुसार महावीर के भ्रूण का स्थानान्तरण काश्यपगोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला या प्रियकारिणी के गर्भ में हुआ और त्रिशला का भ्रूण ब्राह्मणी के गर्भ में चला गया। सम्भवतः बाल्यकाल में ही इन दोनों बालकों का परिवर्तन हुआ और विशेष प्रतिभाशाली होने के कारण ब्राह्मणपुत्र का लालन-पालन राजकुल में हुआ। राज्य में सर्वप्रकार की समृद्धि होने से पुत्र का नाम वर्द्धमान रखा गया। अपितु संभव है कि इस जन्म को अधिक महत्ता देने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय दो वंशों का समन्वय किया गया। इनकी मा त्रिशला वसिष्ठ गोत्र की थी और विदेहराज चेटक की बहन थी। नन्दिवर्द्धन इनका ज्येष्ठ भ्राता था। तथा सुदर्शना इनकी बहन थी। इनके माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

तेरह वर्ष की अवस्था में महावीर ने कौण्डिन्यगोत्र की कन्या यशोदा का पाणिग्रहण किया, जिससे इन्हें अनवद्या (=अनोज्जा) या प्रियदर्शना कन्या उत्पन्न हुई जिसने इनके भ्रातृज मंखलि का पाणिग्रहण किया।

जब ये ३० वर्ष के हुए तब इनके माता-पिता संसार से कूच कर गये। अतः मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को इन्होंने अपने ज्येष्ठ भाई की आज्ञा से अध्यात्म क्षेत्र में पदार्पण किया। पाश्चात्य देशों की तरह प्राची में भी महत्वाकांक्षी छोटे भाइयों के लिए धर्मसंघ में यथेष्ट क्षेत्र था। इन्होंने १२ वर्ष घोर तपस्या करने के बाद, ऋजुपालिका[2] नदी के तट पर, सन्ध्याकाल में, जंभियग्राम के पास, शालवृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त किया। इन्होंने राढ़, वज्रभूमि और स्वभ्रभूमि में खूब यात्रा की। लोगों के यातनाओं की कभी परवाह न की। इन्होंने प्रथम चातुर्मास्य अस्थिग्राम में,[3] तीन चम्पा और पृष्ठि-

१. सैक्रेड बुक आफ इस्ट, भाग २२, पृ० २१७।

२. यह हजारीबाग जिले में गिरिडीह की बराबर नदी के पास है। गिरिडीह से चार कोस दूरी पर एक मन्दिर के अभिलेख से प्रकट है कि पहले यह अभिलेख ऋजुपालिका के तट पर जृंभिका ग्राम में पार्श्वनाथ पर्वत के पास था।

३. कल्पसूत्र के अनुसार इसे वर्द्धमान कहते थे। यह आजकल का वर्दवान हो सकता है।

चम्पा में तथा आठ चातुर्मास्य वैशाली और वणिग् ग्राम में व्यतीत किया। वर्षा को छोड़कर ये शेष आठ मास प्रति गाँव एक दिन और नगर में पाँच दिन से अधिक न व्यतीत करते थे।

बयालीस वर्ष की अवस्था में श्यामक नामक गृहस्थ के क्षेत्र में यह वैशाख शुक्ल दशमी को केवली या जिन या अर्हत् हुए। तीस वर्ष तक घूम-घूमकर इन्होंने उत्तर भारत में धर्म का प्रचार किया। 'जिन' होने पर इन्होंने चार चातुर्मास वैशाली और वणिग्ग्राम में, १४ राजगृह और नालन्दा में, ६ चातुर्मास मिथिला में, दो चातुर्मास भद्रिका में, एक आलभिका में,[1] एक प्रणित भूमि में, एक श्रावस्ती में तथा अन्तिम एक चातुर्मास पावापुरी में व्यतीत किया। कार्तिक अमावस्या अन्तिम प्रहर में पावापुरी में[2] राजा हस्तिपाल के वासस्थान पर इन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ।

कलि-संवत् २५७४ में इनका निर्वाण हुआ। इनके अवशेष की विहित क्रिया काशी एवं कोशल के १८ गणराजाओं तथा नवमल्लकी तथा नवलिच्छवी गणराजाओं के द्वारा सम्पन्न की गई। महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य जोड़ दिया और इसे पञ्चयाम धर्म बतलाया।

भगवान् महावीर के १४००० श्रावक थे, जिनमें इन्द्रभूति प्रमुख था; ३६००० श्राविकाएँ थीं, जिनका संचालन चन्दना करती थी। इनके १,५६,००० शिष्य तथा ३,१८,००० शिष्याएँ थीं।

महावीर ने ही भिक्षुकों को वस्त्र त्यागने का आदेश किया और स्वयं इसका आदर्श उपस्थित किया। यह वस्त्रत्याग भले हीं साधारण बात हो; किन्तु इसका प्रभाव स्थायी रहा। भद्रबाहु जैनधर्म में प्रमुख स्थान रखता है। इसका महावीरचरित, अश्वघोष के बुद्धचरित से बहुत मिलता-जुलता है। यह भद्रबाहु छठा थेर या स्थविर (माननीय वृद्ध पुरुष) है। यह चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। दुर्भिक्ष के कारण यह भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अन्य अनुयायिओं के साथ दक्षिण भारत चला गया। संभवतः यह कल्पना महीसूर प्रदेश में जैन-प्रचार को महत्ता देने के लिए की गई[3]।

कुछ काल बाद कहा जाता है कि दुर्भिक्ष समाप्त होने पर कुछ लोग पाटलिपुत्र लौट आये और यहाँ धर्मबंधन ढीला पाया। दक्षिण के लोग उत्तरापथ के लोगों को धर्मबधन में शिथिल पाते हैं। अपितु वस्त्रधारण उत्तरापथ के लिए आवश्यक था; किन्तु दक्षिणापथ के लिए दिगम्बर होना जलवायु की दृष्टि से अधिक युक्त था; अतः दक्षिण के दिगम्बरों ने उत्तरापथ की परम्पराओं को मानना अस्वीकार कर दिया। यह जैन-संघ में विच्छेद का सप्तम अवसर था। प्रथम विच्छेद तो महावीर के जामाता मंखलि ने ही खड़ा किया।

महावीरकाल

मैसुर के जैन, महावीर का निर्वाण[4] विक्रम-संवत् के ६०७ वर्ष पूर्व मानते हैं। यहाँ, संभवतः विक्रम और शक-संवत् में भूल हुई है। त्रिलोकसार की टीका करते हुए एक दाक्षिणात्य

---

१. इटावा से २७ मील पूर्वोत्तर आलभिका (अविवा)—नन्दलाल दे।

२. यह राजगृह के पास है। कुछ लोग इसे कसिया के पास पापा या अपापापुरी बतलाते हैं।

३. प्रोफेसर लुई रेणु लिखित—प्राचीन भारत के धर्म, लन्दन विश्वविद्यालय १९५३, देखें।

४. इण्डियन ऐंटिक्वेरी १८८३ पृ० २१, के० बी० पाठक लिखित।

ने शक-संवत और विक्रम-संवत् में विभेद नहीं किया। त्रिलोकसार कहता है कि वीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ मास बीतने पर शकराज का जन्म हुआ।

उत्तरभारत के श्वेताम्बर जैन, महावीर का निर्वाण विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व मानते हैं। श्रावकाचार्य बतलाते हैं कि वीर-संवत् १७८० में परिधावी संवत्सर था। यह शक-संवत् ११७५ (१७८०-६०५) का द्योतक है। फ्लीट ने एक अभिलेख का उल्लेख किया है जो शक-संवत ११७५ में परिधावी संवत्सर का वर्णन करता है। अपितु शक और विक्रम-संवत् के प्रारंभ में १३५ वर्ष का अंतर होता है (७८ + ५७), अतः दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रायः एक मत हैं कि (४७० + १३५) = ६०५ वर्ष विक्रम-पूर्व महावीर का निर्वाण कर्नाटक में हुआ। दो वर्ष का अंतर संभवतः, गर्भाधान और उसके कुछ पूर्व संस्कारों की गणना[1] के कारण हैं।

कुछ आधुनिक विद्वान् हेमचन्द्र के आधार पर महावीर का निर्वाणकाल कलि-संवत् २६३४ मानते हैं। हेमचन्द्र कहता है कि चन्द्रगुप्त वीर-निर्वाण के १५५ वर्ष बाद गद्दी पर बैठा। अतः, लोगों ने (२७७६-१५५) क० सं० २६३४ को ही महावीर का निर्वाणकाल माना है। संभवतः चन्द्रगुप्त के प्रशंसकों ने उसके जन्म-काल से ही उसको राज्याधिकारी माना। चन्द्रगुप्त का जन्म क० सं० २७२६ में हुआ था। चन्द्रगुप्त १६ वर्ष तक गृहयुद्ध में व्यस्त रहा, और दो वर्ष उसे राज्यकार्य सँभालने में लगे। अतः, यह सचमुच क० सं० २७७६ में गद्दी पर बैठा था। क० सं० २७८६ में सेल्यूकस को पराजित कर वह एकच्छत्र सम्राट् हुआ तथा ७४ वर्ष की अवस्था में क० सं० २८०३ में वह चल बसा।

मेरुतुंग[2] (वि० सं० १३६३) स्व-रचित अपनी विचार-श्रेणी में कहता है कि अवंति-राज पालक का अभिषेक उसी दिन हुआ जिस रात्रि को तीर्थंकर महावीर का निर्वाण हुआ। पालक के ६० वर्ष, नन्दों के १५५ वर्ष, मौर्यों का १०८ वर्ष, पुष्यमित्र का ३० वर्ष, बलमित्र का ६० वर्ष, गर्दभिल्ल का १३ वर्ष तथा शकों का ४ वर्ष राज्य रहा। इस आधार पर चन्द्रगुप्त विक्रम के ठीक २५५ वर्ष पूर्व (१०८ + ३० + ६० + ४० + १३ + ४) क० सं० २७८६ में गद्दी पर बैठा होगा। इस काल तक वह भारत का एकराट् बन चुका था। उपर्युक्त वर्ष-संख्या को जोड़ने से भी हम ४७० पाते हैं और मेरुतुंग भी महावीर-निर्वाण-काल कलि-संवत २५७४ का ही समर्थन करता है।

प्रचलित वीर-संवत् भी यही सिद्ध करता है। महावीर का निर्वाण क० सं० २५७४ में हुआ। वीर-संवत् का सर्व-प्रथम प्रयोग संभवतः,[3] बराली अभिलेख में है जो अजमेर के राज-पुताना प्रदर्शन-गृह में है। उसमें[4]—'महावीर संवत् ८४' लिखा है।

जैन-संघ

जैनधर्म प्राचीन काल से ही धनिकों और राजवंशों का धर्म रहा है। पार्श्वनाथ का जन्म काशी के एक राजवंश में हुआ था। वे पांचाल के राजा के जामाता भी थे। महावीर का जन्म भी राजकुल में हुआ तथा मातृकुल से भी उनका अनेक राजवंशों से सम्बन्ध था।

---

१. अनेकांत भाग १, १४-२४, युगलकिशोर, दिल्ली (१६३०)।

२. जार्ल चार मेंटियर का 'महावीर काल', इण्डियन एंटिक्वेरी १६१४, पृ० ११८।

३. प्राचीन जैन स्मारक, शीतलप्रसाद, सूरत १६२६, पृ० १६०।

४. भगवान् श्रमण महावीर का जीवन-चरित आठ भागों में अहमदाबाद से प्रकाशित है।

वैशाली के राजा चेटक की सात कन्याएँ जो थीं, निम्नलिखित राजवंशों की गृहलक्ष्मी[1] बनीं—

(क) प्रभावती—इसने सिंधु सौवीर के वीतभय राजा उदयन से विवाह किया।
(ख) पद्मावती—इसने चम्पा के राजा दधिवाहन से विवाह किया।
(ग) मृगावती—इसने कौशाम्बी के शतानीक (उदयनपिता) से विवाह किया।
(घ) शिवा—इसने अवंती के चंडप्रद्योत से विवाह किया।
(ङ) ज्येष्ठा—इसने कुण्डग्राम के महावीर के भाई नंदवर्द्धन से विवाह किया।
(च) सुज्येष्ठा—यह भिक्षुणी हो गई।
(छ) चेलना—इसने मगध के राजा बिम्बिसार का पाणिग्रहण किया।

अतः जैनधर्म शीघ्र ही सारे भारत में फैल गया। दधिवाहन की कन्या चन्दना या चन्दबाला ने ही सर्वप्रथम महावीर से दीक्षा ली। श्वेताम्बरों[1] के अनुसार भद्रबाहु तक निम्नलिखित आचार्य हुए—

(१) इन्द्रभूति ने १२ वर्ष तक क० सं० २५७४ से २५८६ तक पाट सँभाला।
(२) सुधर्मा १२ „ „ २५८६-२५६८ तक ।
(३) जम्बू १०० „ „ २५६८-२६६८ „ ।
(४) प्रभव ६ „ „ २६६८-२७०७ „ ।
(५) स्वयम्भव }
(६) यशोभद्र } ७४ „ „ २७०७-२७८१ „ ।
(७) संभूत विजय २ „ „ २७८१-२७८३ „ ।
(८) भद्रबाहु का क० सं० २७८३ में पाट-अभिषेक हुआ।

संघ-विभेद

महावीर के काल में ही अनेक जैनधर्मेतर रूप प्रचलित थे। सात निन्ह्व के आचार्य जमालि, तिस्सगुन्त, असाढ़, अश्वमित्र, गंगचालुए और गोष्ठपहिल थे। इनके सिवा ३६३ नास्तिकों की शाखा थी, जिनमें १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ वैनायकवादी थे[2]।

किन्तु जैन-धर्म के अनुसार सबसे बड़ा भेद श्वेताम्बर और दिगम्बरों का हुआ। देवसेन के अनुसार श्वेताम्बर संघ का आरम्भ[3] सौराष्ट्र के वल्लभीपुर में विक्रम निर्वाण के १३६ वें वर्ष में हुआ। इसका कारण भद्रबाहु शिष्य आचार्य शांति का जिनचन्द्र था। यह भद्रबाहु कौन था, ठीक नहीं कहा जा सकता। जैनों का दर्शन स्याद्वाद में सन्निहित है। यह अस्ति, नास्ति और अव्यक्त के साथ प्रयुक्त होता है। यह काल और स्थान के अनुसार परिवर्तनशील है।

---

१. स्टेवेन्सन का हार्ट आफ जैनिज्म, पृ० ६८-६६।
२. शाह का हिस्ट्री आफ जैनिज्म, पृ० २६।
असियसयं किरियाणं अकिरियाणं चहोइ चुलसीति।
अन्ताणिय सत्तठी वेणइयाणं च बत्तीसा॥
३. दर्शनसार, ९-११, पृ० ७ (शाह पृ० ६८)।

जैनधर्म में ज्ञान, दर्शन और चरित्र पर विशेष[1] जोर दिया गया है। बाद में जैनधर्म की नवतत्त्व[2] के रूप में व्याख्या की गई। यथा—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, कर्मक्षय और मोक्ष। जैनों का स्याद्वाद या सप्तभंगीन्याय प्रसिद्ध है। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर पञ्च तत्त्व[3] हैं। इनके संयोग से आत्मा छठा तत्त्व पैदा होता है। पाँच तत्त्वों के विनाश होने पर जीव नष्ट हो जाता है। वैयक्तिक आत्मा सुख-दुःख को भोग करता है तथा शरीर के नाश होने पर आत्मा भी नष्ट हो जाता है। संसार अनन्त है। न यह कभी पैदा हुआ और न इसका अन्त होगा। जिस प्रकार पृथ्वी के नाना रूप होते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी अनेक रूप धारण करता है। जैनधर्म में आत्मा की जितनी प्रधानता है, कर्म की उतनी नहीं। अतः कुछ लोगों के मत में जैनधर्म अक्रियावादी है।

जैन-आगम

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम के नाम से ख्यात है। ये आगम ४६ हैं। इनमें अंग, उपांग, पइन्ना, छेदसूत्र, मूलसूत्र और उपमूलसूत्र संनिहित हैं। अंग बारह हैं—आयारंग, सूयगडं, ठाणांग, समवायांग, भगवती, नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अंतगडदसा, अनुत्तरोव-वाइयदसा, पण्हवागरण, विवागसूय और दिट्ठिवाय। उपांग भी बारह हैं—ओवाइय, रायपसेणिय, जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरियपन्नति, जंबुद्दीवपन्नति, चन्दपन्नति, निरयावलि, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा।

पइन्ना (प्रकीर्ण) दस हैं—चउसरण, आउरपच्चुक्खाण, भत्तपारिन्ना, संथर, तंदुलवेयालिय, चन्दविज्झय, देविंदत्थव, गणिविज्जा, महापच्चक्खाण, वीरत्थव।

छेदसूत्र छः हैं—निसीह, महानिसीह, ववहार, आयारदसा, कप्प (बृहत्कल्प), पंचकप्प।

मूलसूत्र चार हैं—उत्तरज्झयण, आवस्सय, दसवेयालिय, पिंडनिज्जुत्ति। तथा दो उपमूलसूत्र नन्दि और अनुयोग हैं।

अति प्राचीन पूर्व चौदह थे। यथा—उत्पाद, अग्रयनीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, अवन्ध्य, प्रणयु, क्रियाविशाल, लोकविन्दुसार। किन्तु ये सभी तथा बारहवाँ अंग दृष्टिवाद सदा के लिए कालग्रस्त हो गये हैं।

जो स्थान वैदिक साहित्य में वेद का और बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक का है, वही स्थान जैन साहित्य में इन आगमों का है। इनमें जैन तीर्थंकरों विशेषतः महावीर तथा संस्कृति से सम्बद्ध अनेक लौकिक-पारलौकिक बातों का संकलन है।

आयारंग, सूयगडं, उत्तरज्झयण, दसवेयालिय आदि आगम ग्रन्थों में जैन भिक्षुओं के आचार-विचार का वर्णन है। ये बौद्धों के धम्मपद, सुत्तनिपात तथा महाभारत शांतिपर्व से अनेकांश में मिलते-जुलते हैं। ये आगमग्रन्थ श्रमणकाव्य के प्रतीक हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से ये सर्वप्राचीन ज्ञात होते हैं।

---

१. सूत्रकृतांग, १-६-१४।

२. उत्तराध्ययन सूत्र, २८-१४।

३. सूत्रकृतांग, १-१-१-७,८,१२ ; १-१-२-१ ; १-१-१-१-१८।

भगवती, कल्पसूत्र, ओवाइय, ठाणांग, निरयावलि में श्रमण महावीर के उपदेशों की चर्चा है तथा तात्कालिक राजा, राजकुमार और युद्धों का वर्णन है, जिनसे जैनसाहित्य की लुप्तप्राय अनेक अनुश्रुतियों का पता चलता है।

नायाधम्मकहा, उवासगदसा, अंतगडदसा, अनुत्तरोववाइयदसा और विवागसूत्र में अनेक कथाओं तथा शिष्य-शिष्याओं का वर्णन है। रायपसेणिय, जीवाभिगम, पन्नवण में वास्तुशास्त्र, संगीत, वनस्पति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों का वर्णन है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं।

छेदसूत्रों में साधुओं के आहार-विहार तथा प्रायश्चित्त का वर्णन है, जिनकी तुलना विनयपिटक से की जा सकती है। उदाहरणार्थ बृहत्कल्पसूत्र में (१-५०) कहा है कि जब महावीर साकेत में विहार करते थे तो उस समय उन्होंने आदेश किया, भिक्खु और भिक्खुनी पूर्व में अंग-मगध, दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में थूणा (स्थानेश्वर) तथा उत्तर में कुणाला (उत्तर कोसल) तक ही विहार करें। इससे सिद्ध है कि आरंभ में जैनधर्म का प्रसार सीमित था।

राजा कनिष्क के समकालिक मथुरा के जैनाभिलेखों में जो विभिन्न गण, कुल और शाखाओं का उल्लेख है, वे भद्रबाहु के कल्पसूत्र में वर्णित गण, कुल, शाखा से प्रायः मेल खाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ये आगम कितने प्राचीन हैं। अभी तक जैन-परम्परा में श्वेताम्बर, दिगम्बर का कोई भेद परिलक्षित नहीं है। वैदिक परिशिष्टों के अनुरूप जैन-प्रकीर्ण भी हैं।

पालिसूत्रों की अट्ठकथाओं की तरह जैन आगमों की भी अनेक टीका, टिप्पणियाँ, दीपिका, विकृति, विवरण तथा चूर्णिका लिखी गई हैं। इनमें आगमों के विषय का सविस्तर वर्णन है। उदाहरणार्थ बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक टीका आदि में पुरातत्त्वसम्बन्धी विविध सामग्री है, जिनसे भारत के रीति-रिवाज, मेला-त्योहार, साधु-सम्प्रदाय, दुष्काल-बाढ़ चोर-डाकू, सार्थवाह, व्यापार के मार्ग, भोजन-वस्त्र, गृह-आभूषण इत्यादि विषयों पर प्रकाश पड़ता है। विंतरनीज सत्य कहता है कि जैन टीका-ग्रन्थों में भारतीय प्राचीन कथा-साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं।[1]

जैन ग्रन्थों में बौद्धों का वर्णन या सिद्धान्त नगण्य है, यद्यपि बौद्ध ग्रन्थों में निगंठों और नाथपुत्रों का वर्णन पाया जाता है तथा बौद्धधर्म की महत्ता बताने के लिए जैनधर्म के सिद्धान्तों का खंडन पाया जाता है; किन्तु जैनागमों में बौद्ध-सिद्धान्तों का उल्लेख भी नहीं है।

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर—भाग २, पृ० ४८७।

द्वाविंश अध्याय

बौद्ध धर्म

बुद्ध शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान-प्राप्त। अमरसिंह इन्हें १८ नामों से संकेत करता है। बुद्ध दो प्रकार के होते हैं—प्रत्येक बुद्ध जो ज्ञान-प्राप्त करने के बाद दूसरों को उपदेश नहीं देते तथा सम्मासम्बुद्ध जो सर्व देशों एवं निब्बाण-मार्ग के पथप्रदर्शक होते हैं। बुद्ध ने ८३ बार संन्यासी, ५८ बार राजा, ४३ बार वृक्षदेव, २६ बार उपदेशक, २४ बार प्रवक्ता, २० बार इन्द्र, १८ बार बानर, १३ बार वणिक्, १२ बार श्रेष्ठी, १२ बार कुक्कुट, १० बार मृग, १० बार सिंह, ८ बार हंस, ६ बार अश्व, ४ बार वृक्ष, ३ बार कुंभकार, ३ बार चाण्डाल, २ बार मत्स्य, दो बार गजयन्ता, दो बार चूहा तथा एक-एक बार बढ़ई-लोहार, दादुर और शशक कुल में जन्म लिया।

बुद्ध का जन्म

शाक्यप्रदेश में कपिलवस्तु[1] नामक नगर में सूर्यवंशी राजा शुद्धोदन रहते थे। उत्तराषाढ़ नक्षत्र में आषाढ़ पूर्णिमा को इनकी माता मायादेवी ने प्रथम गर्भधारण किया। प्रथम प्रसव के समय अधिक दुःख और लज्जा से बचने के लिए मायां देवी ने अपने पति की आज्ञा से अपने पीहर को कुछ दास-दासियों सहित प्रातः देवदह नगर को प्रस्थान किया। कपिलवस्तु और देवदह के बीच ही में थकावट के कारण माया को प्रसव पीड़ा होने लगी। लोग कनात घेरकर अलग हो गये और दोनों नगरों के बीच आम्रवृक्ष के लुम्बिनीवन[2] में गर्भ के दसवें मास में वैशाखी पूर्णिमा को बुद्ध का जन्म हुआ। लोग बालक को लेकर कपिलवस्तु ही लौट आये[3]।

पुत्र की षष्ठी (छट्ठी) समाप्त होने के बाद यथाशीघ्र ही सातवें दिन मायादेवी इस संसार से चल बसीं। किन्तु राजा ने लालन-पालन में कुछ उठा न रखा।

राजा शुद्धोदन ने पारंगत दैवज्ञों को बुलवाकर नामकरण संस्कार करवाया। आठ ब्राह्मणों ने गणना कर भविष्यवाणी की—ऐसे लक्षणोंवाला यदि गृहस्थ रहे तो चक्रवर्ती राजा होता है और यदि प्रव्रजित हो, तो बुद्ध। उनमें सबसे कम अवस्थावाले ब्राह्मण कौण्डिन्य ने कहा—इसके घर में रहने की संभावना नहीं है। यह विवृत-कपाट बुद्ध होगा। ये सातों ब्राह्मण आयु-पूर्ण होने पर परलोक सिधारे। कौण्डिन्य ने सातों ब्राह्मणों के पुत्रों से, जब महापुरुष प्रव्रजित हो गये, जाकर कहा—कुमार सिद्धार्थ प्रव्रजित हो गये। वह निःसन्देह बुद्ध होंगे। यदि तुम्हारे पिता जीवित होते तो वे भी प्रव्रजित होते। यदि तुम चाहो तो मेरे साथ आओ। हम सब प्रव्रजित

---

१. तिलौराकोट (नेपाल की तराई)

२. रुम्मिनदेई, नौतनवा स्टेशन से चार कोश पश्चिम नेपाल की तराई में।

३. अविदूरे निदान, जातक (आनन्द कौसल्यायन अनूदित) भाग १, पृ० ७०।

हो जाय। केवल तीन संन्यासी न हुए। शेष चार कौण्डिन्य ब्राह्मण को मुखिया बनाकर संन्यस्त[1] हुए। आगे यहीं पाँचों ब्राह्मण पञ्चवर्गीय स्थविर के नाम से ख्यात हुए।

राजा ने दैवज्ञों से पूछा—क्या देखकर मेरा पुत्र संन्यस्त होगा?

उत्तर—चार पूर्व लक्षण—वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित।

राजा ने बालक के लिए उत्तम रूपवाली और सब दोषों से रहित धाइयाँ नियुक्त कीं। बालक अनन्त परिवार तथा महती शोभा और श्री के साथ बढ़ने लगा। एक दिन राजा के यहाँ खेत बोने का उत्सव था। इस उत्सव पर लोग सारे नगर को देवताओं के विमान की भाँति घेर लिया करते थे। राजा को एक सहस्र हलों की खेती होती थी। राजा दल-बल के साथ पुत्र को भी लेकर वहाँ पहुँचा। खेत के पास ही एक सघन जामुनवृक्ष के[2] नीचे कुमार को तम्बू में सुला दिया गया। धाइयाँ भी तमाशा देखने के लिए बाहर चली गईं। बालक अकेला होने के कारण मूर्छित-सा हो गया। राजा ने आकर इस बालक को एकान्त में पाया और धाइयों को बहुत फटकारा।

विवाह

क्रमशः सिद्धार्थ सोलह वर्ष के हुए। राजा ने राजकुमार के लिए तीनों ऋतुओं से युक्त तीन प्रासाद बनवा दिये। इनमें एक नौतला, दूसरा सात तला और तीसरा पाँच तला था। राजा ने ४० नाटक करनेवाली स्त्रियों को भी नियुक्त किया। सिद्धार्थ अलंकृत नटियों से परिवृत्त, गीतवाद्यों से सेवित और महासम्पत्ति का उपभोग करते हुए ऋतुओं के क्रम से प्रासादों में विहरते थे। इनकी अग्रमहिषी गोपा थी। इसे कंचना, यशोधरा, बिम्बा और बिम्बसुन्दरी भी कहते हैं। यह घंटाशब्द या किंकिणीस्वर के सुप्रबुद्ध राजा की कन्या थी।

जिस समय सिद्धार्थ महासम्पत्ति का उपभोग कर रहे थे, उसी समय जाति-बिरादरी में अपवाद निकल पड़ा—'सिद्धार्थ क्रीड़ा में ही रत रहता है। किसी कला को नहीं सीखता, युद्ध आने पर क्या करेगा?' राजा ने कुमार को बुलाकर कहा[3] 'तात! तेरे सगे-सम्बन्धी कहते हैं कि सिद्धार्थ किसी कला को न सीखकर केवल खेलों में ही लिप्त रहता है। तुम इस विषय में क्या उचित समझते हो?' कुमार ने कहा—'महाराज! मेरा शिल्प देखने के लिए नगर में ढोल पिटवा दें कि आज से सातवें दिन मैं अपनी कला प्रदर्शित करूँगा।' राजा ने वैसा ही किया। कुमार सिद्धार्थ ने अक्षणवेध, केशवेध इत्यादि बारह प्रकार के विभिन्न कलाओं को दिखलाया। राजा ने भी प्रसन्न होकर कुमार को कैषक प्रदेश का समाहर्त्ता बनाकर भेज दिया।

एक दिन राजकुमार ने उपवन देखने की इच्छा से सारथी को बुलाकर रथ जोतने को कहा। सारथी सिन्धु देशीय चार घोड़ों को जोतकर रथ सहित उपस्थित हुआ। कुमार बाहर निकले। मार्ग में उन्हें एक जरा जर्जरित, टूटे दांत, पलित केश, धनुषाकार शरीवाला, थरथर कांपता हुआ हाथ में डंडा लिये एक वृद्ध दीख पड़ा। कुमार ने सारथी से पूछा—'सौम्य! यह कौन

---

१. जातक पृ० १-७४।
२. जातक १-७५।
३. जातक १-७६।

पुरुष है। इसके केश भी औरों के समान नहीं हैं।' सारथी का उत्तर सुनकर कुमार ने कहा—'अहो! धिक्कार है जन्मको, जिसमें ऐसा बुढ़ापा हो।' यह सोचते हुए उदास हो वहाँ से लौटकर अपने महल में चले गये। राजा ने पूछा—'मेरा पुत्र इतना जल्दी क्यों लौट आया?' सारथी ने कहा—'देव! बूढ़े आदमी को देखकर।' भविष्यवाणी का स्मरण करके राजा ने कहा[1]—'मेरा नाश मत करो। पुत्र के लिए यथाशीघ्र नृत्य तैयार करो। भोग भोगते हुए प्रव्रज्या का विचार मन में न आयगा।'

इसी प्रकार राजकुमार ने रुग्णपुरुष, मृतपुरुष और अन्त में एक संन्यासी को देखा और सारथी से पूछा—यह कौन है? सारथी ने कहा—देव यह प्रव्रजित है और उसका गुण वर्णन किया। दीर्घभाणकों[2] के मत में कुमार ने उक्त चारों निमित्त एक ही दिन देखे। इस दिन राजकुमार का अन्तिम शृंगार हुआ। संध्या समय इनकी पत्नी ने पुत्ररत्न उत्पन्न किया। महाराज शुद्धोदन ने आज्ञा दी—यह शुभसमाचार मेरे पुत्र को सुनाओ। राजकुमार ने सुनकर कहा—पुत्र पैदा हुआ, राहुल (बन्धन) पैदा हुआ। अतः राजा ने कहा—मेरे पोते का नाम राहुलकुमार हो।

राजकुमार ने ठाट के साथ नगर में प्रवेश किया। उस समय अटारी पर बैठकर क्षत्रियकन्या कृशा गौतमी ने नगर की परिक्रमा करते हुए राजकुमार के रूप और शोभा को देखकर प्रसन्नता से कहा—

निब्बुत्ता नून सा माता निब्बुत्ता नून सा पिता।
निब्बुत्ता नून सा नारी यस्सेयं सदिसं पति॥

राजकुमार ने सोचा—यह मुझे प्रिय वचन सुना रही है। मैं निर्वाण की खोज में हूँ। मुझे आज ही गृह-वास छोड़कर प्रव्रजित हो निर्वाण की खोज में लग जाना चाहिए। 'यह इसकी गुरु-दक्षिणा हो' ऐसा कहकर कुमार ने अपने गले से निकालकर एक बहुमूल्य हार कृशा गौतमी के पास भेज दिया। 'सिद्धार्थकुमार ने मेरे प्रेम में फंसकर भेंट भेजी है', यह सोचकर वह बड़ी प्रसन्न हुई।

निष्क्रमण

राजकुमार भी बड़े श्रीसौभाग्य के साथ अपने महल में जाकर सुन्दर शय्या पर लेट रहे[3]। इधर सुन्दरियों ने नृत्यगीतवाद्य आरंभ किया। राजकुमार रागादिमलों से विरक्तचित्त होने के कारण थोड़ी ही देर में सो गये। कुमार को सुषुप्त देखकर सुन्दरियाँ भी अपने-अपने बाजों को साथ लिये ही सो गईं। कुछ देर बाद राजकुमार जागकर पलंग पर आसन मार बैठ गये। उन्होंने देखा—किसी के मुख से कफ और लार बह रही है। कोई दांत कटकटा रही है, कोई खाँसती है, कोई बर्राती है, किसी का मुख खुला है। किसी का वस्त्र हट जाने से घृणोत्पादक गुह्य स्थान दीखता है। वेश्याओं के इन विकारों को देखकर वे काम-भोग से और भी विरक्त हो गये। उन्हें वह सु-अलंकृत भवन श्मशान के समान मालूम हुआ। आज ही मुझे गृहत्याग करना चाहिए। ऐसा निश्चय कर पलंग पर से उतरकर द्वार के पास जा कर बोले—कौन है? प्रतिहारी छन्दक ने ड्योढी पर से उत्तर दिया। राजकुमार ने कहा—मैं अभी महाभिनिष्क्रमण करना चाहता हूँ। एक अच्छा घोड़ा शीघ्र तैयार करो। छन्दक उधर अश्वशाला में गया। इधर सिद्धार्थ पुत्र

---

१. जातक १-७७।

२. दीर्घनिकाय को कण्ठस्थ करनेवाले आचार्य।

३. जातक १-८०।

को देखने की इच्छा से अपनी प्रिया के शयनागार में पहुँचे। देवी पुत्र के मस्तक पर हाथ रक्खे सो रही थी। राजकुमार ने पुत्र का अन्तिम दर्शन किया और महल से उतर आये। वे कन्थक नामक सर्वश्वेत घोड़े पर सवार होकर नगर से निकल पड़े। मार्ग में कुमार झिझक रहे थे। मन करता था कि घर लौट जायँ। किन्तु मन दृढ कर आगे बढ़े। एक ही रात में शाक्य, कोलिय और रामग्राम के छोटे-छोटे तीन राज्यों को पार किया और प्रातःकाल अनोमा (= औमी) नदी के तट पर पहुँचा।

संन्यासी

राजकुमार ने नदी को पार कर हाथ-मुँह धोया और बालुका पर खड़े होकर[1] अपने सारथी छन्दक से कहा—सौम्य, तू मेरे आभूषणों तथा कन्थक को लेकर जा। मैं प्रव्रजित होऊँगा। छन्दक ने कहा—मैं भी संन्यासी होऊँगा। इसपर सिद्धार्थ ने डाँट कर कहा—तू संन्यासी नहीं हो सकता। लौट जा। सिद्धार्थ ने अपने ही कृपाण से शिर का केश काट डाला। सारथी किसी प्रकार घोड़े के साथ कपिलवस्तु पहुँचा।

सिद्धार्थ ने सोचा कि काशी के सुन्दर वस्त्र संन्यासी के योग्य नहीं। अतः अपना बहुमूल्य वस्त्र एक ब्राह्मण को देकर और उससे भिक्षु-वस्त्र इत्यादि आठ परिष्कारों[2] को प्राप्त कर संन्यासी हुए। पास में ही भार्गव मुनि का पुण्याश्रम था। यहाँ इन्होंने कुछ काल तक तपश्चर्या की किन्तु संतोष न हुआ। यह भार्गव मुनि के उपदेश से विन्ध्यकोष्ठ में आरार[3] मुनि के पास सांख्यज्ञान के लिए गये। किन्तु यहाँ भी इन्हें शान्ति नहीं मिली। तब ये राजगृह पहुँचे। यहाँ के राजा बिम्बिसार ने इनकी आवभगत की और अपना आधा राज्य भी देना चाहा; किन्तु सिद्धार्थ ने इसे ग्रहण नहीं किया। भिक्षाटन करने पर इन्हें इतना खराब अन्न मिला कि इनके आँखों से आँसु टपकने लगे। किसी तरह इन्होंने अपनेको समझाया।

राजगृह में इन्हें सन्तोष न हुआ। अब ये पुनः ज्ञान की खोज में आगे बढ़े। रुद्रक रामपुत्र के पास इन्होंने वेदान्त और योग की दीक्षा ली।

अब ये नीरांजना नदी के तट पर उरुवेला के पास सेनापति नामक ग्राम में पहुँचे और वहाँ छः वर्ष घोर तपस्या की। यहाँ इन्होंने चान्द्रायण व्रत भी किया। पुनः अन्न त्याग दिया। इससे इनका कनक-वर्ण शरीर काला पड़ गया। एक बार बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़े। यहीं इनके पाँच साथियों ने इनका संग छोड़ दिया और कहने लगे[4]—'छः वर्ष तक दुष्कर तपस्या करके भी यह सर्वज्ञ न हो सका। अब गाँव-गाँव भीख माँगकर पेट भरता हुआ यह क्या कर सकेगा? यह लालची है। तपोमार्ग से भ्रष्ट हो गया। जिस प्रकार स्नान के लिए ओस-बूंद की ओर ताकना निष्फल है, वैसे ही इसकी भी आशा करना है। इससे हमारा क्या मतलब सधेगा।' अतः वे अपना चीवर और पात्र ले ऋषिपत्तन पहुँचे।

---

१. जातक १ ८३।

२. एक लंगोट, एक चादर, एक लपेटने का वस्त्र, मिट्टी का पात्र, छुरा, सूई, कमरबन्ध और पानी छानने का वस्त्र।

३. यह आरा के रहनेवाले थे, जिनसे सिद्धार्थ ने प्रथम सांख्यदर्शन पढ़ा।

४. जातक १ ८६।

ग्रामणी की कन्या सुजाता नन्दबाला ने वटसावित्री व्रत किया था और वटवृक्ष के नीचे मनौती की थी कि यदि मुझे प्रथम गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ तो प्रतिवर्ष पायस (खीर) चढ़ाऊँगी। मनोरथ पूर्ण होने पर नन्दबाला अपनी सहेली पूर्णा को लेकर भर उरवसी (डेगची) खीर लेकर प्रातः वटवृक्ष के नीचे पहुँची। इधर सिद्धार्थ शौचादि से निवृत्त हो मधुकरी की प्रतीक्षा करते हुए उसी वृक्ष के नीचे साफ भूमि पर बैठे थे।

ज्ञान-प्राप्ति

नन्दबाला ने सोचा—आज हमारे वृक्षदेव स्वयं उतर कर अपने ही हाथ से बलिग्रहण करने को बैठे हैं। नन्दबाला ने पात्रसहित खीर को सिद्धार्थ के हाथ में दिया और चल दी। सिद्धार्थ भोजन लेकर नदी के तट पर गये और स्नान करके सारा खीर चट कर गये। सारा दिन किनारे पर घूमते-फिरते बीत गया। संध्या समय बोधिवृक्ष के पास चले और उत्तराभिमुख होकर कुशासन पर आसन लगाकर बैठ गये। उस रात खूब जोर की झंझावात चल रही थी। बिजली कड़क रही थी। पानी मूसलधार बरसा, किन्तु तो भी बुद्ध अपने आसन से न डिगे। ब्राह्ममुहूर्त में दिन की लाली फटते समय इन्होंने बुद्धत्व[1] (सर्वज्ञता) का साक्षात्कार किया और बुद्ध ने कहा—'दुःखदायी जन्म बार-बार लेना पड़ता है। मैं संसार में शरीररूपी गृह को बनानेवाले की खोज में निष्फल भटकता रहा। किन्तु गृहकारक, अब मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृह न बना सकेगा। गृह-शिखर-विखर गया। चित्त-निर्वाण हो गया। तृष्णा का क्षय देख लिया।' अब ये बुद्ध हो गये और एक सप्ताह तक वहीं बैठे रहे। इन्होंने चार सप्ताह उसी बोधिवृक्ष के आसपास में बिताये।

पाँचवें सप्ताह यह न्यग्रोध (अजपाल) वृक्ष के पास पहुँचे, जहाँ बकरी चरानेवाले अपना समय काटते थे। यहाँ आसपास के गाँवों से अनेक कुमारी, तरुणी, प्रौढ़ा और प्रगल्भा सुन्दरियाँ इनके पास पहुँची और इनको फन्दे में फँसाना चाहा। किन्तु इन्होंने सबों को समझा-बुझाकर बिदा कर दिया। बुद्ध भी सप्ताह बिताकर वहाँ से नागराज मुचिलिन्द (कर्कखण्ड के राजा) के यहाँ और सातवाँ सप्ताह राजायतन वृक्ष के नीचे काटा। यहीं त्रपुष और मल्लिक नामक दो सेठ उत्तर उत्कल से पश्चिम देश व्यापार को जा रहे थे। इन्होंने सत्तू और पूआ शास्ता को भोजन के लिए दिया। भगवान् ने इन दोनों भाइयों को बुद्धधर्म में दीक्षित किया। फिर यहाँ से ये काशी चल पड़े और गुरुपूर्णिमा को अपने पूर्व परिचित पाँच साथियों को फिर से अपना अनुयायी बना लिया। बुद्ध ने यहाँ लोगों से शास्त्रार्थ किया। प्रथम चातुर्मास भी काशी में ही बिताया। इसी बीच कुल ६१ अर्हत[2] हो गये। चौमासे के बाद अपने शिष्यों को धर्मप्रचार के लिए विभिन्न दिशाओं और स्थानों में भेजा और स्वयं चमत्कार दिखा-दिखाकर लोगों को अपना शिष्य बनाने लगे। यह गया-शीर्ष या ब्रह्मयोनि पर पहुँचे और वहाँ से शिष्यमंडली के साथ राजा बिम्बसार को दी हुई प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए मगध की राजधानी राजगृह के समीप पहुँचे।

---

१. जातक १-६८।

२. सन्ति के निदान जातक १·६६।

शिष्य

राजा अपने माली के मुँह से बुद्ध के आने की बात सुनकर अनेक ब्राह्मणों के साथ बुद्ध के पास पहुँचा। बुद्ध ने इन सबों को दीक्षा दी। यष्टिवन राजप्रासाद से बहुत दूर था, इसलिए राजा ने भगवान् बुद्ध से प्रार्थना की कि कृपा कर आप मेरे विल्व वन को दान रूप स्वीकार करें और उसी में वास करें, जिससे समय, कुसमय भगवान् के पास आ सकूँ। इसी समय सारिपुत्र और मोद्गल्यायन ने भी प्रव्रज्या ली और बुद्ध के कट्टर शिष्य हो गये।

तथागत की यशश्चन्द्रिका सर्वत्र फैल रही थी। इनके पिता शुद्धोदन को भी अपने बुद्धत्व प्राप्त पुत्र को देखने की उत्कट इच्छा हुई। अतः इन्होंने अपने एक मंत्री को कहा—"तुम राजगृह जाओ और मेरे वचन से मेरे पुत्र को कहो कि आपके पिता महाराज शुद्धोदन आपके दर्शन करना चाहते हैं और मेरे पुत्र को बुलाकर ले आओ। वह मंत्री वहाँ से चला और देखा कि भगवान् बुद्ध धर्म उपदेश कर रहे हैं। उसी समय वह विहार में प्रविष्ट हुआ और उपदेश सुना और भिक्षु हो गया। अर्हत् पद प्राप्त होने पर लोग मध्यस्थभाव हो जाते हैं अतः उसने राजा का सन्देश नहीं कहा। राजा ने सोचा—स्यात् मर गया हो अन्यथा आकर सूचना देता; अतः इसी प्रकार राजा ने नव अमात्यों को भेजा और सभी भिक्षु हो गये। अन्ततः राजा ने अपने सर्वार्थसाधक, आन्तरिक, अतिविश्वासी अमात्य काल उदायी को भेजा। यह सिद्धार्थ का लंगोटिया यार था। उदायी ने कहा—देव मैं आपके पुत्र को दिखा सकूंगा, यदि साधु बनने की आज्ञा दें। राजाने कहा—मैं जीते-जी पुत्र को देखना चाहता हूँ। इस बुढ़ापे में जीवन का क्या ठिकाना? तू प्रव्रजित हो या अप्रव्रजित। मेरे पुत्र को लाकर दिखा।

काल उदायी भी राजगृह पहुँचकर बुद्धवचन सुनकर प्रव्रजित हो गया। आने के सात आठ दिन बाद उदायी स्थविर फाल्गुण पूर्णमासी को सोचने लगा—हेमन्त बीत गया। बसन्त आ गया। खेत कट गये। मार्ग चलने योग्य हो गया है। यह सोच वह बुद्ध के पास जाकर बोला—न बहुत शीत है, न बहुत उष्ण है। न भोजन की कठिनाई है। भूमि हरित तृण शंकुल है। महामुनि! यह चलने का समय है। यह भागीरथों (= शाक्यों) के संग्रह करने का समय है। आप के पिता महाराज शुद्धोदन आपके दर्शन करना चाहते हैं। आप जातिवालों का संगठन करें।

जन्मभूमि-प्रस्थान

अब बुद्ध सशिष्य प्रतिदिन एक योजन धीरे-धीरे चलकर साठ योजन की यात्रा समाप्त कर वैसाख पूर्णिमा को राजगृह से कपिलवस्तु पहुँचे। वहाँ इनका स्वागत करने के लिये नगर के अनेक बालक, बालिका, राजकुमार, राजकुमारियाँ पहुँची। बुद्ध ने न्यग्रोधवृक्ष के नीचे डेरा डाल दिया और उपदेश किया। किसी ने भी अपने घर भोजन के लिये इन्हें निमंत्रण न दिया। अगले दिन शास्ता ने स्वयं २०,००० भिक्षुओं को साथ लेकर भिक्षाटन के लिए नगर में प्रवेश किया और एक ओर से भिक्षाचार आरंभ किया। सारे नगर में तहलका मच गया। लोग दुतल्ले-तितल्ले प्रसादों पर से खिड़कियाँ खोल तमाशा देखने लगे। राहुल-माता ने भी कहा—आर्यपुत्र इसी नगर में ठाट के साथ घोड़े और पालकी पर चढ़ कर घूमे और आज इसी नगर में शिर-दाढ़ी मुंडा, कषायवस्त्र पहन, कपाल हाथ में लेकर भिक्षा मांग रहे हैं। क्या यह शोभा देता है?

और राजा से जाकर कहा—आप का पुत्र भीख मांग रहा है। इसपर राजा घबराकर धोती संभालते हुए जल्दी-जल्दी निकलकर वेग से जाकर भगवान् के सामने खड़ा होकर बोले—हमें क्यों लजवाते हो। क्या यह प्रकट करते हो कि हमारे यहाँ इतने भिक्षुओं के लिए भोजन नहीं मिल सका। विनय के साथ वह बुद्ध को सशिष्य महल में ले गये और सबों को भोजन करवाया। भोजन के बाद राहुलमाता को छोड़ सारे रनिवास ने आ-आकर बुद्ध की वन्दना की। राहुलमाता ने कहा—यदि मेरे में गुण है तो आर्यपुत्र स्वयं मेरे पास आवेंगे। आने पर ही वन्दना करूँगी।

अब बुद्ध अपने दो प्रमुख शिष्यों के साथ (=सारिपुत्र, मौद्गल्यायन) माता के यहाँ पहुँचे और आसन पर बैठ गये। राहुलमाता ने शीघ्र आकर पैर पकड़ लिया। शिर को पैरों पर रख कर फूट-फूटकर रोने लगी। राजा शुद्धोदन कहने लगे—मेरी बेटी आपके कषाय वस्त्र पहनने का आदेश सुनकर कषायधारिणी हो गई। आप के एक बार भोजन करने को सुनकर एकाहारिणी हो गई। वह भी तख्ते पर सोने लगी। अपने नैहरवालों के "हम तुम्हारी सेवा-सुश्रूषा करेंगे" ऐसा पत्र भेजने पर भी एक सम्बन्धी को भी नहीं देखती—मेरी बेटी ऐसी गुणवती है। निःसन्देह राजकन्या ने अपनी रक्षा की है, ऐसा कह बुद्ध चलते बने।

दूसरे दिन सिद्धार्थ की मौसी और सौतेली मां के पुत्र नन्दराजकुमार का अभिषेक, गृहप्रवेश और विवाह होनेवाला था। उस दिन भगवान् को नन्द के घर जाकर अपनी इच्छा न रहने पर भी बलात् उसे साधु बनाना पड़ा। उसकी स्त्री ने बिखरे केश लिए गवाक्ष से देखकर कहा—आर्यपुत्र शीघ्र लौटना।

सातवें दिन राहुल माता ने अपने पुत्र को अलंकृतकर महाश्रमण के पास भेजा और कहा—वही तेरे पिता हैं। उनसे बिरासत माँग। कुमार भगवान् के पास जा पिता का स्नेह पाकर प्रसन्न चित्त हुए और भोजन के बाद पिता के साथ चल दिये और कहने लगे मुझे दायज दें। बुद्ध ने सारिपुत्र को कहा—राहुलकुमार को साधु बनाओ। राहुल के साधु होने से राजा का हृदय फट गया और आर्त होकर उन्होंने बुद्ध से निवेदन किया और वचन माँगा कि भविष्य में माता-पिता की आज्ञा के बिना उनके पुत्र को प्रव्रजित न करें। बुद्ध ने यह बात मान ली।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध कुछ काल कपिलवस्तु में बिताकर भिक्षुसंघ-सहित वहाँ से चलकर एक दिन राजगृह के सीतवन में ठहरे। यहाँ अनाथ पिण्डक नामक गृहपति श्रावस्ती से आकर अपने मित्र के यहाँ ठहरा था। यह भी बुद्ध का शिष्य हो गया और श्रावस्ती पधारने के लिए शास्ता से वचन लिया। वहाँ उसने ठाट के साथ बुद्ध का स्वागत किया तथा जेतवन महाविहार को दान रूप में समर्पित किया।

कालान्तर में राहुल-माता ने सोचा—मेरे स्वामी प्रव्रजित होकर सर्वज्ञ हो गये। पुत्र भी प्रव्रजित होकर उन्हीं के पास रहता है। मैं घर में रहकर क्या करूँगी? मैं भी प्रव्रजित हो श्रावस्ती पहुँच बुद्ध और पुत्र को निरन्तर देखती रहूँगी।

देवदत्त ने भगवान् बुद्ध को मारने का अनेक प्रयत्न किया। उसने अनेक धनुर्धरों को नियुक्त किया। धनपाल नामक मत्त हाथी को छुड़वाया। विष देने का यत्न किया; किन्तु वह अपने कार्य में सफल न हो सका। बुद्ध भी उससे तंग आ गये और उन्होंने देवदत्त से वैर का बदला लिया। उन्होंने जेतवन में पहुँचने के नव मास बाद द्वारकोट के आगे खाई खोदवाकर[1] उसका अन्त कर

१. महापिंगल जातक (२४०)।

दिया। कितने भिक्षुक इस घटना से परेशान होकर गृहस्थधर्म में पुनः प्रवेश करना चाहते थे।[1]

भगवान् बुद्ध की प्रथम अवस्था में २० वर्ष तक तथागत का कोई स्थायी सेवक नहीं था। कभी कोई, कभी कोई सेवा में रहता। अतः बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा[2]—अब मैं बूढ़ा हो गया (५६ वर्ष)। मेरे लिए एक स्थायी सेवक का निश्चय कर लो। बुद्ध ने इस कार्य के लिए आनन्द को स्वीकार किया जो एक प्राइवेट सेक्रेटरी का काम करता था।

धर्म सेनापति सारिपुत्र कार्तिक पूर्णिमा को और महामौद्गल्यायन कार्तिक-अमावस्या को इस संसार से चल बसे। इस प्रकार दोनों प्रधान शिष्यों के चल देने से बुद्ध को बहुत ग्लानि हुई। इन्होंने सोचा कि जन्म-भूमि में ही जाकर मरूँ। किन्तु वहाँ वे न पहुँच सके। भिक्षा-चार करते हुए कुशीनगर पहुँचे और उत्तर दिशा की ओर शिर करके लेट गये। आनन्द ने कहा—भगवान् इस क्षुद्र नगर में, इस विषम नगर में, इस जंगली नगर में, इस शाखा नगर में निर्वाण न करें। किसी दूसरे महानगर चम्पा, राजगृह[3] आदि में निर्वाण करें।

बुद्धकाल

भगवान बुद्ध का काल विवाद-पूर्ण[4] है। इनका निर्वाण अजातशत्रु के राज्यकाल के आठवें वर्ष में हुआ; अतः इनका निर्वाण-काल कलि-संवत् २५५८ और जन्म-काल कलि-संवत् २४७८ है।

श्रीमती विद्यादेवी[5] ने नीरक्षीर विवेकी विज्ञों के संमुख विभिन्न ४८ तिथियाँ खोजकर रक्खी हैं। यथा—कलि-संवत् ६७६, ६५३, ६६२, ६६६ (तिब्बती और चीन परम्परा); १२६४ (थिरुवैंकटाचार्य); १३०८ (त्रिवेद); १३११, १४८५ (मणिमखलाई); १७३४ (आइने अकबरी); १७६६ (सर जेम्स प्रिंसेप); १७८१ (तिब्बत); २०४१, २०४३ (भूटान); २०५१ (फाहियान); २०६५ (चीन); २०७० (बेली); २०८७ (सर विलियम जोन्स); २१४१ (गिओरगी); २१४२, २२०० (मंगोल वंशावली); २२१७, २२१६, २२२१, २२६४ (तिब्बती तिथियाँ); २२६६ (पद्मकरपो); २३४६ (तिब्बत); २४४८, २४६३ (पेगू और चीन); २४६८ (गया का शिलालेख); २५२५ (तिब्बत); २५५५, २५५७ (काशीप्रसाद जायसवाल); २५५८ (दीपवंश और सिंहल परम्परा); २५७२ (स्याम); २५८१ (महावंश); २५६३ (स्मिथ-अशोक में); २६१४ (अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया); २६१६ (कंतन परम्परा); १६१८ (फाचू); २६१६ (फ्लीट); २६२१ (ओल्डेन वर्ग); २६२३ (स्वामिकन्नु पिल्लई); २६२४ (मोक्षमूलर); २६८६ (रीज डेविस); २७१३ (कर्ण); २७२१, २७३१ तथा २७३३ कलि-संवत्।

१. जातक ४-१५७।
२. ,, ४-२५६।
३. चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कोसांबी, वाराणसी।
—महापरिनिर्वाणसुत्त।
४. भगवान बुद्ध का काल क० सं० १३०८, 'हिन्दुस्तानी' १६४८ देखें।
५. भनारस भंडारकर ओ० रि० इ० देखें १६५०।

बुद्ध के समकालीन

आर्यमंजुश्री-मूलकल्प[1] के अनुसार निम्नलिखित राजा इनके समकालीन थे। कोसल के राजा प्रसेनजित्, मगध के बिम्बिसार, शतानीक पुत्र क्षत्रिय श्रेष्ठ उदयन, सुबाहु (दर्शक) सुधनु, (= उदनी), महेन्द्र(= अनिरुद्ध), चमस (= मुण्ड), वैशाली का सिंह उदयी (= वर्षधर तिब्बत का), उज्जयिनी का महासेन विद्योत प्रद्योत चण्ड और कपिलवस्तु का विराट् शुद्धोदन।

प्रथम संगीति

बुद्ध के प्रमुख शिष्य महाकाश्यप को पावा से कुसीनगर आते समय बुद्ध के निर्वाण का समाचार मिला। सुभद्र भिक्षु ने अन्य भिक्षुओं को सान्त्वना देते हुए कहा—"आवुसो ! शोक मत करो। मत रोओ। हम मुक्त हो गये। अब हम चैन की वंशी बजायेंगे। हम उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे कि यह करो और यह न करो। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे और जो नहीं चाहेंगे, उसे नहीं करेंगे।' तब महाकाश्यप स्थविर को भय हुआ कि कहीं सद्धर्म का अन्त न हो जाय। काश्यप ने धर्म और विनय के सगायन के लिए एक सम्मेलन राजगृह में बुलाया। इसमें पाँच सौ भिक्षुकों ने भाग लिया तथा इसमें एक स्थान आनन्द के लिए सुरक्षित रखा गया, यद्यपि वह अभी अर्हत न हुए थे।

बुद्ध का निर्वाण वैशाख-पूर्णिमा को हुआ। यह संगीति निर्वाण के ६० दिन के भीतर आरम्भ हुई। प्रथम मास तो तैयारी में लग गया। आषाढ़ शुक्ल एकादशी से चातुर्मास आरम्भ होता है और संभवतः इसी समय प्रथम संगीति का आरम्भ हुआ। आनन्द ने धम्म पिटक, उपालि ने विनयपिटक और काश्यप ने मातृका-अभिधर्म सुनाया। थेरों (स्थविरों) ने बौद्धशास्त्र की रचना की। अतः इसके अनुयायी थेरवादी कहलाते हैं। पश्चात् इसकी सत्रह शाखाएँ हुईं।

द्वितीय संगीति

द्वितीय संगीति का वर्णन चुल्लवग्ग और महावंश में है। यह संगीति बुद्धनिर्वाण के १०० वर्ष बाद बताई जाती है। इसका मुख्य कारण कुछ परिवर्तनवादी भिक्षुकों के प्रस्ताव थे। रैवत की सहायता से यश ने भिक्षुकों के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए वैशाली में सम्मेलन बुलवाया। यह सभा आठ मास तक होती रही। इस संगीति में सम्मिलित भिक्षुकों की संख्या ७०० थी, इसलिए यह संगीति सप्तशतिका कहलाती है। इस परिषद् के विरोधी वज्जी-भिक्षुओं ने अपनी महासंगीति अलग की। यश की परिषद् की संरक्षता कालाशोक (= नन्दिवर्द्धन) ने, अपने राज्य के नवम वर्ष में, और बुद्ध निर्वाण के १०३ वर्ष बाद की। यह धर्मप्रसंग बालुकाराम में हुआ था।

तृतीय संगीति

प्रथम और द्वितीय संगीति का उल्लेख महायान ग्रन्थों में भी मिलता है; किन्तु तृतीय संगीति का वर्णन चुल्लवग्ग में भी नहीं मिलता। सर्वप्रथम इसका उल्लेख दीपवंश, फिर समन्तपासादिक और महावंश में ही मिलता है। इस संगीतिका प्रधान मोग्गलिपुत्ततिस्स थे।

---

१. आर्यमंजुश्री-मूलकल्प ३४४-४१।

यह सम्मेलन कुसुमपुर या पाटलिपुत्र में हुआ। यह सभा नव मास तक होती रही और अशोक के १७वें वर्ष में हुई। चतुर्थ संगीति राजा कनिष्क के काल[१] में हुई।

कल्पद्रुम के अनुसार बौद्धसंघ के सात स्तम्भ थे। कश्मीर में आनन्द, प्रयाग में माध्यन्दिन, मथुरा में उपगुप्त, अंग में आर्यकृष्ण, उज्जयिनी में धीतिक, भृगुकच्छ में सुदर्शन तथा करन्द विहार में यशः थे।

संघ में फूट के कारण

बुद्ध के दशम वर्ष में ही कौशाम्बी में भिक्षुओं ने बुद्ध की बात बार-बार समझाने पर भी न मानी[२]। अतः वे क्रोध में आकर जंगल चले गये ; किन्तु आनन्द के कहने से उन्होंने फिर से लोगों को समझाया। देवदत्त, नन्द इत्यादि खुशी से संघ में न आये थे ; अतः, ये लोग सर्वदा संघ में फूट डालने की चेष्टा में रहते थे। देवदत्त ने नापित उपालि को नमस्कार करना अस्वीकार कर दिया। एक बार देवदत्त ने भगवान बुद्ध से पाँच बातें स्वीकार करने की प्रार्थना की। सभी भिक्षु आजीवन अरण्यवासी, वृक्षों के नीचे रहनेवाले, पंसु-कूलिक (गुदड़ी-धारी), पिण्डपातिक (भिक्षा पर ही जीवित) तथा शाकाहारी हों। बुद्ध ने कहा कि जो ऐसा चाहें कर सकते हैं ; किन्तु मैं इस सम्बन्ध में नियम न करूँगा। अतः देवदत्त ने बुद्ध और उनके अनुयायियों पर अनेक अड़ंगा लगाया तथा वह सर्वदा उनके चरित्र पर कीचड़ फेंकने की चेष्टा में रहता था। उसने बुद्ध की हत्या के लिए धनुर्धारियों को नियुक्त किया, शिला फेंकवाई तथा नालागिरि हाथी छुड़वाया।

एक बार संघ के लोगों को बहकाकर ५०० भिक्षुओं के साथ देवदत्त गया-सीस जाकर ठाट से रहने लगा। इससे बुद्ध को बहुत क्षोभ हुआ और उन्होंने सारिपुत्त को भेजा कि तुम जाकर किसी प्रकार मेरे भूतपूर्व शिष्यों को समझाकर वापस लाओ।

देवदत्त, राजकुमार अजातशत्रु को अपने प्रति श्रद्धावान् कर लाभ उठाता था। अजातशत्रु गया-शीर्ष में विहार बनवाकर देवदत्त के अनुयायियों को सुस्वादु भोजन बाँटता था। सुन्दर भोजन के कारण देवदत्त के शिष्यों की संख्या बुद्ध के शिष्यों से अधिक होने लगी। देवदत्त विहार में ही रहता था। देवदत्त के शिष्य बौद्धों से कहते—क्या तुम प्रतिदिन पसीना बहाकर भिक्षा माँगते हो ?

भगवान् बुद्ध के समय अनेक भिक्षुक आपस में झगड़ते[३] थे कि मैं बड़ा हूँ, मैं बड़ा हूँ। मैं क्षत्रिय कुलोत्पन्न, मैं ब्राह्मण कुलोत्पन्न प्रव्रजित हूँ। इसपर बुद्ध ने नियम कर दिया कि भिक्षुओं में पूर्वप्रव्रजित बड़ा होगा। ये भिक्षु उस समय असहाय दरिद्रों को भी प्रलोभन[४] देकर संघ में सम्मिलित कर लेते थे। कितने लोग तो केवल हलवा और मालपूआ ही उड़ाने के लिए संघ में भर्ती हो जाते थे।[५] संघ में अनेक भिक्षु ढोंगी[६] भी थे। सामान्य भिक्षु प्रश्नों के उत्तर देने से[७] घबराते थे।

---

१. कनिष्ककाल ११५६ खृष्टपूर्व, बनारस भंडारकर ओ० रिसर्च इंस्टीच्यूट पूना, १९५० देखें—त्रिवेदलिखित।
२. जातक भाग ४ पृ० १४५। (कौसल्यायन)
३. तित्तिर जातक
४. लोसक जातक
५. बुद्धाल जातक
६. बिलारवत जातक
७. गूथपाणक जातक

बौद्ध-ग्रन्थ

पालि वाङ्मय में त्रिपिटक का विस्तार[१] निम्न लिखित है—

१. सुत्तपिटक—यह पाँच निकायों में विभक्त है तथा उनकी टीकाओं का नाम भी साथ ही दिया जाता है।

(क) दीघ निकाय	सुमंगल विलासिनी
(ख) मज्झिमनिकाय	पपंच सूदनी
(ग) अंगुत्तरनिकाय	मनोरथ पूरनी
(घ) संयुत्त निकाय	सारार्थ प्रकाशिनी

(ङ) खुद्दकनिकाय—जिसके १५ ग्रन्थ (सटीक) निम्न लिखित हैं—

१. खुद्दक पाठ	परमार्थ ज्योतिका
२. धम्मपद	धम्मपदार्थ कथा
३. उदान	परमार्थ दीपनी
४. इतिवुत्तक	,, ,,
५. सुत्तनिपात	परमार्थ ज्योतिका
६. विमान वत्थु	परमार्थ दीपनी
७. पेत वत्थु	,, ,,
८. थेरगाथा	,, ,,
९. थेरीगाथा	,, ,,
१०. जातक	जातकार्थ कथा
११. निद्देस	
(क) महानिद्देस	सद्धम्मोपज्योतिका
(ख) चूलनिद्देस	,, ,,
१२. पटिसम्भिदामग्ग	सद्धर्म प्रकाशिनी
१३. अपदान	
(क) थेरावदान	विशुद्धजन विलासिनी
(ख) थेरी अवदान	,, ,,
१४. बुद्ध वंश	मधुरार्थ विलासिनी
१५. चरिया पिटक	परमार्थ दीपनी

२. विनयपिटक—यह भी पाँच भागों में विभक्त है—

(क) महावग्ग	... ...
(ख) चूलवग्ग	... ...
(ग) पाराजिका (भिक्खुविभंग)	सामन्त पसादिक
(घ) पाचित्तियादि (भिक्खुनीविभंग)	,, ,,
(ङ) परिवार पाठ	... ...

---

१. दीघनिकाय अट्ठकथा की निदान कथा।

३. अभिधम्म पिटक

(क) धम्मसंगणि	अत्थसालिनी
(ख) विभंग	सम्मोह विनोदनी
(ग) धातुकथा	परमार्थ दीपनी
(घ) पुग्गल पञ्ञति	" "
(ङ) कथावत्थु	" "
(च) यमक	" "
(छ) पट्ठान	" "

बुद्धघोष के समय तक उपर्युक्त सभी मूल ग्रन्थों या इनके उद्धरणों के लिए 'पालि' शब्द का व्यवहार होता था। बुद्धघोष ने इन पुस्तकों से जहाँ कोई उद्धरण लिया, वहाँ 'अयमेत्थ पालि' (यहाँ यह पालि है) या 'पालियं वुत्तं' (पालि में कहा गया है) का प्रयोग किया है। जिस प्रकार पाणिनि ने 'छन्दसि' शब्द से वेदों का तथा 'भाषायाम्' से तात्कालिक संस्कृत भाषा का उल्लेख किया, उसी प्रकार बुद्धघोष ने भी 'पालियं' से त्रिपिटक तथा 'अट्ठकथायं' से तथाकाल सिंहलद्वीप में प्रचलित अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है।

अट्ठकथा या अर्थकथा से तात्पर्य है—अर्थ-सहित कथा। जिस प्रकार वेद को समझने के लिए भाष्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार त्रिपिटक को समझने के लिए अट्ठकथा की। हमें सभी त्रिपिटकों के भाष्य या अट्ठकथा प्राप्त नहीं।

अट्ठकथाचार्य या भाष्यकारों के मत में त्रिपिटकों का वर्गीकरण प्रथम संगीति के अनुसार है। किन्तु चुल्लवग्ग में वर्णित प्रथम संगीति में त्रिपिटक का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। अभिधम्मपिटक के कथावत्थु के रचयिता तो स्पष्टतः अशोकगुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स है। अतः हम कह सकते हैं कि त्रिपिटकों का आधुनिक रूप तृतीय संगीति काल के अन्त तक हो चुका था।

भगवान् बुद्ध के वचनों का एक प्राचीन वर्गीकरण त्रिपिटक में इस प्रकार है—

१. सुत्त—यह सूत्र या सूक्त का रूप है। इन सूत्रों पर व्याख्याएँ हैं जिन्हें वेय्याकरण कहते हैं।

२. गेय्य—सुत्तों में जो गाथाओं का अंग है, वह गेय्य है।

३. वेय्याकरण—व्याख्या। किसी सूत्र का विस्तारपूर्वक अर्थ करने को वेय्याकरण कहते हैं। इसका व्याकरण शब्द से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

४. गाथा—धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा—ये गाथा हैं।

५. उदान—उल्लासवाक्य।

६. इतिवुत्तक—खुद्दकनिकाय का इतिवुत्तक १२४ इतिवुत्तकों का संग्रह है।

७. जातक—यह जन्म सम्बन्धी कथासाहित्य है।

८. अब्भुतधम्म (अद्भुतधर्म)—असाधारण धर्म।

९. वेदल्ल—बुद्ध के साथ ब्राह्मण-श्रमणों के जो प्रश्नोत्तर होते थे, वे वेदल्ल कहलाते थे।

---

१. जातक, भदन्त आनन्दकौसल्यायन—अनूदित देखें—हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम खण्ड, भूमिका।

बुद्धभाषा

अभी तक यह विवादास्पद है कि संस्कृत, पाली या गाथा में कौन बौद्धधर्म की मूल भाषा है। सभी के सामने बुद्ध संस्कृत भाषा नहीं बोलते होंगे। वह जनता की भाषा भले ही बोलें। साथ ही दो भाषाओं का प्रयोग भी न होता होगा। ओल्डेनवर्ग के शिष्य पाली को ही बौद्ध धर्म की मूलभाषा मानते हैं; किन्तु चीन और तिब्बत से अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद मिला है। अपितु तिब्बत, चीन एवं जापान की देवभाषा संस्कृत है। राजा उदयी के समय ही सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य को लेखबद्ध किया गया। यह किस भाषा में था, इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं; किन्तु यह अनुयायियों की विद्वत्ता और योग्यता पर निर्भर था। बुद्ध ने जनभाषा में भले ही प्रचार-कार्य किया हो; किन्तु विद्वानों ने मूल बौद्धसाहित्य, जिसका अनुवाद हमें उत्तरी साहित्य में मिलता है, संभवतः संस्कृत भाषा में लिखा था।

आधुनिक बौद्ध साहित्य की रचना मगध से सुदूर सिंहल द्वीप में वट्टगामिनी के राज्यकाल (विक्रमपूर्व २७वें वर्ष) में हुई। इसे मगध के विद्वानों ने ही तत्कालीन प्रचलित भाषा में लिखने का यत्न किया। पाली और सिंहली दोनों भाषाएँ प्राचीन मागधी से बहुत मिलती हैं। गौतम ने मागधी की सेवा उसी प्रकार की, जिस प्रकार हज़रत महम्मद ने अरबी भाषा की सेवा की है।

बुद्ध और अहिंसा

भगवान् बुद्ध का मत था कि यथासंभव सभी कलह आपस में शांति के साथ निबट जायँ। एक बार शाक्य और कोलियों में महाकलह[1] की आशंका हुई। भगवन् बुद्ध के पहुंचते ही दोनों पक्ष के लोग शांत हो गये; किन्तु उनके राजा युद्ध पर तुले हुए थे। वे दोनों शास्ता के पास पहुँचे। शास्ता ने पूछा—कहिए किस बात का कलह है?

जल के विषय में।

जल का क्या मूल्य है?

भगवन्! बहुत कम।

पृथ्वी का क्या मूल्य है?

यह बहुमूल्य वस्तु है।

युद्ध के सेनापतियों का क्या मूल्य है?

भगवन्! वे अमूल्य हैं।

तब भगवान् बुद्ध ने समझाया कि क्यों बेकार पानी के लिए महाकुलोत्पन्न सेनापतियों के नाश पर तुले हो। इस प्रकार समझाने से दोनों राजाओं में समझौता हो गया तथा दोनों दल के लोगों ने अपने-अपने पक्ष से बुद्ध को २५० नौजवान वीर दिये जो भिक्षुक हो गये।

मांस-भक्षण के विषय में भगवान् बुद्ध ने कभी नियम न बनाया। एक बार लोगों ने खिल्ली उड़ाई तो भगवान् ने कहा कि जहाँ भिक्षुओं के निमित्त जीवहत्या की गई हो, वहाँ वे उस मांस का भक्षण न करें। स्वयं भगवान् बुद्ध ने अपने अन्तिम दिनों में सूकर का मांस खाया जिससे उन्हें अतिसार हो गया। यह सूकर का आँचार था। कुछ लोग इसे बांस की जड़ का आँचार बतलाते हैं। आजकल सभी देशों के बौद्ध खूब मांस खाते हैं। अहिंसा की पराकाष्ठा की सीमा पर तो जैनियों ने पहुँचाया।

---

1. कुणाल जातक

प्राचीन भारत के सभी धर्मों की खान बिहार ही है। यहीं व्रात्य, वैदिक, जैन, बौद्ध दरियापंथ, सिक्ख धर्म, वीर वैरागी लस्करी इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ। जिन-जिन धर्मों ने केवल राज्यप्रश्रय लेकर आगे बढ़ने का साहस किया, वे कुछ दिनों तक तो खूब फूले-फले; किन्तु राज्य प्रश्रय हटते ही वे जनता के हृदय से हटकर धड़ाम से धमाके के साथ टूट-फूटकर विनष्ट हो गये।

बौद्धों की शक्ति और दुर्बलता के कारण अनेक दरिद्र असहाय बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये; किन्तु जैनधर्म में सदा प्रभावशाली और धनीमानी व्यक्ति ही प्रवेश कर पाये। विहार बौद्धों का केन्द्र रहा। यदि विहार नष्ट हो गया तो सारे बौद्ध मेटियामेट हो गये। जिस प्रकार जैनधर्म में साधारण जनता को स्थान दिया गया, उसी प्रकार बौद्धधर्म में नहीं दिया गया। बौद्धधर्म में केवल विहार और भिक्षुओं के ऊपर ही विशेष ध्यान दिया गया। अपितु जैन राजनीति से प्रायः दूर रहे और इन्होंने राजसत्ता का कभी विरोध नहीं किया। किन्तु बौद्ध तो भारत की गद्दी पर किसी अबौद्ध को सीधी आँखों से देख भी नहीं सकते थे। जब कभी कोई विदेशी बौद्ध राजा आक्रमण करता था तब भारतीय बौद्ध उसका साथ देने में संकोच नहीं करते थे। अतः भारत से बौद्धों का निष्कासन और पतन अवश्यम्भावी था।

त्रयोविंश अध्याय

नास्तिक-धाराएँ

जीवक अजातशत्रु का राजवैद्य था। अजातशत्रु जीवक के साथ, जीवक के आम्र-वन में बुद्ध के पास गया। अजातशत्रु कहता[1] है कि मैं विभिन्न ६ नास्तिकों के पास भी गया और उन्होंने अपने मत की व्याख्या की। राजा के पूछने पर बुद्ध ने अपने नूतन मत चलाने का कारण बतलाया। 'महापरि-निव्वाण-सुत्त' में उल्लेख है कि पुराण कश्यप, गोशाल मंक्खली, केशधारी अजित, पकुध कात्यायन, वेलत्थी दासी पुत्र संजय तथा निगंठनाथ पुत्त ये सभी बुद्ध के समकालीन थे।

कस्सप

यह सर्वत्र गाँवों में भी नग्न घूमता था। इसने अक्रियावाद या निष्क्रियावाद की व्याख्या की अर्थात् यह घोषणा की कि आत्मा के ऊपर हमारे पुण्य या पाप का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके ५०० अनुयायी थे। यह अपनेको सर्वदर्शी बतलाता था। धम्मपद टीका के अनुसार यह बुद्ध की महिमा को न सह सका। वह यमुना नदी में, लज्जा के कारण श्रावस्ती के पास गले में रस्सी और घड़ा बाँधकर, डूब कर मर गया। यह बुद्धत्व के सोलहवें वर्ष की कथा है। अतः अजातशत्रु ने इस गोत्र के किसी अन्य प्रव्रज्या से भेंट की होगी।

मंक्खलीपुत्र

इसका जन्म श्रावस्ती के एक गो-बहुल धनी ब्राह्मण की गोशाला में हुआ। यह 'आजीवक सम्प्रदाय' का जन्मदाता हुआ। यह प्रायः नंगा रहता था, ऊँकड़ू-बैठता था, चमगादड़-मत करता था और काँटों पर सोता था तथा पंचाग्नि तप करता था। बुद्ध इसे महान् नास्तिक और शत्रु समझते थे। जैनों के अनुसार इसका पिता मंक्खली और माता भद्रा थी। इसका पिता मंख (=चित्रों का विक्रेता) था। कहा जाता है कि महावीर और मंखली-पुत्र दोनों ने एक साथ छः वर्ष तपस्या की; किन्तु पटरी न बैठने के कारण वे अलग हो गये।

इसने अष्ट महानिमित्त का सिद्धान्त स्थिर किया। भगवतीसूत्र में गोशाल मंखली पुत्र के छः पूर्व जन्मों का विचित्र वर्णन मिलता है। अतः आजीवकों की उत्पत्ति महावीर से प्रायः १५० वर्ष पूर्व क० सं० २४०० में हुई। इनके अनुसार व्यक्तिगत प्रवृत्ति के कारण सभी सत्त्वों या प्राणियों की प्रवणता पूर्व कर्म या जाति के कारण होती है। सभी प्राणियों की गति ८४,००० योनियों में चक्कर काटने के बाद होती है। यह धर्म, तप और पुण्य कर्म से बदल नहीं सकता।

---

१ दीघ निकाय-सामन्तफल सुत्त पृ० १६-२२।

२ उवासगदासव पृ० १।

इसका ठीक नाम मष्करी था जिसका प्राकृत रूप मंखली और पाली रूप मक्खली है। पाणिनि[1] के अनुसार मस्कर (दण्ड०) से चलनेवाले को मस्करी कहते हैं। इन्हें एक दण्डी भी कहते हैं। पतंजलि के अनुसार इन्हें दण्ड लेकर चलने के कारण मस्करिन् कहते थे; किन्तु यथा संभव स्वेच्छाचारिता के कारण इन्हें मस्करी कहने लगे।

अजित

यह मनुष्यकेश का कंबल धारण करता था; अतः इसे केशकम्बली भी कहते थे। लोगों में इसका बहुत आदर था। यह उम्र में बुद्ध से बड़ा था। यह सत्कर्म या दुष्कर्म में विश्वास नहीं करता था।

कात्यायन

बुद्धघोष के अनुसार कात्यायन इसका गोत्रीय नाम था। इसका वास्तविक नाम पकुध था। यह सर्वदा गर्म जल का सेवन करता था। इसके अनुसार क्षिति, जल, पावक, समीर, दुःख, सुख और आत्मा सनातन तथा स्वभावतः अपरिवर्तनशील है। यह नदी पार करना पाप समझता था तथा पार करने पर प्रायश्चित्त में मिट्टी का टीला लगा देता था।

संजय

यह अमर विक्षिप्तों की तरह प्रश्नों का सीधा उत्तर देने के बदले टाल-मटोल किया करता था। सारिपुत्र तथा मोग्गलायन का प्रथम गुरु यही संजय परिव्राजक है। इनके बुद्ध के शिष्य हो जाने पर संजय के अनेक शिष्य चले गये और संजय शोक से मर गया। आचार में यह अविरुधक था।

निगंठ

निगंठों के अनुसार भूतकर्मों को तपश्चर्या से सुधारना चाहिए। ये केवल एक ही वस्त्र की विष्टि धारण करते थे तथा इसके गृहस्थानुयायी श्वेत वस्त्र पहनते थे। निगंठ सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म से भी प्राचीन है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने निगंठनाथ पुत्र को महावीर भगवान् से सम्बन्ध जोड़ने की व्यर्थ चेष्टा[2] की है।

अन्य सैद्धान्तिक

सूत्र कृतांग में चर्वाकमत का खंडन है। साथ ही वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक एवं गणायों का मान चूर्ण करने का यत्न[3] किया गया है। गणय चार ही तत्त्व से शरीर या आत्मा का रूप बतलाते हैं। क्रियावादी आत्मा मानते हैं। अक्रियावादी आत्मा नहीं मानते। वैनायक भक्ति से मुक्ति मानते हैं तथा अज्ञानवादी ज्ञान से नहीं तप से मुक्ति मानते हैं। बुद्ध ने दीघनिकाय में ६२ अन्य विचारों का भी उल्लेख किया है।

---

१. पाणिनि ६-१-१५४ मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः।

२. क्या बुद्ध और महावीर समकालीन थे? देखें, साहित्य, पटना, १६५० अक्टूबर पृ० ८।

३. वेणीमाधव बरुआ का 'प्राक् बौद्ध भारतीय दर्शन' देखें।

परिशिष्ट—क

युग-सिद्धान्त

प्राचीन काल के लोग सदा भूतकाल को स्वर्ण युग मानते थे। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं था। ऋग्वेद[1] के एक मंत्र से भी यही भावना टपकती है कि जैसे-जैसे समय बीतता जायगा मानसिक और शारीरिक क्षीणता बढ़ती जायगी। प्रारंभ में युग चार वर्षों का माना जाता था; क्योंकि दीर्घतमस् दशवें युग[2] में ही बूढ़ा हो गया।

ऋग्वेद में युग शब्द का प्रयोग अड़तीस बार हुआ है; किन्तु कहीं भी प्रसिद्ध युगों का नाम नहीं मिलता। कृत शब्द द्यूत में सबसे श्रेष्ठ पाशा[3] को कहते हैं। कलि ऋग्वेद[4] के एक ऋषि का नाम है और इसी सूक्त के १५ वें मंत्र में कहा गया है—ओ कलि के वंशज—डरो मत। कृत, त्रेता, द्वापर और आस्कन्द (कलि के लिए) शब्द हमें तैत्तिरीय संहिता, वाजसनेय संहिता तथा शतपथ[5] ब्राह्मण में मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण[6] कहता है—द्यूतशाला का अध्यक्ष कृत है, त्रेता भूलों से लाभ उठता है, द्वापर बाहर बैठता है और कलि द्यूतशाला में स्तंभ के समान ठहरा रहता है, अर्थात् कभी वहाँ से नहीं डिगता। ऐतरेय ब्राह्मण[7] में कलि सोता रहता है, बिस्तरा छोड़ने के समय द्वापर होता है, खड़ा होने पर त्रेता होता है और चलायमान होने पर कृत बन जाता है। यास्क[8] प्राचीन काल और बाद के ऋषियों में भेद करता है। हमें विष्णु पुराण, महाभारत, मनुस्मृति एवं पुराणों में चतुर्युग सिद्धान्त[9] का पूर्ण प्रतिपादन मिलता है। यहाँ बतलाया गया है कि किस प्रकार युग बीतने पर क्रमशः नैतिक, धार्मिक तथा शारीरिक पतन होता जाता है। यह कहना कठिन है कि कब इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन हुआ; किन्तु

---

१. ऋग्वेद १०-१०-१०।

२. ऋग्वेद १०-१५८-६।

३. ,, १०-३४-६।

४. ,, ८-६६।

५. तैत्तिरीय सं० ४-३-३; वाजसनेय सं० ३०-१८; शतपथ ब्राह्मण (सै० बुक आफ ईस्ट भाग ४४ पृ० ४१६)।

६. तैत्तिरीय ब्राह्मण १-५-५१।

७. ऐतरेय ब्राह्मण ३३-३।

८. निरुक्त १-२०।

९. विष्णुपुराण १-३-४; महाभारत वनपर्व १४६ और १८३; मनु १-८१-६; ब्रह्मपुराण १२२-३; मत्स्यपुराण १४१-३; नारदपुराण ४१ अध्याय।

श्री पाण्डुरंग वामन काणे का मत है कि विक्रम के पाँच सौ वर्ष पूर्व ही बौद्ध-धर्म के प्रसार होने से फैलनेवाले मतमतान्तर के पूर्व ही भारत में यह सिद्धान्त[1] परिपक्व हो चुका था।

पार्जिटर[2] के मत में इस युग गणना का ऐतिहासिक आधार प्रतीत होता है। कालान्तर में इसे विश्वकाल गणना का विचित्र रूप दिया गया। हैहयों के नाश के समय कृत युग का अन्त हुआ। त्रेता युग सगर राजा के काल से आरम्भ हुआ तथा दाशरथि राम द्वारा राक्षसों के विनाश काल में त्रेता का अन्त हो गया। अयोध्या में रामचन्द्र के सिंहासन पर बैठने के काल से द्वापर आरम्भ हुआ तथा महाभारत युद्ध समाप्ति के साथ द्वापर के अन्त के बाद कलि का प्रारम्भ हुआ।

अनन्त प्रसाद बनर्जी शास्त्री[3] का विचार है कि प्रत्येक युग एक विशेष सभ्यता के एक विशिष्ट तत्त्व के लिए निर्धारित है। संभवतः, संसार के चतुर्युग का सिद्धान्त जीवन के आदर्श पर आधारित है। जैसा सुदूर जीवन पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है, वैसा ही साधारण मनुष्य भी संसार की कल्पना करता है। प्रथम युग सबसे छोटा तथा श्रेष्ठ होता है। उसके बाद के युग धीरे-धीरे खराब और साथ ही लम्बे होते जाते हैं[4]।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार संसार का काल अनन्त है। यह कई कल्पों का या सृष्टि-काल संवत्सरों का समुदय है। प्रत्येक कल्प में एक सहस्रचतुर्युग या महायुग होता है। प्रत्येक महायुग में चार युग अर्थात् कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग होते हैं। ४३,२०,००० वर्षों का एक महायुग होता है। इस महायुग में सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग क्रमशः १२००, २४००, ३६०० और ४८०० देववर्षों के होते हैं। इन देववर्षों को ३६० से गुणा करने से मानव वर्ष होता है। इस प्रकार चारों युगों का काल कुल १२००० देववर्ष या ४३,२०,००० मानव वर्ष होता है। ज्योतिर्गणना के अनुसार सूर्य, चन्द्र इत्यादि नवों ग्रहों का पूर्ण चक्कर एक साथ ४३,२०,००० वर्षों में पूरा हो जाता है। जे० बी० बायटन[5] ने विक्रम-संवत् १६१६ में इस ज्योति-गणना को सिद्ध किया था। अभी हाल में ही फिलिजट[6] ने स्पष्ट किया है कि भारतीय ज्योतिर्गणना तथा बेरोसस और हेराक्लिटस की गणना में पूर्ण समता है। अपितु ऋग्वेद में कुल ४,३२,००० अक्षर है। वैदिक युग चार वर्षों का होता था। इन चार वर्षों में सूर्य और चन्द्र का पूर्णचक्कर एक साथ पूरा हो जाता था। महायुग का सिद्धान्त इसी वैदिक युग का प्रस्तार ज्ञात होता है।

---

१. बम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसायटी १६३६ ई०, श्री पांडुरंग वामन काणे का लेख कलिवर्ज्य पृ० १-१८।

२. ऐंसियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन पृ० १७५-७।

३. बिहार उड़ीसा के प्राचीन अभिलेख, पटना १६२७, पृ० १२।

४. सैक्रेड बुक आफ ईस्ट, भाग ४५, पृ० १७ टिप्पणी।

५. भारतीय और चीनी ज्योतिःशास्त्र का अध्ययन, जे० बी० बायटन लिखित, पेरिस, सन् १८६२, पृ० ३७ (एटूडे सुर ला अस्त्रानमी इण्डियाना एत सुर ला अस्त्रानामी चाइनीज)

६. पेरिस के एसियाटिक सोसायटी को संवाद, ४ अप्रिल १८४८ तुलना करें जर्नल एसियाटिक १८४८-४६ पृ० ८।

जैनों के अनुसार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दो कल्प हैं। आधुनिक काल अवसर्पिणी[1] है जिसमें क्रमागत मानवता का ह्रास होता जा रहा है। पहले मनुष्य की आयु और देह विशाल होती थी। कहा जाता है कि कलियुग में मनुष्य साढ़े तीन हाथ, द्वापर में सात हाथ, त्रेता में साढ़े दस हाथ और सत्ययुग में आजकल की गणना से १४ हाथ के होते थे। उनकी आयु भी इसी प्रकार १००, २००, ३००, और ४०० वर्षों की होती थी। किन्तु धीरे-धीरे मानवता के ह्रास के साथ-साथ मनुष्य के काय और आयु का भी ह्रास होता गया। जैनों के अनुसार जिस काल में हम लोग रहते हैं, वह पंचम युग है जो भगवान् महावीर के निर्वाण काल से प्रारंभ होता है। इसके बाद और भी बुरा युग आयगा जिसे उत्सर्पिणी कहते हैं। यह कालचक्र है। चक्र या पहिया तो सदा चलायमान है। जब चक्र ऊपर की ओर रहता है तो अवसर्पिणी गति और नीचे की ओर होता है तो उसे काल की उत्सर्पिणी गति कहते हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि अवसर्पिणी ब्रह्म का दिन और उत्सर्पिणी रात्रि-काल का द्योतक है।

श्रीकृष्ण के शरीर त्याग के काल से कलियुग का आरंभ हुआ। कलियुग[2] का प्रारंभ ३१०१ वर्ष (खृष्टपूर्व) तथा३०४४ वर्ष विक्रमपूर्व हुआ। इस कलियुग के अबतक प्रायः ५०५५ वर्ष बीत गये।

---

१. लुई रेणुलिखित रेलिजन्स आफ एंसियंट इण्डिया, युनवर्सिटी आफ लन्दन १९२६ पृ० ७४ तथा पृ० १३१ देखें।

२. (क) भारतीय विद्या, बम्बई, भाग ६, पृ० ११७-१२३ देखें—त्रिवेद लिखित ए न्यू शीट एंकर ऑफ हिस्ट्री तथा (ख) त्रिवेदलिखित—'संसार के इतिहास का नूतन शिलान्यास' हिन्दुस्तानी, प्रयाग १९४६, देखें।

परिशिष्ट—ख

भारतयुद्ध-काल

भारतवर्ष के प्रायः सभी राजाओं ने महाभारत-युद्ध में कौरव या पाण्डवों की ओर से भाग लिया। महाभारत युद्ध-काल ही पौराणिक वंश गणना में आगे-पीछे गणना का आधार है। भारतीय परम्परा के अनुसार यह युद्ध[1] कलि-संवत् के आरम्भ होने के ३६ वर्ष पूर्व या खृष्ट पूर्व ३१३७ में हुआ। इस तिथि को अनेक आधुनिक विद्वान् श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते, यद्यपि वंशावली[2] और ज्योतिर्गणना के आधार पर इस युद्ध-काल की परम्परा को ठीक बतलाने का यत्न किया गया है। गर्ग, वराहमिहिर, अलबेरुनी और कल्हण युद्धकाल कलिसंवत् ६५३ वर्ष बाद मानते है। आधुनिक विद्वानों ने भी इसके समर्थन[3] का कुछ यत्न किया है।

आधुनिक विद्वान् युद्धकाल कलिसंवत् १६०० के लगभग मानते हैं। इनका आधार एक श्लोक है, जिसमें नन्द और परीक्षित् का मध्यकाल बतलाया गया है। इस अभ्यन्तर काल को अन्यत्र १५०० या १५०१ वर्ष सिद्ध[4] किया गया है। सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालीनता[5] कलि-संवत् २७७५ में लोग मानते हैं। अतः महाभारतयुद्ध का काल हुआ २७७५—(४० + १५०१) कलि-संवत् १२३४ या खृष्ट पूर्व १८६७।

इस प्रकार लोग महाभारत युद्ध-काल के विषय में तीन परम्पराओं को प्रचलित बतलाते हैं जिसके अनुसार महाभारत युद्ध को खृष्ट पूर्व ३१३७, खृष्ट पूर्व २४४८ और खृष्ट पूर्व १५०० के लगभग सिद्ध करते हैं। इनमें प्रथम दो ही परम्पराओं के विषय में विचार करना युक्त है जिनका सामंजस्य कश्मीर की वंशावली में करने का यत्न किया गया है। तृतीय परम्परा सिकन्दर और चन्द्रगुप्त की अयुक्त समकालीनता पर निर्भर है।

किन्तु जबतक महाभारत की विभिन्न तिथियों के बीच सामंजस्य नहीं मिले, तबतक हम एक तिथि को ही संपूर्ण श्रेय नहीं दे सकते। अतः युद्धकाल का वास्तविक निर्णय अभी विवादास्पद ही समझना चाहिए।

---

१. महाभारत की लड़ाई कब हुई ? हिन्दुस्तानी, जनवरी १९४० पृ०१०१-११२।

२. (क) कश्मीर की संशोधित राजवंशावली, जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भाग १८, पृ० ४९-६७।
(ख) नेपाल राजवंश, साहित्य, पटना, १९५१, पृ० २१ तथा ७९ देखें।
(ग) मगध-राजवंश, त्रिवेदलिखित, साहित्य, पटना, १९४० देखें।

३. जर्नल रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, भाग ४ (१९३८, कलकत्ता पृ० ३९३-४१३) प्रबोधचन्द्र सेन गुप्त का भारत-युद्ध परम्परा।

४. नन्दपरीक्षिताभ्यन्तर काल, हिन्दुस्तानी, १९४७ पृ० ६९-७४, तथा इस ग्रन्थ का पृ० ११६ देखें।

५. (क) भारतीय इतिहास का शिलान्यास, हिन्दुस्तानी, १९४५ देखें।
(ख) सीट ऐंकर आफ इण्डियन हिस्ट्री, अनाल्स भ० ओ० रि० इंस्टीच्यूट का रजतांक देखें।

परिशिष्ट (ग)

समकालिक राजसूची

क्रम संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	वैशाली	विदेह	अंग	मगध	करुष	कलि-पूर्व
१	खृष्ट-पूर्व ४,४७१ वर्ष	मनु	...	...	...	...	...	१३७० वर्ष
२	,, ४४४३ ,,	इक्ष्वाकु	नाभानेदिष्ट	...	...	...	करुष	१३४२ ,,
३	,, ४४१५ ,,	विकुक्षि (शशाद)	...	निमि	...	...	...	१३१४ ,,
४	,, ४३८७ ,,	काकुत्स्थ	...	...	...	...	...	१२८६ ,,
५	,, ४३५९ ,,	अनेनस	...	मिथि	...	...	...	१२५८ ,,
६	,, ४३३१ ,,	पृथु	भलन्दन	...	...	...	...	१२३० ,,
७	,, ४२०३ ,,	विष्टराश्व	...	...	...	...	...	१२०२ ,,
८	,, ४२७५ ,,	आर्द्र	वत्सप्री	उदावसु	...	...	...	११७४ ,,

क्रम संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	वैशाली	विदेह	करुष	कलि-पूर्व
९	खृष्ट-पूर्व ४,२४७ वर्ष	यौवनाश्व प्रथम	...	...	...	११४६ वर्ष
१०	,, ४,२१९ ,,	श्रावस्त	...	...	...	१११८ ,,
११	,, ४,१९१ ,,	बृहदश्व	...	नन्दिवर्द्धन	...	१०९० ,,
१२	,, ४,१६३ ,,	कुवलयाश्व	प्रांशु	....	...	१०६२ ,,
१३	,, ४,१३५ ,,	दृढाश्व	...	...	...	१०३४ ,,
१४	,, ४,१०७ ,,	प्रमोद	...	सुकेतु	...	१००६ ,,
१५	,, ४,०७९ ,,	हर्यश्व प्रथम	...	...	...	९७८ ,,
१६	,, ४,०५१ ,,	निकुंभ	प्रजनि	...	...	९५० ,,
१७	,, ४,०२३ ,,	संहताश्व	...	देवव्रत	...	९२२ ,,
१८	,, ३,९९५ ,,	अक्रुशाश्व	...	...	...	८९४ ,,
१९	,, ३,९६७ ,,	प्रसेनजित्	...	...	...	८६६ ,,
२०	,, ३,९३९ ,,	यौवनाश्व द्वितीय	खनित्र [1]	बृहदुक्थ	...	८३८ ,,
२१	,, ३,९११ ,,	मान्धाता	...	...	...	८१० ,,

१. इसकी दैनिक प्रार्थना गाँधीवाद की भित्ति कही जा सकती है। १७४ पृ० देखें।

नन्दन्तु सर्वभूतानि स्निह्यन्तु विजनेष्वपि ।।
स्वस्त्यस्तु सर्वभूतेषु निरातङ्कानि सन्तु च ।।
मा व्याधिरस्तु भूतानामाधयो न भवन्तुच ।।१३।।
मैत्रीमशेषभूतानि पुष्यन्तु सकले जने ।।
शिवमस्तु द्विजातीनां प्रीतिरस्तु परस्परम् ।।१४।।
समृद्धिः सर्ववर्णानां सिद्धिरस्तु च कर्मणाम् ।।
ते लोकाः सर्वभूतेषु शिवा वोऽस्तु सदामतिः ।।१५।।
यथात्मनि तथा पुत्रे हितमिच्छथ सर्वदा ।।
तथा समस्तभूतेषु वर्त्तध्वं हितबुद्धयः ।।१६।।
एतद्वो हितमत्यन्तं को वा कस्यापराध्यते ।।
यत् करोत्यहितं किञ्चित् कस्यचिन्मूढमानसः ।।१७।।
तं समभ्येति तन्न्यूनं कर्तृगामि फलं यतः ।।
इति मत्वा समस्तेषु भो लोकाः कृतबुद्धयः ।।१८।।
सन्तु मा लौकिकं पापं लोकाः प्राप्स्यथ वै बुधाः ।।
यो मेऽद्य स्निह्यते तस्य शिवमस्तु सदा भुवि ।।१९।।
यश्चमां द्वेष्टि लोकेऽस्मिन् सोऽपि भद्राणि पश्यतु ।।

—मार्कण्डेयपुराण ११७ ।।

[सभी प्राणी आनन्द करें तथा जंगल में भी एक दूसरे से प्रेम करें। सभी प्राणियों का कल्याण हो तथा सभी निर्भय रहें। किसी को भी किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक पीड़ा न हो। सभी जीवों का सभी जीवों से मित्रता बढ़े। द्विजातियों का मंगल हो तथा सभी आपस में प्रेम करें। चारों वर्णों के धनधान्य की वृद्धि हो। कामों में सिद्धि हो। हमलोगों की मति ऐसी हो कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे सभी सुखी हों तथा जिस प्रकार मेरा और मेरे पुत्र का कल्याण हो, उसी प्रकार सारे संसार के कल्याण में मेरी बुद्धि लगी रहे। यह आपके लिए अत्यन्त हितकारक है, यदि ऐसा सोचें तो भला कौन किसकी हानि पहुँचा सकता है। यदि कोई मूर्ख किसी की बुराई कर भी दे तो उसी के अनुसार वह उसका फल भी पा लेता है। अतःहे सद्बुद्धिवाले सज्जन ! ऐसा सोचें कि मुझे किसी प्रकार का संसारिक पाप न हो। जो मुझ से प्रेम करे, उसका संसार में कल्याण हो तथा जो मुझसे द्वेष करे उसका भी सर्वत्र मंगल हो।]

क्रम संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	वैशाली	विदेह	अंग	करुष	कलि-पूर्व
२२	खृष्ट-पूर्व ३,८८३ वर्ष	पुरुकुत्स	...	...	... ...	...	७८२ वर्ष
२३	,, ३,८४५ ,,	त्रसद्दस्यु प्रथम	...	महावीर्य	पश्चिमोत्तर से महामनस् आया	...	७५४ ,,
२४	,, ३,८२७ ,,	संभूत	त्तुप	...	पश्चिमोत्तर में (पूर्वोत्तरमें)	...	७२६ ,,
२५	,, ३,७६६ ,,	अनरण्य	...		उशीनर तितिक्षु	...	६६८ ,,
२६	,, ३,७७१ ,,	त्रसद्दस्यु द्वितीय	...	धृतिमन्त		...	६७० ,,
२७	,, ३,७४३ ,,	हर्यश्वद्वितीय	...	...	... ...	...	६४२ ,,
२८	,, ३,७१५ ,,	वसुमनस्	विंश	...	... ...	...	६१४ ,,
२९	,, ३,६८७ ,,	त्रिघन्वन्	...	सुधृति	... ...	...	५८६ ,,
३०	,, ३,६५६ ,,	त्रय्यारुण	...	...	....	...	५५८ ,,
३१	,, ३,६३१ ,,	सत्यव्रत–(त्रिशंकु)	विविंश	धृष्टकेतु	... ...	...	५३० ,,
३२	,, ३,६०३ ,,	हरिश्चन्द्र	...	...	... रुषद्रथं	...	५०२ ,,
३३	,, ३,५७५ ,,	रोहित	...	...	... हेम	...	४७४ ,,

क्रम संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	वैशाली	विदेह	अंग	करुष	कलि-पूर्व
३४	खृष्ट-पूर्व ३,५४७ वर्ष	हरित्त चंचु	खनिनेत्र	हर्यश्व	...	...	४४६ वर्ष
३५	,, ३,५१६ ,,	विजय	...	...	...	...	४१८ ,,
३६	,, ३,४६१ ,,	रुरुक	...	...	...	...	३६० ,,
३७	,, ३,४६३ ,,	वृक	करन्धम	मरु	सुतपस्	...	३६२ ,,
३८	,, ३,४३५ ,,	बाहु	अवीक्षित	...	...	...	३३४ ,,
३९	,, ३,४०७ ,,	...	मरुत्	...	...	...	३०७ ,,

त्रेता युग का आरंभ

क्रम-संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	वैशाली	विदेह	अंग	करुष	कलि-पूर्व
४०	खृष्ट-पूर्व ३,३७९ वर्ष	सगर	नरिष्यन्त	प्रतिन्धक	बली	...	२७८वर्ष
४१	„ ३,३५१ „	असमंजस	दम	...	...	...	२५०
४२	„ ३,२२३ „	अंशुमन्त	...	...	अंग	...	२२२
४३	„ ३,२९५ „	दिलीप प्रथम	राष्ट्रवर्द्धन	कीर्तिरथ	...	...	१९४
४४	„ ३,२६७ „	भगीरथ	सुधृति	...	...	...	१६६
४५	„ ३,२३९ „	श्रुत	नर	...	...	...	१३८
४६	„ ३,२११ „	नाभाग	केवल	देवमीढ	दधिवाहन	...	११०
४७	„ ३,१८३ „	अम्बरीष	बन्धुमत	...	...	...	८२
४८	„ ३,१५५ „	सिंधुद्वीप	वेगवन्त	...	...	...	५४
४९	„ ३,१२७ „	अयुतायु	बुध	विबुध	...	...	२६
५०	„ ३,०९९ „	ऋतुपर्ण	...	...	दिविरथ	...	कलिसंवत् २
५१	„ ३,०७१ „	सर्वकाम	तृणबिन्दु	...	...	...	३०
५२	„ ३,०४३ „	सुदास	विश्रवस्	महाधृति	धर्मरथ	...	५८
५३	„ ३,०१५ „	कल्माषपाद	वशा ल	...	...	...	८६
५४	„ २,९८७ „	अश्मक	हेमचन्द्र	...	...	...	कलिसं० ११४

क्रम-संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	वैशाली	विदेह	अंग	करुष	कलि-संवत्
५५	खृष्ट-पूर्व २,९५६ वर्ष	मूलक	सुचन्द्र	कीर्तिरथ	....	...	१४२
५६	,, २,९३१ ,,	शतरथ	धूम्राश्व	...	चित्ररथ	....	१७०
५७	,, २,९०३ ,,	ऐडविड्	संजय	...	...	...	१९८
५८	,, २,८७५ ,,	विश्वसह	सहदेव	महारोमन्	...	...	२२६
५९	,, २,८४७ ,,	दिलीप (खट्वांग)	कृषाश्व	...	सत्यरथ	...	२५४
६०	,, २,८१९ ,,	दीर्घबाहु	...	स्वर्णरोमन	...	...	२८२
६१	,, २,७९१ ,,	रघु	सोमदत्त	...	...	...	३१०
६२	,, २,७६३ ,,	अज	जनमेजय	ह्रस्वरोमन	...	...	३३८
६३	,, २,७३५ ,,	दशरथ	प्रमति	सीरध्वज	लोमपाद	...	३६६
६४	,, २,७०७ ,,	राम	(समाप्त)	भानुमन्त	....	...	३९४

द्वापर युग का आरंभ

क्रम-संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	विदेह	अंग	मगध	करुष	कलि-पूर्व
६५	खृष्ट-पूर्व २,६७६ वर्ष		प्रद्युम्न	चतुरंग			४२२ वर्ष
६६	,, २,६५१ ,,	कुश	मुनि				४५० ,,
६७	,, २,६२३ ,,	अतिथि	उर्जवाह				४७८ ,,
६८	,, २,५६५ ,,	निषध	सनध्वज	पृथुलाक्ष			५०६ ,,
६९	,, २,५६७ ,,	नल	शकुनि				५३४ ,,
७०	,, २,५३९ ,,	नभास	अंजन	चम्प			५६२ ,,
७१	,, २,५११ ,,	पुण्डरीक	ऋतुजित्				५९० ,,
७२	,, २,४८३ ,,	क्षेमधन्वन्	अरिष्टनेमि	हर्यङ्ग			६१८ ,,
७३	,, २,४५५ ,,	देवानिक	श्रुतायुष				६४६ ,,
७४	,, २,४२७ ,,	अहीनगु	सुपार्श्व	भद्ररथ			६७४ ,,
७५	,, २,३९९ ,,	परिपात्र	संजय				७०२ ,,

क्रम-संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	विदेह	अंग	मगध	करुष	कलि-पूर्व
७६	खृष्ट-पूर्व २,३७१ वर्ष	बल	क्षेमारि				७३० वर्ष
७७	,, २,३४३ ,,	उकथ	अनेनस	बृहत्कर्मन्			७५८ ,,
७८	,, २,३१५ ,,	वज्रनाभ	मीनरथ		बृहद्रथ		७८६ ,,
७९	,, २,२८७ ,,	संखन	सत्यरथ		कुशाग्र		८१४ ,,
८०	,, २,२५९ ,,	व्युषिताश्व	उपगुरु	बृहद्रथ			८४२ ,,
८१	,, २,२३१ ,,	विश्वसह	उपगुप्त		ऋषभ		८७० ,,
८२	,, २,२०३ ,,	हिरण्यनाभ	स्वागत	बृहद्भानु	पुष्पवन्त		८९८ ,,
८३	,, २,१७५ ,,	पिष्य	सुवर्चस				९२६ ,,
८४	,, २,१४७ ,,	ध्रुवसंधि	श्रुत	बृहन्मनस्	सत्यहित		९५४ ,,
८५	,, २,११९ ,,	सुदर्शन	सुश्रुत		सुधन्वन्		९८२ ,,
८६	,, २,०९१ ,,	अग्निवर्ण	जय	जयद्रथ			१०१० ,,
८७	,, २,०६३ ,,	शीघ्र	विजय		उर्ज		१०३८ ,,

क्रम-संख्या	खृष्ट-पूर्व	अयोध्या	विदेह	अंग	मगध	करुष	कलि-पूर्व
८८	खृष्ट-पूर्व २,०३५ वर्ष	मरु	श्रुत	दृढरथ			१०६६ वर्ष
८९	„ २,००७ „	प्रसुश्रुत	सुनय		संभव	बृद्धशर्मन	१०९४ „
९०	„ १,९७९ „	सुसन्धि	वीतहव्य				११२२ „
९१	„ १,९५१ „	अमर्ष	धृति	विश्वजित	जरासंध	दन्तवक्त्र	११५० „
९२	„ १,९२३ „	विश्रुतवन्त	बहुलाश्व				११७८ „
९३	„ १,८९५ „	बृहद्बल	कृतक्षण	कर्ण	सहदेव		१२०६ „
९४	„ १,८६७ „	बृहत्क्षय		वृषसेन	सोमाधि		१२३४ „

परिशिष्ट—घ

मगध-राजवंश की तालिका

बार्हद्रथ वंश

संख्या	राजनाम	भुक्त-वर्ष	कलि-संवत्
१ २	सोमाधि मार्जारि	५८	१२३४—१२६२
३ ४	श्रुतश्रवा अप्रतीपी	६०	१२६२—१३५२
५	अयुतायु	३६	१३५२—१३८८
६ ७	निरमित्र शर्ममित्र	४०	१३८८—१४२८
८	सुरत्न या सुक्षत्र	५८	१४२८—१४८६
९	बृहत्कर्मा	२३	१४८६—१५०९
१०	सेनाजित्	५०	१५०९—१५५९
११ १२	शत्रुंजय महाबल या रिपुंजय प्रथम	४०	१५५९—१५९९
१३	विभु	२८	१५९९—१६२७
१४	शुचि	६४	१६२७—१६९१
१५	क्षेम	२८	१६९१—१७१९
१६ १७	क्षेमक अणुव्रत	६४	१७१९—१७८३
१८	सुनेत्र	३५	१७८३—१८१८
१९ २०	निवृत्ति एमन्	५८	१८१८—१८७६
२१ २२	त्रिनेत्र सुश्रम	३८	१८७६—१९१४
२३	द्युमत्सेन	४८	१९१४—१९६२
२४ २५	महीनेत्र सुमति	३३	१९६२—१९९५
२६ २७	सुचल शत्रुंजय द्वितीय	३२	१९९५—२०२७
२८	सुनीत	४०	२०२७—२०६७
२९ ३०	सत्यजित् सर्वजित्	८३	२०६७—२१५०
३१	विश्वजित्	३५	२१५०—२१८५
३२	रिपुंजय द्वितीय	५०	२१८५—२२३५

कुल १,००१ वर्ष; क० सं० १२३४ से २२३५ तक

प्रद्योतवंश

संख्या राजनाम	भुक्त-वर्ष	कलि-संवत्
१. प्रद्योत	२३	२२३५—२२५८
२. पालक	२४	२२५८—२२८२
३. विशाखयूप	५०	२२८२—२३३२
४. सूर्यक	२१	२३३२—२३५३
५. नन्दिवर्द्धन	२०	२३५३—२३७३

कुल १३८ वर्ष, क० सं० २२३५ से क० सं० २३७३ तक

शैशुनाग वंश

१. शिशुनाग	४०	२३७३—२४१३
२. काकवर्ण	२६	२४१३—२४३६
३. क्षेमधर्मन्	२०	२४३६—२४५६
४. क्षेमवित्	४०	२४५६—२४९६
५. बिम्बिसार	५१	२४९६—२५५०
६. अजातशत्रु	३२	२५५०—२५८२
७. दर्शक	३५	२५८२—२६१७
८. उदयिन्	१६	२६१७—२६३३
९. अनिरुद्ध	९	२६३३—२६४२
१०. मुण्ड	८	२६४२—२६५०
११. नन्दिवर्द्धन	४२	२६५०—२६९२
१२. महानन्दी	४३	२६९२—२७३५

कुल ३६२ वर्ष क० सं० २३७३ से क० सं० २७३५ तक

नन्दवंश

१. महापद्म	२८	२७३५—२७६३
२-९ सुकल्यादि	१२	२७६३—२७७५

कुल ४० वर्ष, क० सं० २३७३ से २७७५ तक

इस प्रकार बार्हद्रथवंश के ३२, प्रद्योत-वंश के पाँच, शैशुनागवंश के १२ और नन्दवंश के नवकुल ५८ राजाओं का काल १५४१ वर्ष होता है और प्रतिराज मध्यमान २६.६ वर्ष होता है।

१. यदि महाभारत युद्ध को हम कलि-पूर्व ३६ वर्ष मानें तो हमें इन राजाओं की वंश-तालिका विभिन्न प्रकार से तैयार करनी होगी। इस विस्तार के लिए 'मगध-राजवंश' देखें, साहित्य, पटना, १९५३ पृष्ठ ४६ त्रिवेद-लिखित।

परिशिष्ट—ङ

पुराणमुद्रा

पुराणमुद्राएँ हिमाचल से कन्या कुमारी तक तथा गंगा के मुहाने से लेकर सिस्तान तक मिलती हैं।[1] अंग्रेजी में इन्हें पञ्चमार्क बोलते हैं ; क्योंकि इनपर ठप्पा लगता था। ये पुराण-मुद्राएँ ही भारतवर्ष की प्राचीनतम प्रचलित मुद्राएँ थीं, इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं तथा यह पद्धति पूर्ण भारतीय थी। इन मुद्राओं पर किसी भी प्रकार का विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा है। बौद्ध जातकों में भी इन्हें पुराण कह कर निर्देश किया गया है। इससे सिद्ध है कि भगवान् बुद्ध के काल के पूर्व भी इनका प्रचलन था। चम्पारन जिले के लौरिया नन्दनगढ़ तथा कोयम्बटूर के पाण्डुकुलीश की खुदाई से भी ये पुराणमुद्राएँ मिली हैं जिनसे स्पष्ट है, कि भारतवर्ष में इनका प्रचलन बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। सर अलेकजेंडर कनिंगहम्[2] के मत में ये खृष्ट-पूर्व १००० वर्ष से प्रचलित होंगे।

पुराण-मुद्राओं पर अंकित चिह्नों के अध्ययन से यह तथ्य निकला है कि ये चिह्न मोहन-जो-दाडो की प्राप्त मुद्राओं की चिह्नों से बहुत-मिलती जुलती हैं। दोनों में बहुत समता है। संभव है सिन्धु-सभ्यता और रौप्य पुराण मुद्राओं के काल में कुछ विशेष संबन्ध जुट जाय।

चिह्न

सभी प्राङ्मौर्य पुराणों पर दो चिह्न अवश्य पाये जाते हैं—(क) तीन छत्रों का चिह्न एक वृत्त के चारों ओर तथा (ख) सूर्य का। इन दोनों चिह्नों के सिवा घट तथा षट्कोण या षडारचक्र भी पाये जाते हैं। इस प्रकार ये चार चिह्न छत्र, सूर्य, घट और षट्कोण प्रायेण सभी पुराणों पर अवश्य मिलते हैं। इनके सिवा एक पंचम चिह्न भी अवश्य मिलता है जो भिन्न प्रकार की विभिन्न मुद्राओं पर विभिन्न प्रकार का होता है। इन मुद्राओं के पट पर चिह्न रहता है या एक से लेकर १६ विभिन्न चिह्न होते हैं।

ये चित्त भाग पर पाँचों चिन्ह बहुत ही सौन्दर्य[4] के साथ रचित-खचित हैं। इनका कोई धार्मिक रहस्य प्रतीत नहीं होता। ये चिह्न प्रायेण पशु और वनस्पति-जगत् के हैं जिनका अभिप्राय हम अभी तक नहीं समझ सके हैं।

---

१. जर्नल बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १९१९ पृ० १६–७२ तथा ४६३–६४ वाल्स का लेख।

२. ऐंसियंट इण्डिया पृ० ४३।

३. जर्नल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, न्यूमिसमैटिक परिशिष्ट संख्या ४५ पृ० १–५१।

४. जान अलेन का प्राचीन भारत की मुद्रा-सूची, लन्दन, १९३६ भूमिका पृ० २१–२२।

पृष्ठ-भाग के चिह्न पुरोभाग की अपेक्षा बहुत छोटे हैं तथा प्रायेण जो चिह्न पृष्ठ पर हैं, वे पुरो-भाग पर नहीं पाये जाते और पुरोभाग के चिह्न पृष्ठ-भाग पर नहीं मिलते। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि चाँदी की इन पुराणमुद्राओं पर प्रसिद्ध भारतीय चिह्न—स्वस्तिक, त्रिशूल, नन्दिपद नहीं मिलते।

चिह्न का तात्पर्य

पहले लोग समझते थे कि ये चिह्न किसी बनिये द्वारा मारे गये मनमानी ठप्पे मात्र हैं। वालस नियत चिह्नों के विषय में सुझाव रखता है कि एक चिह्न राज्य (स्टेट) का है, एक शासनकर्त्ता राजा का, एक चिह्न उस स्थान का जहाँ मुद्रा तैयार हुई, तथा एक चिह्न अधिष्ठातृ देव का है। विभिन्न प्रकार का पंचम चिह्न संभवतः संघ का अंक है, जिसे संघाध्यक्ष अपने क्षेत्र में, प्रसार के समय, भंसार (चुंगी) के रूप में रुपये वसूल करने के लिए, तथा इनकी शुद्धता के फलस्वरूप अपने व्यवहार में लाता था। पृष्ठ-भाग के चिह्न अनियमित भले ही ज्ञात हों; किन्तु यह आभास होता है कि ये पृष्ठ-चिह्न यथासमय मुद्राधिपतियों के विभिन्न चिह्नों के ठोसपन और प्रचलन के प्रमाण हैं।

पाणिनि के अनुसार संघों के अंक और लक्षण प्रकट करने के लिए अन्, यन्, इन् में अन्त होनेवाली संज्ञाओं में अण् प्रत्यय लगता है।[1]

काशीप्रसाद जायसवाल के मत में ये लक्षण संस्कृत साहित्य के लाञ्छन हैं। कौटल्य का 'राजांक' शासक का वैयक्तिक लांछन या राजचिह्न ही है। जिस प्रकार प्रत्येक संघ का अपना अलग लांछन था, उसी प्रकार संघ के प्रमुख का भी अपने शासन-काल का विशेष लांछन था जो प्रमुख के बदलने के साथ बदला करता था। सम्भवतः यही कारण है कि इन पुराण-मुद्राओं पर इतने विभिन्न चिह्न मिलते हैं। हो सकता है कि पंचचिह्न मौर्यकालीन मेगास्थनीज कथित पांच बोर्ड (परिषदों) के द्योतक-चिह्न हों। क्या १६ चिह्न जो पृष्ठ पर मिलते हैं, षोडश महाजन पद के विभिन्न चिह्न हो सकते हैं ?

चिह्न-लिपि

शब्दकल्पद्रुम पांच प्रकार की लिपियों का उल्लेख करता है—मुद्रा (रहस्यमय),
१ शिल्प (व्यापार के लिए यथा महाजनी), लेखनी संभव (सुन्दर लेख), गुण्ड्क (शीघ्रलिपि या संकेतलिपि) तथा घुण (जो पढ़ा न जाय)। तंत्र ग्रन्थों के अनेक बीज मंत्रों को यदि अंकित किया जाय तो वे प्राचीन पुराणमुद्राओं की लिपि से मिलते दिखते हैं। साथ ही इन मुद्राओं के चिह्न सिन्धु-सभ्यता की प्राप्त मुद्रा के चिह्नों से भी हूबहू मिलते हैं। सिन्धु-सभ्यता का काल लोग कलियुग के प्रारंभ काल में खृष्ट-पूर्व ३००० वर्ष मानते हैं। वालस के मत में कुछ पुराणों का चिह्न प्राचीन ब्राह्मी अक्षर 'ग' से मिलता है तथा कुछ ब्राह्मी अक्षर 'त' से। जहाँ सूर्य और चन्द्र का संयोग है, वे ब्राह्मी अक्षर 'म' से भी मिलते हैं।

चिह्नों की व्याख्या

सूर्य-चिह्न के प्रायेण बारह किरणें हैं जो संभवतः द्वादशादित्य की बोधक हैं। कहीं-कहीं सोलह किरणें भी हैं जो सूर्य के षोडश कलाओं की द्योतक कही जा सकती हैं। संभव है, शून्य चिह्न परब्रह्म का और इसके अन्दर का विन्दु शिव का द्योतक हो। त्रिन्दु वृत्त के भीतर है और

---

1. सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् — पाणिनि ४-३-१२७।

वृत्त के चारों ओर किरण के चिह्न हैं जो कोटिचन्द्र प्रदीपक सिद्ध करते हैं और सूर्य का साक्षात् रूप हैं। सूर्य पराक्रम का द्योतक है।

सपत्र घट प्रायेण स्पष्टतः सभी पुराणमुद्राओं पर पाया जाता है। बिना मुख के एक चौकोर घट के ऊपर छः विन्दु पाये जाते हैं। वाल्स इसे गोमुख समझता है; किन्तु गोमुख के समान यह ऊपर की ओर पतला और नीचे की ओर मोटा नहीं है। अपितु इसमें दो प्रमुख कान नहीं हैं—यद्यपि दो आँख, दो नाक और दो कान के छः विन्दु हैं। यह तंत्रों का विन्दुमण्डल हो सकता है। विन्दुमण्डल अनन्त सनातन सुख-शांति का प्रतीक है।

दो समत्रिकोण एक दूसरे के साथ इस प्रकार अंकित पाये जाते हैं, जिन्हें षट्कोण कहते हैं। इसका प्रचार आजकल भी है और इसकी पूजा की जाती है। यह चिह्न प्राचीन क्रीट देश में भी मिलता है। आजकल भी तिब्बत और नेपाल की मुद्राओं पर यह चिह्न पाया जाता है। पुरोभाग के विभिन्न चिह्न संभवतः मुद्रा के प्रसार की तिथि के[1] सूचक हैं। ६० वर्षों का बृहस्पति चक्र आजकल भी प्रचलित है। प्रत्येक वर्ष का विभिन्न नाम है। ये पांच वर्ष के १२ युग ६० वर्ष पूरा कर देते हैं। ६० वर्ष के वर्षचक्र का प्रयोग अब भी चीन और तिब्बत में होता है। पांच वर्षों का सम्बन्ध पञ्चतत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) में प्रतीत होता है।

चाँदी के इन पुराणमुद्राओं पर पशुओं में हाथी का चिह्न प्रायेण मिलता है। वृष का चिन्ह कम मिलता है। माला पहने हुए गोमुख भी मिलता है। गोरखपुर से प्राप्त पुराणमुद्राओं के भण्डार में सिंह का भी चिह्न मिलता है। इनके सिवा नाग, अंड, कच्छप तथा साँढ़ के चिह्न भी इन मुद्राओं पर मिले हैं।

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त[2] प्राङ्मौर्य पुराण मुद्राओं को दो भागों में विभाजित करते हैं—(क) अति प्राचीन मुद्राएँ पशुचिह्नों से पहचाने जाते हैं तथा (ख) साधारण प्राङ्मौर्य कालीन मुद्राओं पर मेरुपर्वत के चिह्न मिलते हैं। अति प्राचीन पुराण मुद्राएँ पतली, आयत में बड़ी, वृत्ताकार या अण्डाकार या विभिन्न ज्यामिति के रूप हैं। इनका क्षेत्रफल एक इञ्च के बराबर है या ·६"×·७५" या ·७" इञ्च है। बाद के प्राङ्मौर्य पुराण-मुद्राएँ आकार में रेखागणित के चित्रों से अधिक मिलती-जुलती हैं। ये प्रायः वर्गाकार या आयताकार हैं। वृत्ताकार स्यात् ही हैं तथा अति प्राचीन प्राङ्मौर्य मुद्राओं की अपेक्षा मोटी हैं। इनका आकारप्रकार दशमलव ·६" से लेकर ·७५"×·४५" तथा ·६" इञ्च तक है।

मौर्य कालीन पुराण मुद्राओं पर विशेष चिह्न मेरु पर्वतपर चन्द्रविन्दु है। पत्रहा भण्डागार की पुराण मुद्राओं पर तीन मेहराबवाला, तीसरा चिह्न हैं तथा शश-चिह्न चतुर्थ है। संभवतः प्राङ्मौर्य और मौर्य काल के मध्य काल को ये चिह्न प्रकट करते हैं।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य पुराण-मुद्राएँ सुसज्जित खचित-रचित मुद्राओं की अपेक्षा प्राचीन हैं। कुछ लोग पहले मेरु को चैत्य या स्तूप समझते थे। गोरखपुर मुद्रागार से जो मुद्राएँ मिली हैं, उनमें सब पर षडारचक्र का चिह्न है। तिब्बती परम्परा भद्रकल्पद्रुम के अनुसार शिशुनाग को कालाशोक सहित सात पुत्र थे। शिशुनाग पहले सेनापति था। इसके निधन के बाद कालाशोक पाटलिपुत्र में राज्य करता था तथा इसके अन्य भाई

---

१. करेंट सायन्स; जुलाई १९४० पृ० ३१२।

२. जर्नल न्युमिसमैटिक सोसायटी, बम्बई भाग १३, पृ० ४३-४८।

उपराज के रूप में अन्यत्र काम करते थे। मध्य का छत्र चिह्न कालाशोक का द्योतक तथा शेष छत्र इसके भाइयों के प्रतीक हो सकते हैं। चमस के नीच मंत्री गंभीरशील के शिशुनागों द्वारा पराजित होने के बाद ही ऐसा हुआ होगा। यह सुझाव डाक्टर दुविमल चन्द्र सरकार ने प्रस्तुत किया है।

इतिहास हमें बतलाता है कि अजातशत्रु ने वज्जी संघ से अपनी रक्षा के लिए गंगा के दक्षिण तट पर पाटलिपुत्र नामक एक दुर्ग बनवाया था। राजा उदयी ने अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र बदल दी। अतः गोरखपुर के सिक्के दुर्गाप्रसाद के अनुसार शिशुनाग वंशी राजाओं के हैं।

महाभारत के अनुसार मगध के बार्हद्रथों का लांछन वृष[1] था, तथा शिशुनागों का राज चिह्न सिंह[2] था। अतः वृष चिह्नवाला सिक्का बार्हद्रथ वंश का है। गोरखपुर के सिक्के पटना शहर में पृथ्वी के गर्त से पन्द्रह फीट की गहराई से एक घड़े में निकले। यह घड़ा गंगा तट के पास ही था। इन सिक्कों में प्रतिशत चाँदी ८२, ताम्बा १५ और लौह ३ हैं। ये बहुत चमकीले, पतले आकार के हैं।

वैदिक संस्कृत साहित्य में हम प्रायः निष्क और दीनारों का उल्लेख पाते हैं; किन्तु हम ठीक नहीं कह सकते कि ये किस चीज के द्योतक हैं। प्रचलित मुद्राओं में कार्षापण या काहापन का उल्लेख है, जो पुराण-मुद्राएँ प्रतीत होती हैं। इनका प्रचलन इतना अधिक था कि काहापन कहने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती है; किन्तु जातकों में मुद्रा के लिए पुराण शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। संभवतः यह नाम, इसके प्रचलन रुक जाने के बाद, तत्कालीन नई मुद्राओं से विभेद प्रकट करने के लिए प्राचीन मुद्राओं को पुराण नाम से पुकारने लगे। ताम्बे के कार्षापण का भी उल्लेख मिलता है। चाँदी के १, ½ और ¼ कार्षापण होते थे और ताम्बे के १ और ½ माषक[4] होते थे। १६ माशे का एक कार्षापण होता था। सबसे छोटी मुद्रा काकिणी[5] कहलाती थी। इन सभी कार्षापणों की तौल ३२ रत्ती है। पण या धरण का मध्यमान ५२ ग्रेन है।

---

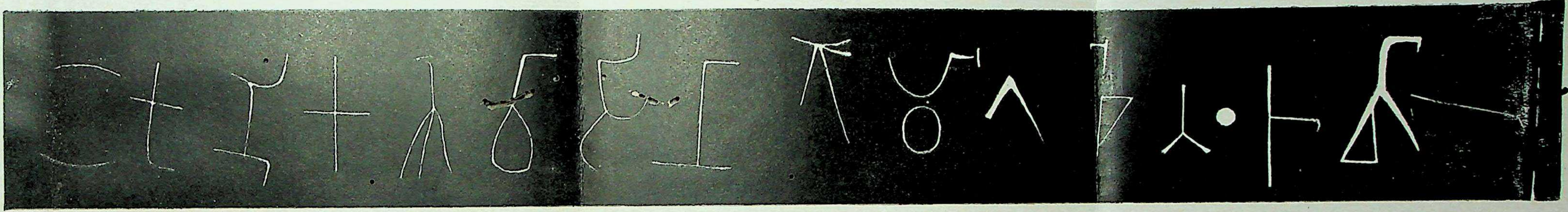
१. जर्नल वि० ओ० रि० सो० १९१९ पृ० ३६।

२. बुद्धचरित ६.२।

३. डाक्टर अनन्त सदाशिव अल्तेकर लिखित 'प्राचीन भारतीय मुद्रा का मूल और पूर्वेतिहास' जर्नल आफ न्यूमिसमैटिक सोसायटी आफ इण्डिया, बम्बई, भाग १ पृ० १—२६।

४. गंगमाला जातक।

५. चूलक सेठी जातक।



कुणिक शेवासि नागो मगधानं राजा

पृ० १०६

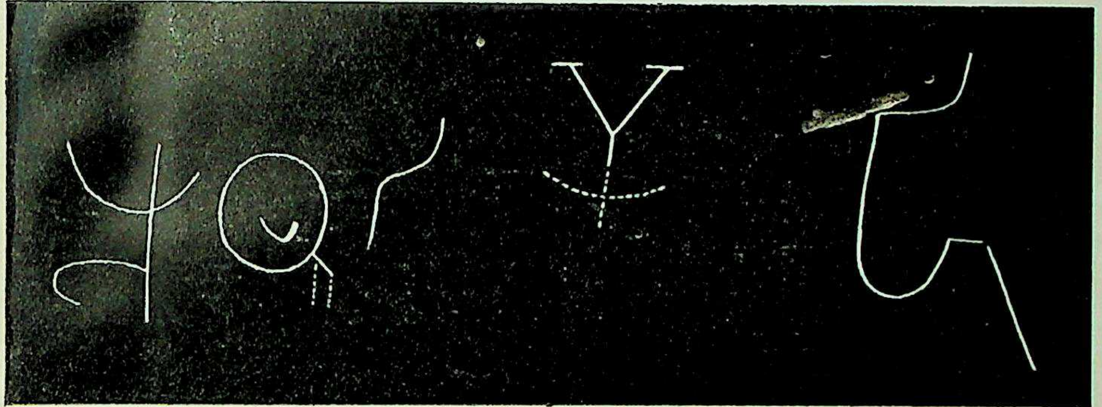


राजा अजातशत्रु की मूर्त्ति के वाम भाग पर अभिलेख
(बिहार-अनुसंधान-समिति के सौजन्य से)

पृ० १०६

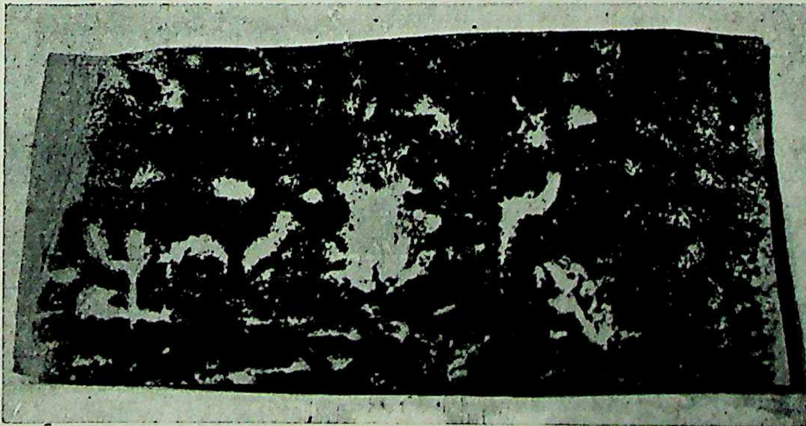


अजातशत्रु की मूर्त्ति
[पुरातत्त्व-विभाग के सौजन्य से]
पृ० १०६



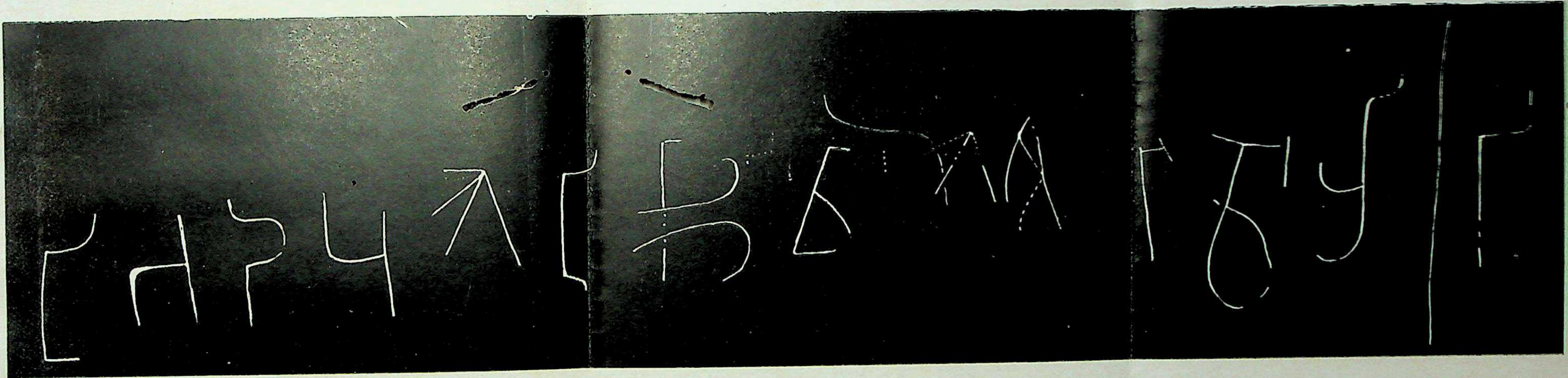
४ थू (= १०) ड (= १०) ४ हि (= ८) (= ३६)

पृ० १०६



राजा अजातशत्रु की मूर्त्ति के सम्मुख भाग का अभिलेख
(बिहार-अनुसंधान-समिति के सौजन्य से)

पृ० १०६



निभद प शेनि अजा शत्रु राजो (f) सरि

पृ० १०६



अजातशत्रु की मूर्त्ति के दक्षिण भाग पर अभिलेख
(बिहार-अनुसंधान-समिति के सौजन्य से)

पृ० १०६



राजा उदयी (पृष्ठभाग) राजा उदयी की मूर्त्ति (अग्रभाग)

[पुरातत्त्वविभाग के सौजन्य से]

पृ० ११२



राजा नन्दिवर्द्धन (पृष्ठभाग)

नन्दिवर्द्धन की मूर्त्ति (अग्रभाग)

[पुरातत्त्व-विभाग के सौजन्य से]

पृ० ११४



सप खते वट नंदि

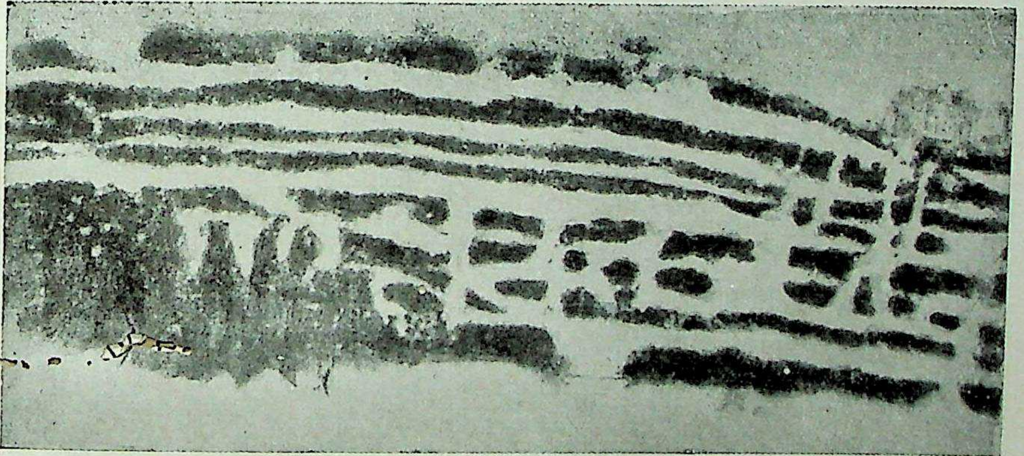
राजा नन्दिवर्द्धन की मूर्त्ति पर अभिलेख

(बिहार-अनुसंधान-समिति के सौजन्य से)

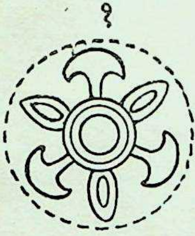
पृ० ११३

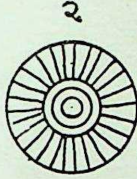


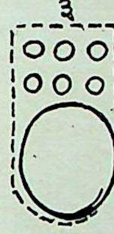
राजा उदयी की मूर्त्ति पर अभिलेख का चित्र
[पुरातत्त्व-विभाग के सौजन्य से]
पृ० ११८

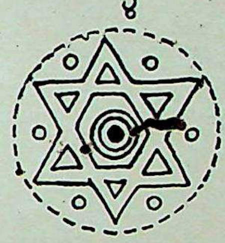


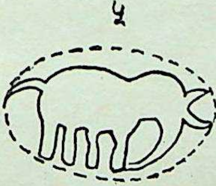
भगे अचो छोनीधीशे
राजा अज (उदयी) की मूर्त्ति पर अभिलेख [पुरातत्त्व-विभाग के सौजन्य से]
पृ० ११८

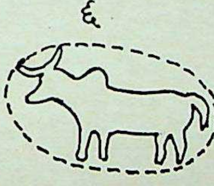






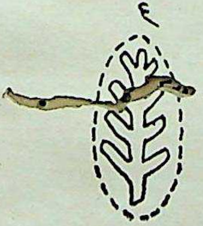


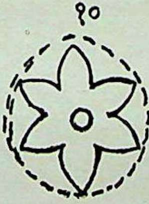




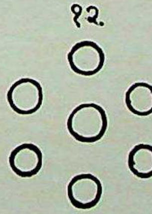


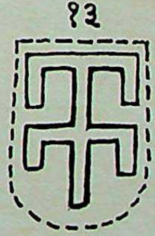


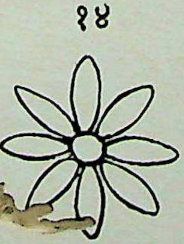


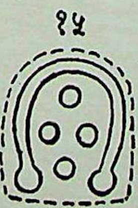




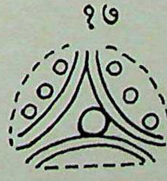






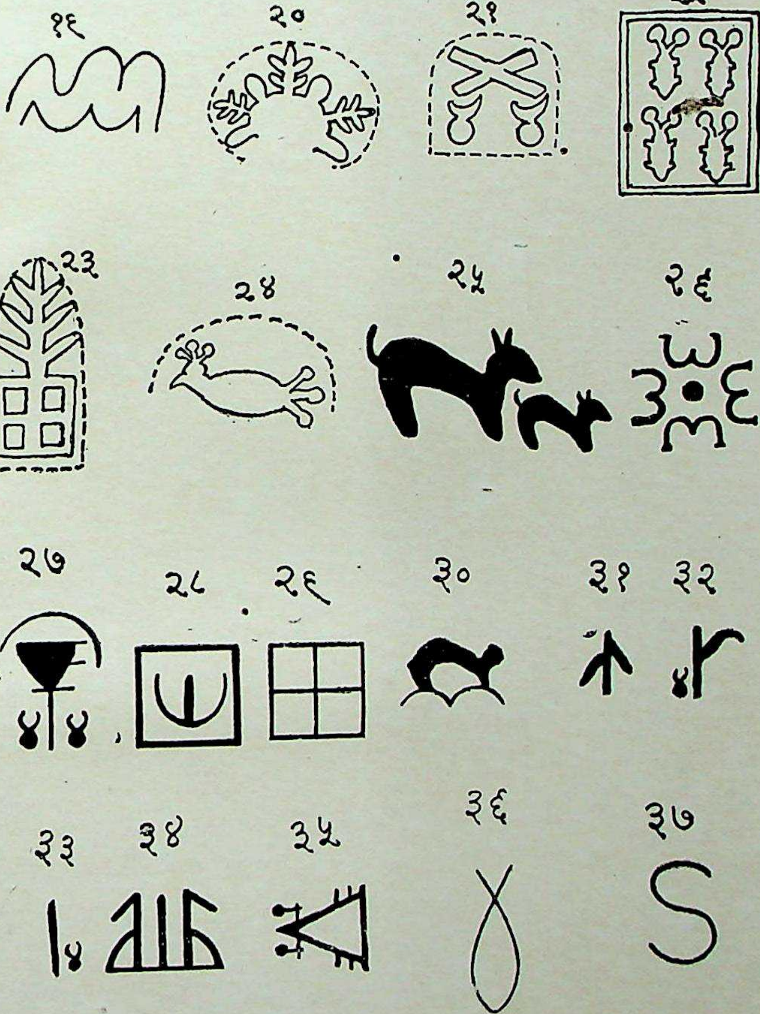




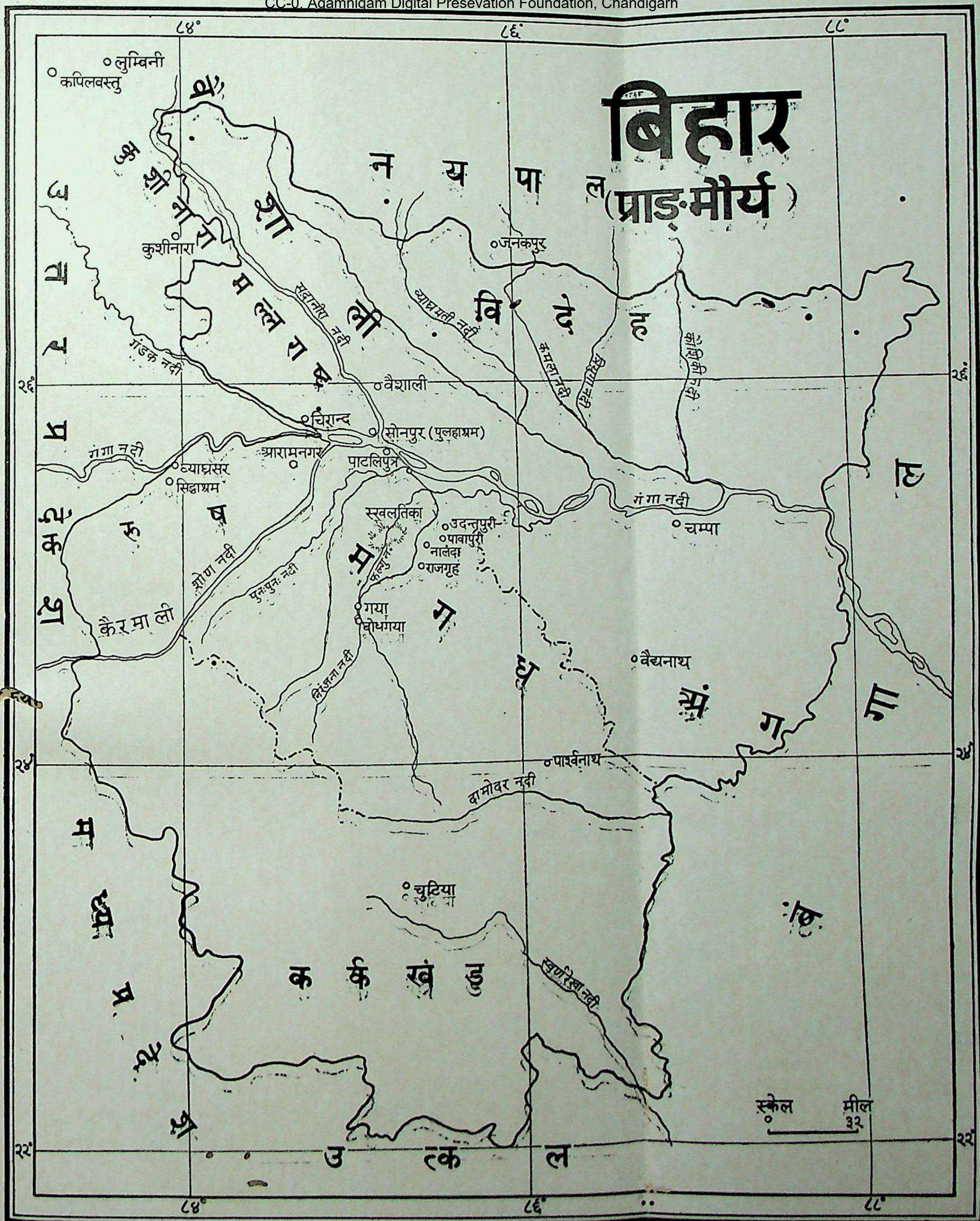




१. छत्र-चामर, २. सूर्य, ३. घट के ऊपर छः बिन्दु (संभवतः धनराशि या मेरु) ४. षट्कोण, ५. गज, ६. वृष, ७. कुकुर, ८. समाल गोमुख, ९. वृक्षस्कन्ध, १०. षड्दलकमल ११. षडारचक्र, १२. सप्तर्षि, १३. द्विकोष्ठ गोपुर, १४. अष्टदलकमल, १५. हयलक, १६. गोमुख, १७. सुवर्णराशि, १८. राजहंस।



१९. नदी, २०. पुष्पलता, २१. सदण्ड कमण्डलु द्वय, २२. चार मत्स्य २३. सवेदी वृक्ष, २४. गरुड या मयूर, २५. कृष्णमृग, २६. चार नन्दिपद, २७. ध्वज, २८. परशु, २९. चतुर्वर्ग, ३० शाखामृग, ३१. तो (ब्राह्मी लिपि में), ३२ सध्वजपताका, ३३. ध्वज-दण्ड, ३४. मन्दिर या चैत्य ३५. त्रिकोण, ३६. म (ब्राह्मी लिपि में), ३७. ली (ब्राह्मी लिपि में)।


बिहार
(प्राङ्मौर्य)
८४°
८६°
८८°
२६°
२४°
२२°
लुम्बिनी
कपिलवस्तु
न य पा ल
कुशीनारा
जनकपुर
वि दे ह
सदानीरा नदी
व्याघ्रमती नदी
कमला नदी
कौशिकी नदी
गंडक नदी
वैशाली
चिरान्द
सोनपुर (पुलहाश्रम)
आरामनगर
पाटलिपुत्र
गंगा नदी
व्याघ्रसर
सिद्धाश्रम
स्वलतिका
उदन्तपुरी
पावापुरी
नालंदा
राजगृह
चम्पा
शोण नदी
पुनःपुनः नदी
कैरमाली
गया
बोधगया
म ग ध
वैद्यनाथ
अं ग
पार्श्वनाथ
दामोदर नदी
चुटिया
क र्क खं ड
स्वर्णरेखा नदी
उ त्क ल
स्केल
मील
३२

अनुक्रमणिका

क

ख

ग

घ

च

छ

ज

परिषद्-प्रकाशनों पर सम्मतियाँ

सार्थवाह

"भारत के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ और
ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई, के अध्यक्ष
मोतीचन्द्रजी ने बड़ी खोज और लगन से प्र
भारत की पथ-पद्धति पर इस प्रामाणिक
की रचना की है। प्राचीन साहित्य के आ
पर आपने यह सिद्ध किया है कि भारती
न केवल जल और स्थल-मार्गों का ही
पता था; बल्कि अनेक कठिनाइयों के ब
इन मार्गों से भारतीय 'सार्थ' बराबर
रहते थे और उन्हीं के अदम्य उत्सा
कारण भारतीय संस्कृति का बृहत्तर भा
प्रचार हुआ। ××× ऐसा महत्त्वपूर्ण
लिखकर डॉ० मोतीचन्द्रजी ने और उसे प्रक
कर 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' ने राष्ट्रभार
महती सेवा की है। मूल्य ११)

—'नया समाज', क

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध

डॉ० वासुदेवशरणजी ने अपने 'हर्ष
में बाणकाल की सातवीं सदी का जैसा
अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत, अ
और हिन्दी ही नहीं, भारत की किसी भी
के लिए सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण
करनेवाला है। यदि इसी दृष्टिकोण से भ
पुरातन साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किय
तो साहित्य में नवीन क्रान्ति होगी।
विश्वास है, संस्कृत और हिन्दी के
इस 'हर्षचरित' को पढ़कर मुग्ध हुए बि
रहेंगे।" मूल्य ९॥)

—'विक्रम'

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् पट

हिन्दी-साहित्य-निधि के अनमोल रत्न

परिषद् के प्रकाशित नवीन ग्रन्थ

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल —मू० ३।)
लेखक—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी विश्वविद्यालय, काशी।

विश्वधर्म दर्शन —मू० १३॥)
• लेखक—श्री साँवलियाविहारीलाल वर्मा, एडवोकेट

यूरोपीय दर्शन —मू० ३।)
लेखक—स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा

सार्थवाह —मू० ११)
लेखक—प्रसिद्धपुरातत्त्वज्ञ डॉ० मोतीचन्द्र, अध्यक्ष, प्रिंस ऑफ वेलस म्युजियम, बंबई

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन —मू० ६॥)
लेखक—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय, काशी

वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा —मू० ८)
लेखक—डॉ० सत्यप्रकाश, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग

सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन —मू० १४)
लेखक—सन्त-साहित्य-मर्मज्ञ, डा० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री, पी-एच० डी०

गुप्तकालीन मुद्राएँ —मू० ६॥)
लेखक—डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर,
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति-विभाग,
पटना-विश्वविद्यालय, पटना

काव्य-मीमांसा (राजशेखर-विरचिता) —मू० ६॥)
अनुवादक—पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत, 'सुप्रभातम्'—सम्पादक, काशी

प्राङ् मौर्य-बिहार —मू० ७।)
लेखक—डा० देवसहाय त्रिवेद, पी-एच० डी०

श्रीरामावतारशर्मा-निबन्धावली —मू० ८।।।)
लेखक—स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३